आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

हिन्दी कृष्ण-काव्य में माधुर्योपासना

डॉ० श्याम नारायण पाण्डेय
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
डी० बी० एस० कालेज, कानपुर

रामा प्रकाशन
नजीराबाद, लखनऊ

HINDI KRISHNA KAVYA MEN MADHURYOPASANA

Dr Shyam Narain Pande

Price Rs. 15-00 only

NOV 1

- प्रकाशक :: रामा प्रकाशन
  अमीनाबाद लखनऊ
- मुद्रक बनारसी दास मेहरोत्रा
  रामा प्रेस : लखनऊ
- मूल्य :: पन्द्रह रुपये मात्र

भूमिका

मैंने श्री डॉ॰ श्याम नारायण पाण्डेय के 'हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना' नामक ग्रन्थ को देखा। यह ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय में एक अनुसन्धान प्रबन्ध रूप में स्वीकृत हुआ था। इस पर तीन विद्वानों के परीक्षण की छाप लगी है। इसलिए यह ग्रन्थ विशिष्ट महत्त्व का है। मुझे यह कहते हुए संकोच नहीं होता कि कृष्णभक्ति परक ग्रन्थ हिन्दी में प्रथम बार इन पंक्तियों के लेखक ने ही अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय रूप में लिखा था जिसमें कृष्ण भक्ति के मुख्य सम्प्रदायों का विवरण दिया गया है और जिसमें भक्ति के चार भाव दास्य, सख्य, माधुर्य तथा वात्सल्य का विवेचन है। इस ग्रन्थ के पश्चात् हिन्दी में भक्ति संबंधी और भी ग्रन्थ लिखे गये जिनमें कृष्ण भक्ति के रसिक सम्प्रदायों का भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। शोध प्रबन्ध रूप में भी वल्लभ संप्रदाय के बाद अन्य कृष्णपूजक सम्प्रदायों का भी अध्ययन हुआ। सूरदास परमानन्द दास आदि भक्तों के स्वतन्त्र अध्ययनों में भी शृंगार रस और रति भाव का लौकिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से हिन्दी में अध्ययन हुआ है। परन्तु संस्कृत ग्रन्थ उज्ज्वल नीलमणि तथा हरिभक्तिरसामृतसिंधु जैसे ग्रन्थों के अनुरूप हिन्दी भक्तों के आधार से मधुर भाव का शास्त्रीय विवेचन सविस्तार नहीं हुआ था और न यह विषय हिन्दी भक्ति साहित्य का आधार लेकर अनुसन्धान का ही विषय बना था। अब डॉ॰ श्याम नारायण पाण्डेय जी ने इस विषय पर यह शोधप्रबन्ध लिखकर उक्त कमी की अधिकांश में पूर्ति की है। इस ग्रन्थ की विशेषता इस बात में और भी है कि इसमें माधुर्यभाव के विविध रूपों का सैद्धान्तिक विवेचन है और कुञ्ज-विहार लीलाओं का विवरण मधुरभाव की दृष्टि से किया गया है। इस ग्रन्थ में तुलनात्मक ढंग से भी इस भाव का वर्णन है। सहजिया सम्प्रदाय की रस-साधना के संकेत भी इस अध्ययन में हैं।

जिस प्रकार डा० भगवती प्रसाद सिंह का 'राममक्ति में रसिक सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ एक उच्चकोटि का शोधप्रबन्ध है उसी प्रकार डॉ० पाण्डेय का प्रस्तुत ग्रन्थ अपने विषय का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन के लिए मैं उन्हें बधाई देता हूँ। अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय ग्रन्थ लिखते समय हिन्दी अथवा अंग्रेजी में दो चार साधारण अंग्रेजी के निबन्धों को छोड़कर कृष्णभक्ति के संप्रदायों के विवरण और उनकी उपासना प्रणाली के परिचयात्मक वर्णनों का कोई ग्रन्थ लेखक के समक्ष उपलब्ध नहीं था। यहाँ तक कि सूरसागर और नन्ददास के तीन-चार ग्रन्थों के अतिरिक्त अष्टछाप कवियों की रचनाएं भी उपलब्ध नहीं थीं। उस समय अनुसन्धान की वे सुविधाएं भी न थीं जो आज उपलब्ध हैं। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आज हिन्दी में अनुसन्धान की सुविधाएं और विविध विषयों के विद्वान मार्गदर्शक के रूप में सुलभ हैं। भविष्य में डॉ० पाण्डेय की लेखनी से और भी अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों का प्रणयन होगा, ऐसी मेरी मंगल कामना है।

(दीन दयालु गुप्त)

दिनांक लखनऊ-नवम्बर २, १९५५

डॉ० दीन दयालु गुप्त,
एम० ए०, एल-एल० बी० डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी तथा
आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
डीन, फैकल्टी आव् आर्ट्स,
लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, तथा
अध्यक्ष हिन्दी-समिति, उत्तर प्रदेश सरकार

समर्पण

प्रातः स्मरणीय पूज्य चरण माता पिता

की पुण्य स्मृति में श्रद्धेय अग्रज



पं० राधेश्याम जी पाण्डेय के

कर-कमलों में सादर

विषय-सूची

प्राक्कथन

अपने हृदय में आनंदानुभूति का सुख लेते हुए इस विशाल विश्व के समस्त मुमुक्षु-जन उस रस स्वरूप में तन्मय हो जाना चाहते हैं। यह अनुभूति संसार की क्षणभंगुर वासनाओं में प्राप्त नहीं होती। वह तो भगवत् प्रेम की मधुर तरंगों के थपेड़े खाकर ही मिलती है। इसे प्राप्त करने के हेतु साधक को सर्व प्रकार से त्यागी बन जाना पड़ता है। बिना सर्वस्व त्याग के प्रेम के उस अद्भुत क्षेत्र में प्रवेश पाना नितांत रूप से असंभव है, जहाँ नित्य राधा-माधव-युगल रस वर्षा करते रहते हैं। मधुर रस के साधकों ने इस रस तत्व को पाने के लिये अपना जीवन ही परिवर्तित कर दिया था और राधा को प्राणस्वरूप मानते हुये प्राणनाथ प्रभु श्रीकृष्ण का संयोग प्राप्त किया था।

वैष्णव भक्तों की उपासना प्रणाली का यह सरसरूप माधुर्य भक्ति में पूर्ण रूप से विकसित हुआ और हरिभक्तों ने अपने आराध्यदेव मोहन-मोहिनी की ललित लीलाओं के दर्शन को ही अपना कर्म-धर्म समझते हुये रास-रस तथा कुंज-रस का आनंद प्राप्त किया। इन साधकों की यह मान्यता है कि राधा-कृष्ण की इन सरस लीलाओं की अनुभूति उसी को होती है जो पुरुष भाव का सर्वथा त्याग कर गोपीभाव, सखीभाव अथवा राधा भाव, को अपने हृदय में धारण कर लेता है। मधुर रस की साधना का यही आधार है और इसकी चरम परिणति राधा भाव में ही है।

मधुर उपासना की प्रारम्भिक स्थिति में साधक यह समझता है कि विश्व की सृष्टि, पोषण तथा विनाश के एकमात्र कारण हैं—ब्रज के देवता श्रीकृष्ण। निरंतर इन्हीं के रूप और गुण का साक्षात्कार मोक्ष है। बिना इनके न कोई घर है और न अघर। ये सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ हैं। वेदों से वेद्य, कारुण्य से युक्त तथा परमानंद से पूर्ण इनका विग्रह है।

माधुर्यमण्डित श्रीकृष्ण का यह मनोरम रूप जब आह्लादिनी शक्ति-रूपा राधा के साथ होता है तभी उनका रसत्व, मधुरत्व सगुणत्व तथा शिवत्व सार्थक होता है। सहस्रों सखियों से परिसेवित यह राधा श्रीकृष्ण की नित्य प्रियतमा के रूप में रसिक संप्रदायों में विख्यात हैं। गोविन्द के वामाङ्ग में शोभायमान इनका रूप तथा गुण अपने प्रियतम के ही समान है। यह ही राधिका रसिक उपासकों की मान्यता में अपने प्यारे कृष्ण के विग्रह के अनुसार लक्ष्मी, सीता रुक्मिणी आदि का रूप धारण कर उनके साथ रहती हैं। अपने नित्य सौन्दर्य-माधुर्य गुणों के कारण व परमवती हैं। क्रीड़ा में कुशल तथा विभिन्न व्यवहारों में दक्ष वे देवी देवों की भी पूज्य हैं। यदि श्रीकृष्ण वाणी हैं तो राधा नीति; यदि श्रीकृष्ण बोधस्वरूप हैं तो राधा साक्षात् बुद्धि, यदि श्रीकृष्ण धर्म हैं तो राधा क्रिया—इस प्रकार दोनों का संयोग नित्य है। वृन्दावन की गोपियों में शिरोमणि ये ही श्रीराधा मधुररस की मूर्ति हैं। प्रेम की चरम सीमा लावण्य का अगाध सागर तथा महाभाव की मूर्तिमान झाँकी श्रुतियों के अनुसार उनमें विद्यमान है। इन संप्रदायों के अनुयायियों की धारणा है कि राधा के नित्य स्मरण से दुर्लभ प्रीति भी उपलब्ध हो जाती है। इसके साथ ही श्रीकृष्ण की कृपा भी प्राप्त हो जाती है। इस कृपा का परिणाम है मोक्ष।

इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त करना ही तो उपासना का लक्ष्य है। आराध्य का अनुग्रह जैसे-जैसे आराधक पर बढ़ता है वैसे-वैसे ही यह सान्निध्य भी नित्य हो जाता है। इस नित्य सामीप्य से भक्त जनों को चारों पुरुषार्थ—अर्थ काम, धर्म तथा मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु की यह कृपा रसियों के अनुसार साधक के अज्ञानरूपी तम को नष्ट कर उसकी बुद्धि को नित्य तेज से प्रकाशमान कर देती है। वेदान्त में जो स्थिति 'भूमा' की है भक्ति में वही स्थिति मोक्ष की है। यहाँ पर तो राधा-कृष्ण का नित्य सामीप्य ही मोक्ष है। अमृतमय इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद उपासक को फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। भगवान के अनुग्रह से भक्त सर्वज्ञ आप्तकाम तथा ध्रुवा स्मृति से परिपूर्ण हो जाता है। निःसंदेह इस स्थिति में भक्त की अनन्यता और प्रपन्नता देखने योग्य होती है। भगवान के अनुग्रह पर आश्रित भक्त की प्रभु के सिवा न कोई गति होती है और न कोई

आश्रय। वह एकमात्र उनके प्रति प्रपन्न हो जाता है। यह प्रपन्नता ही उस पर हुए इष्ट-अनुग्रह का प्रमाण है। ब्रह्मा शिव आदि से वन्दित आराध्यदेव के चरण-कमल नित्य उसके हृदय में विराजते हैं। मधुररस की उपासना प्रणाली में इस अनन्यता को सर्वोपरि माना गया है। आराधना करने वाले की इच्छानुसार अपने अनित्य रूप को प्रकट करने वाले रस रूप राधा-कृष्ण इन्हीं रसिकों के हित देवता हैं। इनके प्रति होने वाली उनकी अनन्यता में उतनी ही दृढ़ता थी, जितनी किसी पतिव्रता पत्नी की अपने पति में होती है। इस अनन्यता से पत्नी सदा के लिये पति की हो जाती है। भगवान की कृपा से प्राप्त होने वाली इस अनन्यता के द्वारा सदा के लिये उनका हो जाना ही—मोक्ष है॥

भक्ति रस—

समस्त प्रकार के सुखों का परित्याग करते हुये अनन्यभाव से भगवान की सेवा करना ही भक्ति है। पुराणों में भज् (सेवार्थक) धातु से भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस भक्ति में न कोई कामना होती है और न अहम्। इसके दो प्रकार हैं—साधनरूपा और साध्यरूपा। प्रभु की कृपा या अनुग्रह के बिना दोनों में कोई भी सार्थक नहीं होती। साध्यरूपा भक्ति परम प्रेम से परिपूर्ण तथा सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। रसोपासकों के हेतु इसे ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। प्रेम के समस्त लक्षणों से युक्त यह भक्ति ही रस है। इस भक्ति के अवलम्ब से इष्टदेव के नित्य संयोग से उत्पन्न उज्ज्वलरस की अनुभूति रसिक जनों को होती है। रसरूप होने के कारण ही भक्ति रस है। अपने समस्त लक्षणों तथा अंगों से पुष्ट होकर यही भक्ति मधुर रसरूप से आस्वादित होती है और चित्त को द्रवित कर देती है। वैष्णवाचार्यों ने आचार्य निम्बार्क के उपरांत इसी रसधारा में प्रबल वेग उत्पन्न कर दिया था। जहाँ तक शृंगार के रसराजत्व का प्रश्न है वहाँ मधुर रस रूप ही सार्थक होता है। समस्त रसों की भाँति यह उज्ज्वलरस भी विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों से पुष्ट है। रस के इस अलौकिक रूप का प्रकाश नित्य निर्मल तथा भागवती रति से सम्पन्न रहता है। लौकिक काम से रहित प्रेम ही इस रस में मूर्तिमान होता है, तभी तो निम्बार्क आदि रसिक भक्तों ने मधुररस की अपूर्व साधना के उत्कर्ष का वर्णन किया है।

मधुररस का उत्कर्ष

शृंगार ही रसराज है। यह जब स्थूल से सूक्ष्म तथा लौकिक से अलौकिक हो जाता है तब इसे मधुर रस की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसी को गुप्त पवित्र श्रीरस तथा उज्ज्वल रस भी कहते हैं। जिस प्रकार भट्ट लिल्लट आदि रसों में सुमधुरता को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है, उसी प्रकार शांत आदि सभी रसों में शृंगार को ही रसराज माना है। शृंग मन्मथ के उद्रेक को कहते हैं और इस शृंग के आग मन का विधायक तथा उत्तम प्रकृति से सम्पन्न रस शृंगाररस नाम से विख्यात है।[1] परमानन्द से परिपूर्ण, इष्टगुण से युक्त तथा ऋतु माल्यादि के धारण करने वाले, रमायुक्त श्रीकृष्ण को शृंगार कहते हैं।[2] रसोवैस इस युग्म का सिद्धरूप है। इसी सिद्धरूप से समस्त रसों का प्राकट्य और लय ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार जल समुद्र से निकल कर मेघ सर सरिता आदि रूप से पुन समुद्र में लय को प्राप्त होता है।

ऋतु माल्यादि अनंत रसों से प्रियजन, गन्धर्व तथा काव्य आदि की सेवा से एवं उपवन में गमन और विहार आदि से रसराज शृंगार प्रकट होता है।[3] जहाँ तक इसके अनुभव का प्रश्न है वह तो युगल रूप में ही होता है। नाट्यशास्त्र में इसीलिये "युग्मरूप पुरुषोत्तम को शृंगार रस रूप माना गया है उनको ही शृंगार रस भी कहते हैं और उनको ही उसका अधिष्ठाता भी। इस दृष्टि से यह रसराज शाश्वत

---

१ शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तम प्रकृति प्रायो रस शृंगार उच्यते ।१८।
—पु० त० स रसमूल पृ २४९

२ सुख प्रायष्ट सम्पन्न ऋतुमाल्यादि सेवकः
पुरुष प्रमदायुक्त शृंगार इति संज्ञित ॥१॥ } नाट्यशास्त्र अ० ६
टि० — यहाँ पुरुष से तात्पर्य है कृष्ण
प्रमदा से तात्पर्य है—रमा या राधा

३ ऋतुमाल्यालंकार प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवन गमन विहार शृंगार रसः समुद्भवति ॥२॥
—भरतकृत नाट्यशास्त्र, अ० ६

स्वयं प्रकाश, अमृत स्वरूप, परमानंदमय तथा विलक्षण चमत्कार से अनुप्राणित है। आह्लाद इसी रसराज का जीवन है।

प्राकृत तथा अप्राकृत रूप से रसराज शृङ्गार के दो विभाग हैं। सर्वानन्द का आदि कारण, सर्वानन्द स्वरूप, स्वप्रकाशपूर्ण, सम्यग्स्वरूप चेतनमय तथा परमा ह्लादक सुख ही अप्राकृत अलौकिक शृंगार रस नाम से कहा जाता है। "इस अप्राकृत रस को अधिष्ठेय (आश्रित) तथा निराकार भी कहते हैं। इसके विपरीत प्राकृत रस को अधिष्ठातृ (आश्रय) तथा नराकार कहा गया है। जैसे पृथ्वी-अप-तेज-वायु के दो रूप होते हैं, उसी प्रकार रस के भी दो रूप माने गये हैं।[१] अधिष्ठेय-अप्राकृत तथा निराकार रस ही कर्मात्मक है। इसका केवल अनुभव होता है। काव्यार्थ की भावना के द्वारा सत्वोद्रेक से उत्पन्न जो बुद्धि है, उस बुद्धि के व्यापार से यह रस अनुभूत होता है। अधिष्ठातृ-प्राकृत तथा नराकार रस कारणात्मक होता है। यह पुरुषोत्तम रूप है। एक मात्र प्रेमी वैष्णव जनों द्वारा भोग्य यह रस पुरुष, आनन्दमय तथा भूमा शब्द से भी कहा गया है। यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय, तो परिणाम में विकारोत्पादक तथा अन्त में वैरभाव से यह प्राकृत शृङ्गार हेय (त्याज्य) है। मुनि वर्ग तो प्राकृत आनन्द तक को त्याज्य मानता है, किन्तु इतने पर भी जो भूमा है—वह त्याज्य नहीं हो सकता। जिस प्रकार भूमा को अमृत कहा गया है उसी प्रकार श्रीश शृंगार (मधुर रस) को परम निर्विकार, आनन्दमय, नित्यनूतन विग्रह, माधुर्य-सौन्दर्य रूपी अमृत का सागर, वेदान्त से संवेद्य तथा परमफल स्वीकार किया गया है। यह भूमा-प्राकृत शृङ्गाररस प्रेम सौन्दर्य तथा सद्‌गुण युक्त होने से, लक्ष्मी नाम से, समस्त प्राणियों में रमण करने के कारण रमा नाम से, सौन्दर्य का बीज होने से श्री नाम से, सथवा अपनी आत्मा के आराधन के कारण राधा नाम से तथा अनन्त विचित्र भङ्ग वाले रसाङ्गों के समूहीकरण से नित्य वृन्दावन स्थित 'रास' नाम से कहा जाता है।

---

१ अधिष्ठेय तु तद्रूपं निराकारमथिमृतम्।
अधिष्ठातृ तद्रूपं नराकारं तु तच्छ्रुतम् ॥२०॥
तिरश्चेऽोऽनिलादीनां द्विरूपत्वं यथा मतम्।
द्विरूपत्वं रसस्यापि चैव तद्वत्सुनिर्धितम् ॥२१॥
—शु० र० स० पृ० २३१ पर उद्धृत

ऊपर कहा जा चुका है कि पुरुषोत्तम और राधा-युग्म ही रस है। इनका दाम्पत्य नित्य और अखंड है तथा प्रगाढ़ प्रेम की अनन्यता से प्रेमामृत का पान ही रसास्वादन है। इस रसरूप युग्म में रसरूपता भी है और रतिरूपता भी। राधा कृष्ण-युगल का आनन्द स्वरूप ही पान करने योग्य रसत्व है और आनन्दस्वरूप हो ध्यान करने योग्य रतिरूप है। अन्य सुखों के निरोध करने वाले राग से राधा कृष्ण के परिशीलन को पान कहते हैं और बुद्धि-विवेक के द्वारा उनके परिशीलन को ध्यान कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहाँ युग्म में रसत्व तथा रसिकत्व दोनों विद्यमान हैं। रसिकत्व आत्मांश में विद्यमान है और रसत्व विग्रहांश में। *आत्मा के गुण रसिकत्व के अंग हैं और विग्रहांश के गुण रसत्व के गुण हैं।* विग्रह अंश से उनमें भोग्यत्व है और आत्मांश से भोक्तृत्व है। इस प्रकार आत्मांश तथा विग्रहांश की दृष्टि से दोनों भोग्य तथा दोनों भोक्ता हैं। आत्मा तथा विग्रह में यद्यपि कोई भेद नहीं है तथापि ज्ञानप्रवेश के लिये दोनों में भेद मान लिया गया है। रस के भोग्यत्व का जहाँ तक प्रश्न है वह रस के स्वगत होने पर अधिक पाया जाता है और रसाश्रय के परनिष्ठ होने पर भोक्तृत्व की मात्रा अधिक हो जाती है। रस के स्वभाव के अनुसार कभी भोग्य भाव की तथा कभी भोक्ता भाव की इस प्रकार अधिक कमनीयता दृष्टिगोचर होती है। शृङ्गार रस में श्रीकृष्ण के रसिकत्व के लिये यदि कभी राधा रसस्वरूप होती है तो कभी राधा के रसिकत्व के लिये श्रीकृष्ण रसस्वरूप हो जाते हैं। इनके उपासक रसिकों के लिये तो दोनों में ही रसरूपता रहती है।

जिस रसराज शृङ्गार के उत्कर्ष रूप मधुररस का वर्णन यहाँ किया जा रहा है वह रस अपनी उत्कर्षता के कारण राधाकृष्ण के अनुरूप प्रेमानंद स्वरूप सखियों या सखीजनों के द्वारा नित्य आस्वाद्य है। ये सखीजन नित्यमुक्त साधनपरायण अनन्यशरण शुद्ध तथा राधा-कृष्ण को ही अपना जीवनाधार मानते हैं। युग्मस्वरूप रस तथा रसिकत्व का अनुभव उन्हीं सखियों के द्वारा मर्दन होता है। सखियाँ का श्री के साथ तादात्म्य होने से उनमें रसत्व सम्भव होता है और इस तादात्म्य के अभाव में उनका रसिकत्व मर्दन ही प्रकट होता है। युग्मरूप रस का रसत्व सभी से अनुभूत होता है, किन्तु युग्मरूप का रसिकत्व विशेषत सखीजनों

के द्वारा ही आस्वादित है। सर्वप्रकार से सखीजनों को इस रस का सम्भोग होता है। शांत, दास आदि भाव वाले अन्य जनों को अज्ञात ही इसका भोग प्राप्त होता है। कहा जा चुका है कि पुरुष रूप से प्रवेश न होने के कारण युग्मरस का भोग पुरुषों के लिए व्यवधान युक्त होता है, इसीलिए रासलीला में सखीभाव या कान्ता भाव की मुख्यता रहती है। रासलीला से यहाँ मेरा अभिप्राय कृष्ण-लीला से ही है।

अवस्था की दृष्टि से सखियों में दो भेद हैं यथा प्रेयसी और सखी। जब श्रीकृष्ण साक्षात् कामदेवरूप में अनुभूत होते हैं तब सखीजनों में प्रेयसीभाव की मुख्यता होती है और जब रसरूप से युग्मरूप का आस्वादन अनुभूत होता है तब सखियों में सखीभाव की प्रधानता रहती है। कामभाव में तो स्पर्शेन्द्रिय की प्रधानता रहती है और रसभाव में समस्त इन्द्रियों की समानता का अनुभव होता है। श्रीकृष्ण के मन्मथ रूप में सखियों को प्रियतम भगवान के संग से रसानंद अधिक होता है और भगवान के रसरूपत्व में उन सखियों को युग्मसेवा से रसानंद अधिक होता है। भगवान कृष्ण के मन्मथ रूप में धातु को विकृत करने वाला लौकिक काम नहीं होता। वे तो स्वत निर्विकार सुखात्मक काम हैं। निर्दिष्ट इन्द्रियों का सम्भोग यहाँ आवश्यक नहीं होता। सर्व अंगों को सर्वकार्य करने की योग्यता एवं क्षमता यहाँ होती है। अभिप्राय यह कि श्रीकृष्ण के समस्त अंग समस्त इन्द्रियों के व्यापार की शक्ति रखते हैं। अपनी किसी भी इन्द्रिय से वे दर्शन पोषण, रक्षा, स्पर्श आदि का कार्य संपन्न करने में पूर्ण समर्थ हैं। रस का परम उत्कर्ष इसीलिये इनमें दृष्टिगोचर होता है।

शृङ्गार रस जब अपने अलौकिक रूप (मधुररस) में प्रस्फुटित होता है, तब भी उसमें स्थायी भाव रूप रागवती रति विद्यमान रहती है। अपनी उज्ज्वलता से ही यह रस सुशोभित होता है। संसार में जो भी पवित्र निर्मल, उज्ज्वल तथा दर्शनीय है उसकी उपमा शृङ्गार से दी जा सकती है उज्ज्वलता ही इस शृंगार का वेश है। जैसे गोत्र, कुल, आचार के अनुसार आप्तजनों के उपदेश के द्वारा पुरुषों के नाम होते हैं उसी प्रकार यह शृंगार रस आचार सिद्ध, मनोहर तथा उज्ज्वल वेश से युक्त है। उत्तम प्रकृति वाले युवा-युवती राधा-कृष्ण इस शृंगार के कारण हैं। "यह शृंगार सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेद से

दो प्रकार का होता है। ऋतु माल्यादि, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजन विषयक श्रेष्ठ भवन-उपभोग, उपवन-गमन, श्रवण क्रीडा-लीला आदि विभावों से युवा-युवती में संभोग उत्पन्न होता है। इस शृंगार में नयनचातुरी भ्रूविक्षेप कटाक्ष-संचार ललित मधुर अंग, हाव, वाक्यादि रूप अनुभाव होते हैं।[1] ' दम्पति के आलम्बन होने पर ही रसज्ञों के द्वारा इस शृंगार का वर्णन किया गया है। इस शृंगार रस की उत्कर्षता का एकमात्र कारण है–राधा-कृष्ण का नित्य दाम्पत्य। इन दोनों की सर्वगुण-सम्पन्नता से ही यह रस पुष्ट है। समस्त इन्द्रियों के साथ यदि मन का संयोग होता है तो रसास्वाद या रसानुभव अवश्य होता है। विप्रलम्भ में केवल हृदय के प्रवेश से ही रसानुभव होता है। सिद्धांत रूप से सम्भोग रस अंगी है और विप्रलम्भ अंग परिपूर्णानंद संभोग में ही सम्भव है विप्रलम्भ में नहीं। विप्रलम्भ में किंचितानंद सम्भोग दृष्टिगोचर होता है। सम्भोग में मन तथा समस्त इन्द्रियों से तृप्ति होती है और वियोग में केवल हृदय या मन से ही तृप्ति होती है। शृंगार के उत्कृष्ट रूप मधुर भक्ति रस की इसी उपासना से राधाकृष्ण की प्रेमलीला या रसलीला का रस रसिक को अनुभूत होता है। ये राधाकृष्ण उपासक की दृष्टि में हैं—

सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन विलसत धाम।
श्रीहरिप्रिया निरन्तर नितप्रति कामरूप अद्भुत अभिराम ॥२६॥

—महावाणी सि० सु०

आह्लाद और आनन्द रूप राधा-कृष्ण की ही मधुर भक्ति का उपदेश सम्मोहन तंत्र में भगवान शिव ने भी दिया है।

अभी तक जो भी कुछ कार्य कृष्ण भक्ति के सम्बन्ध में शोधकर्ताओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया है उसमें कृष्ण की बाल-लीलाओं का पर्याप्त

---

१ 'तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमन-अनुभवनश्रवण क्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्यनयनचातुरीभ्रूविक्षेप कटाक्षसंचारललितमधुरांग हाव वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

—भरत-नाट्यशास्त्र, अ० ६ पृ० ५६१

माला में निरूपण है, साथ ही रासलीला के भी चित्र उपस्थित किये गये हैं। इतना सब होते हुए भी राधाकृष्ण-युगल के उस रूप का दर्शन शोध का विषय न बन सका, जो यमुना के सुन्दर पुलिन पर स्थित कुंजों के मध्य रसोपासना की व्यापकता का प्रतिपादन करते हुये प्रकट हुआ था। सूरदास आदि कृष्ण भक्तों के द्वारा शृंगार वर्णन की प्रशस्ति में भी बहुत कुछ लिखा गया। उनकी मधुर उपासना के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा संकेत भी दिये गये, किन्तु अब तक इस मधुर रस की उपासना प्रणाली को अनुसंधान का विषय साहित्यिक जगत में स्पष्ट रूप से न बनाया जा सका। प्रस्तुत प्रबन्ध, लेखक को प्राप्त हुई इसी प्रेरणा का परिणाम है। यदि इससे साहित्य के किसी अछूते अंग की पूर्ति होगी, तो उससे निश्चित ही ग्रन्थकार को सतोष प्राप्त होगा।

प्रभु को प्राप्त करने के हेतु भारतवर्ष में अनेक प्रकार की साधनायें प्रचलित हैं। किन्तु उनमें से ज्ञान कर्म योग तथा भक्ति पर प्रमुख रूप से संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए, इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। उपासना के क्षेत्र में भक्तों ने अपने-अपने भावानुसार इस भक्ति के विभिन्न रूपों के अवलम्ब से प्रभु को पाने की चेष्टा की है, किन्तु भक्ति के इन विविध रूपों के मध्य जो स्थान माधुर्योपासना का है वह सर्वोत्कृष्ट है और उसे इस अध्याय में प्रमाणित करके उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर प्रसंगवश वैष्णव भक्तों के उन विशेष संप्रदायों की भी चर्चा की गई है जिनमें मधुर रस धारा को गति प्राप्त हुई है। प्रेम भेद का शास्त्रीय निरूपण करते हुए तथा मधुर भक्ति की पवित्रता को स्पष्ट करते हुए इस क्षेत्र में आने वाले संयोग तथा वियोग के भेदों तथा उपभेदों पर भी विचार किया गया है। इस अध्याय में इस बात को भी प्रमाणित किया गया है कि भक्त में सर्वात्म-समर्पण की भावना इसी साधना के माध्यम से अंकुरित होती है।

द्वितीय अध्याय में मधुर उपासना की परम्परा का विशुद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा क्रमश: वेद, उपनिषद और भागवतादि ग्रंथों से उसके स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इसके साथ ही इस उपासना से सम्बन्धित वैष्णव संप्रदाय के रसिकों

दो प्रकार का होता है। ऋतु माल्यादि, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजन विषयक श्रेष्ठ भवन-उपभोग, उपवन-गमन, श्रवण क्रीडा-लीला आदि विभावों से युवा युवती में संभोग उत्पन्न होता है। इस शृंगार में नयनचातुरी भ्रूविक्षेप कटाक्ष-संचार ललित मधुर अंग, हाव वाक्यादि रूप अनुभाव होते हैं।¹'' दम्पति के आलम्बन होने पर ही रसज्ञों के द्वारा इस शृंगार का वर्णन किया गया है। इस शृंगार रस की उत्कर्षता का एकमात्र कारण है–राधा-कृष्ण का नित्य दाम्पत्य। इन दोनों की सर्वगुण-सम्पन्नता से ही यह रस पुष्ट है। समस्त इन्द्रियों के साथ यदि मन का संयोग होता है तो रसास्वाद या रसानुभव अवश्य होता है। विप्रलम्भ में केवल हृदय के प्रवेश से ही रसानुभव होता है। सिद्धांत रूप से सम्भोग रस अंगी है और विप्रलम्भ अंग परिपूर्णानंद संभोग में ही सम्भव है विप्रलम्भ में नहीं। विप्रलम्भ में विक्षेपात्मक सम्भोग दृष्टिगोचर होता है। सम्भोग में मन तथा समस्त इन्द्रियों से तृप्ति होती है और वियोग में केवल हृदय या मन से ही तृप्ति होती है। शृंगार के उत्कृष्ट रूप मधुर भक्ति रस की इसी उपासना से राधाकृष्ण की प्रेमलीला या रसलीला का रस रसिक को अनुभूत होता है। ये राधाकृष्ण उपासक की दृष्टि में हैं—

सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन बिलसत धाम।
श्रीहरिप्रिया निरन्तर नितप्रति कामरूप अद्भुत अभिराम ॥२६॥
—महावाणी सि सु

यह मान और आनन्द रूप राधा-कृष्ण की ही मधुर भक्ति का उपदेश सम्मोहन तंत्र में भगवान शिव ने भी दिया है।

अभी तक जो भी कुछ कार्य कृष्ण भक्ति के सम्बन्ध में शोधकर्ताओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया है उसमें कृष्ण की बाल-लीलाओं का पर्याप्त

---

१ 'तस्य द्वे अधिष्ठाने संभोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमन श्रवण क्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्यनयनचातुरीभ्रूविक्षेप कटाक्षसंचारललितमधुरांग हाव वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य।

—भरत-नाट्यशास्त्र, अ० ६,पृ० ५११

माला में निरूपण है, साथ ही रासलीला के भी चित्र उपस्थित किये गये हैं। इतना सब होते हुए भी राधाकृष्ण-युगल के उस रूप का दर्शन शोध का विषय न बन सका, जो यमुना के सुन्दर पुलिन पर स्थित कुंजों के मध्य रसोपासना की व्यापकता का प्रतिपादन करते हुये प्रकट हुआ था। सूरदास आदि कृष्ण भक्तों के द्वारा शृंगार वर्णन की प्रशस्ति में भी बहुत कुछ लिखा गया। उनकी मधुर उपासना के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा संकेत भी दिये गये, किन्तु अब तक इस मधुर रस की उपासना प्रणाली को अनुसंधान का विषय साहित्यिक जगत में स्पष्ट रूप से न बनाया जा सका। प्रस्तुत प्रबन्ध, लेखक को प्राप्त हुई इसी प्रेरणा का परिणाम है। यदि इससे साहित्य के किसी अछूते अंग की पूर्ति होगी, तो उससे निश्चित ही ग्रन्थकार को संतोष प्राप्त होगा।

प्रभु को प्राप्त करने के हेतु भारतवर्ष में अनेक प्रकार की साधनायें प्रचलित हैं। किन्तु उनमें से ज्ञान, कर्म, योग तथा भक्ति पर प्रमुख रूप से संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए, इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। उपासना के क्षेत्र में भक्तों ने अपने-अपने भावानुसार इस भक्ति के विभिन्न रूपों के अवलम्ब से प्रभु को पाने की चेष्टा की है, किन्तु भक्ति के इन विविध रूपों के मध्य जो स्थान माधुर्योपासना का है वह सर्वोत्कृष्ट है और उसे इस अध्याय में प्रमाणित करके उनके स्वरूप का स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर प्रसगवश वैष्णव भक्तों के उन विशेष संप्रदायों की भी चर्चा की गई है जिनसे मधुर रस धारा को गति प्राप्त हुई है। प्रेम भेद का शास्त्रीय निरूपण करते हुए तथा मधुर भक्ति की पवित्रता को स्पष्ट करते हुए इस क्षेत्र में आने वाले संयोग तथा वियोग के भेदों तथा उपभेदों पर भी विचार किया गया है। इस अध्याय में इस बात को भी प्रमाणित किया गया है कि भक्त में सर्वात्म समर्पण की भावना इसी साधना के आश्रय से अंकुरित होती है।

द्वितीय अध्याय में मधुर उपासना की परम्परा का विशुद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा क्रमशः वेद, उपनिषद और भागवतादि ग्रंथों से उसके स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इसके साथ ही इस उपासना से सम्बन्धित वैष्णव संप्रदाय के रसिकों

के सिद्धांतों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल की समय-विभाजन की मान्यता के अनुसार माधुर्योपासकों का काल-निर्णय भी किया गया है तथा विभिन्न कालों में होने वाले प्रमुख रसिक भक्तों का विक्रम सम्वत के अनुसार विवरण भी दिया गया है।

भक्तिशास्त्रों के अनुसार तृतीय अध्याय में राधा कृष्ण के रूपमाधुर्य, केलिमाधुर्य तथा रतिमाधुर्य का सैद्धान्तिक दृष्टि से विवेचन उपस्थित किया गया है। रूपमाधुर्य के अन्तर्गत युगलाराध्य के उस रूप की झांकी को रखा गया है जिसे भक्तों ने अपनी रस-साधना का साध्य बनाया है। केलिमाधुर्य में निकुंज बिहारी युगल के कौमार, पौगंड तथा कैशोर वय के अनुसार लीलाओं का निरूपण करते हुए उनकी कैशोर लीलाओं (यथा रास, होली हिंडोल, जल विहारादि) के चित्र उपस्थित किये गये हैं। भगवान की इन मधुर लीलाओं का नित्य दर्शन ही साधकों का परम उद्देश्य रहता है। अस्तु, उन्होंने अपने काव्य में इन्हीं का गायन किया है। भक्तों के रतिमाधुर्य का चित्रण इस अध्याय में सैद्धांतिक दृष्टि से अत्यंत संक्षेप में व्यंजित है और इसमें कुंजविहार की लीला को विशेषत मान्यता दी गई है।

तृतीय अध्याय में संक्षिप्त रूप से उल्लिखित भक्तों के रति माधुर्य का उनके काव्य के आधार पर इस अध्याय में विचार किया गया है तथा कुंजविहार में होने वाले संयोग की विभिन्न कलाओं के चित्रण के साथ विप्रलम्भ की मधुरिमा का भी लगभग समस्त स्थितियों के अनुसार वर्णन करने की चेष्टा की गई है। पाठकों की सुविधा के हेतु नित्य बिहारी राधाकृष्ण की स्थिति को संयोग-विभाग में अलग अलग भी देखा गया है। यह इस कारण से किया गया है जिससे रसिक जनों की विशद रस भावना का परिचय प्राप्त हो सके। इस वर्णन के साथ उपासकों की प्रभु संयोगानुभूति तथा उनकी विरह-वेदना को भी बराबर साथ ही चित्रित किया गया है जिससे उपासनात्मक चित्रण में समादर्श बना रहे।

इस प्रकरण में प्रपत्ति की परिभाषा महत्व तथा आवश्यकता का वर्णन करते हुये उसके उस स्वरूप को स्पष्ट किया गया है, जिससे भक्तों को अपने इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है और उनके हृदय में

उस भावना का उदय होता है, जिसमें प्रत्येक चेष्टा अपने-प्रियतम प्रभु के लिये होती है। इस प्रपत्ति में भक्त की भावना ठीक वैसी ही होती है जैसी पत्नी की अपने पति में। पति कुछ भी करे पत्नी उसे छोड़ नहीं सकती और प्रत्येक चेष्टा पति की प्रसन्नता के लिये ही करती है। स्वामी के अप्रसन्न होने पर जिस प्रकार सेवक दूसरा स्वामी खोज सकता है, उस प्रकार पत्नी दूसरा पति नहीं खोज सकती। प्रेम के इसी दृढ़ सम्बन्ध में मधुर उपासना की सफलता निहित है। रसिकों के काव्य के उद्धरणों से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

राधा माधव के अनन्य भक्तों ने जिस मधुर साधना से अपने लोक परलोक को साधा था, वह केवल कृष्णभक्ति शाखा में ही सीमित न थी उसका प्रभाव ज्ञानमार्गी,कबीर आदि सतों पर, प्रेम मार्गी जायसी आदि सूफी कवियों पर तथा राम भक्ति शाखा पर भी था। भगवान के इन भक्तों ने भी मधुर उपासना की विशिष्ट प्रणाली को अपनाकर अपने प्रिय प्रभु का अखिल विश्व का पति मानते हुए, उनकी उपासना के गीत गाये थे। इस अध्याय में इन सबकी मधुर भावना को इन्हीं की रचनाओं के आधार पर प्रमाणित किया गया है। नारद जी की प्रेम भक्ति कबीर आदि ने स्वत स्वीकार की है और गोविन्द माधव की दिव्य झाँकी को अपने हृदयरूपी वृन्दावन में निरंतर देखा है। इन कवियों की भावना में विद्यमान कृष्णभक्ति की माधुर्योपासना से सम्बंधित साम्य तथा वैषम्य का भी उद्धरणों के माध्यम से यथास्थान संकेत दिया गया है।

प्रबन्ध के इस सप्तम प्रकरण में उन भक्तों का विवरण उपस्थित है, जो किसी भी विशेष वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित नहीं है, किन्तु उन्होंने महात्मा सूरदास, हरिदास, हितहरिवंश तथा चैतन्यादि की भाँति ही अपने प्रभु-गान में राधा-माधव युगल के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करते हुये, उनकी संयोग वियोग की मधुरिमा को प्रकट किया है। इन परवर्ती प्रमाणित भक्तों ने उनके कुंजविहारी तथा उनकी मधुर उपासना की आध्यात्मिकता को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। भक्ति के क्षेत्र में इन कवियों ने पूर्व से चली आई हुई रस धारा में जो गति पैदा की, वह सराहनीय है। रीति एवं आधुनिक युग के ऐसे कवियों की रस भावना का चित्रण निश्चित ही इस अध्याय में परमावश्यक था।

उपर्युक्त सात अध्यायों के अतिरिक्त प्रस्तुत प्रबन्ध में परिशिष्ट भी दिया गया है। इस परिशिष्ट में ऐसे दो सम्प्रदायों का उल्लेख है जिनकी साधना का केन्द्र वृन्दावन नहीं है किन्तु इन्होंने माधुर्योपासना की सरस पद्धति से ही अपने नित्यविहारी इष्टदेव राधा-कृष्ण को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। ये सम्प्रदाय हैं—श्रीप्रणामी संप्रदाय तथा सहजिया सम्प्रदाय। व्रजभाषा में पर्याप्त उद्धरण के न प्राप्त कर सकने के कारण परिशिष्ट में उपस्थित करने की आवश्यकता का अनुभव किया है। सैद्धांतिक रूप से जो कुछ उपलब्ध हुआ उसके आधार पर इनकी साधना को यहाँ स्पष्ट करने की चेष्टा भी की गई है।

अब जिनकी कृपा और प्रेरणा से मैं इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ, उनके लिये भी अपने हृदय के संतोषार्थ कुछ कहना है।

श्रद्धेय डॉ॰ प्रेमनारायण जी शुक्ल डी॰ लिट्॰ के कुशल निर्देशन में मुझे इस प्रबन्ध के लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रारंभ से लेकर अंत तक उन्होंने जिस कुशलता एवं सूक्ष्मदर्शिता से मेरे पथ प्रदर्शन का कार्य किया है वह मेरे प्रति होने वाली उनकी ममता का ही परिणाम है। शिक्षणकाल में भी उन्हें मेरे परिश्रम पर पूर्ण विश्वास रहता था और जब मैंने श्रद्धेय पं॰ कृष्णशंकर जी शुक्ल की प्रेरणा से इस कार्य को करने का संकल्प किया था तब भी उन्होंने मेरे परिश्रम पर अपना विश्वास प्रकट करते हुये मुझे कृपापूर्वक निर्देशन करने का वचन दिया। यह सब उस वृन्दावनविहारी नित्यसखा की दया का ही परिणाम है कि मैं अपने गुरुजनों के विश्वास का पात्र बनकर उन्हीं की कृपा से इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ।

परम पूज्य गुरुवर डॉ॰ मुंशीराम जी शर्मा डी॰ लिट् की छत्र छाया में बैठकर मुझे कई वर्ष तक ज्ञानार्जन करने का सुअवसर प्राप्त रहा है। उन्होंने जिस स्नेह ममता तथा निर्मलता के साथ मेरे इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में मुझे अपने गम्भीर ज्ञान से लाभान्वित किया है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। वे मेरे गुरु हैं, इससे अधिक सौभाग्य तथा गौरव की बात मेरे लिये और क्या हो सकती है ? उन्हें मेरा शततः प्रणाम है।

वृन्दावन स्थित श्री जी की बड़ी कुंज के प्रधान तथा 'सर्वेश्वर' मासिकपत्र के प्रमुख संपादक श्री व्रजवल्लभ शरण वेदांताचार्य पंचतीर्थ

ने मुझे अपने पास सुरक्षित अप्राप्य एवं हस्तलिखित ग्रन्थों को देखने की सुविधा प्रदान की है, उसके लिये मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। निम्बार्क सम्प्रदाय के परमभक्त वैष्णव श्रीराधामोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से मुझे प्राचीन रसिकों की हस्तलिखित वाणियाँ अध्ययनार्थ प्राप्त हुई हैं। अस्तु, मैं इनका भी हृदय से आभारी हूँ। श्री राधामोहन दास जी मेरे मित्र भी हैं। उनके सत्परामर्श ने मेरे सहायक का काम इस प्रबन्ध को लिखने में किया है। माध्व गौडेश्वर सम्प्रदाय के मन्दिर के प्रधान श्री पुरुषोत्तम राजा जी तथा श्रीविश्वम्भर जी ने भी मुझे इस प्रबन्ध को लिखने के हेतु अति उत्साह प्रदान किया है अस्तु वे सत्पुरुष मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। वृन्दावन निवासी श्रीप्रफुल्लचन्द्र जी गोस्वामी, श्रीदम्पति किशोर जी चित्रकार का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, क्योंकि इन मित्रों ने भी अपने अमूल्य परामर्श से मुझे लाभान्वित किया है। कानपुर वैकुण्ठ मन्दिर के निकटस्थित निम्बार्क पीठ के अध्यक्ष श्रीबालकृष्ण गोस्वामी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे साथ वृन्दावन जाकर माधुर्योपासकों द्वारा रचित साहित्य को मेरे लिये सुलभ किया है।

कानपुर स्थित कस्तूमल संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक, सम्मान्य प० धर्मनाथ जी झा, एम० ए० साहित्य एवं व्याकरणाचार्य, जिन्होंने कई वर्ष तक संस्कृत के प्राचीन भक्ति ग्रन्थों के अध्ययन में मुझे अपना अमूल्य योग दान दिया है, के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

प्रो० बालकृष्ण जी गुप्त, अध्यक्ष हिन्दी विभाग हलीम डिग्री कालेज, कानपुर के ही सद्प्रयत्नों का परिणाम है कि प्रस्तुत ग्रंथ इस रूप में पाठकों के सामने विद्यमान है। अपने ऐसे सहपाठी तथा मित्र के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

ग्रंथ की प्रूफ रीडिंग में जो सहायता मुझे अपने परम स्नेही प० श्री नारायण पाण्डेय वैद्य, विजय शंकर त्रिपाठी मूलचन्द्र तिवारी (नैमिषारण्य), तथा विजय शंकर तिवारी से प्राप्त हुई है उसके लिये मैं इन सबको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। अपने प्रिय विद्यार्थी चि० सुशील कुमार मिश्र तथा चन्द्रमोहन वाजपयी के अथक परिश्रम तथा उत्साह को देखकर मुझे बड़ा संतोष प्राप्त हुआ है। परिश्रम के बदले में उन्हें कोरा धन्यवाद देकर स्नेह के मूल्य को मैं कम न करूँगा। भगवान इन दोनों छात्रों को जीवन में सफलता प्रदान करे। पं० ज्योति

स्वरूप पाण्डेय (अध्यक्ष इतिहास-विभाग डी० बी० एस० कालेज) मेरे परम मित्र हैं इन्होंने भी मेरे कार्य की सफलता में अत्यधिक उत्साह के साथ अपना योग दिया है। अपने ऐसे मित्र के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मेरे भतीजे चि० प्रेम नारायण पाण्डेय ने भी प्रूफ संशोधन का कार्य यथा अवसर किया है। मैं भगवान से इसकी सर्वसंपन्नता की प्रार्थना करता हूँ।

जिन विद्वानों के ग्रंथों का मैंने अपने प्रबन्ध की सहायतार्थ उपयोग किया है उन सब के प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। अधिकारी विद्वानों के समक्ष इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने का साहस मैंने उनकी कृपालुता तथा उदारता का स्मरण करके ही किया है। आशा है, वे विद्वज्जन मेरी त्रुटि को अल्पज्ञता समझकर क्षमा करेंगे।

दीपमालिका,
१५ नवम्बर १९६३

—श्यामनारायण पाण्डेय

पहला अध्याय

साधना-दर्शन और भक्ति

●

भारतीय साधनाओं में भक्ति की महत्ता

निखिल जगत की उत्पादिका शक्ति को ब्रह्म, परमात्मा, भगवान आदि अनेक नाम दिये गए हैं। यह सर्वव्याप्त सत्ता है। महान से महान और सूक्ष्म से सूक्ष्म, अपनी व्याप्ति के कारण यह रूप रूप में प्रकट हो रही है। वाणी में इसका स्पन्दन, प्राण एवं अपान में इसका रमण तथा प्रापण, विद्युत में इसका बल, सूर्य तथा चन्द्र में इसका दर्शन एवं मनन तथा अन्य वृक्षों में इसका वैशिष्ट्य और वैभिन्य प्रतिभासित हो रहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद्कार के शब्दों में जैसे तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल एवं अरणियों में अग्नि छिपी होती है, उसी प्रकार जगत के प्रत्येक पदार्थ में उस निराकार परब्रह्म की शक्ति भी उपस्थित है।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् में इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वह मोटा न होते हुए भी मोटा है, पतला न होते हुए भी पतला है, छोटा न होते हुए भी छोटा है, बड़ा न होते हुए भी बड़ा है, लाल न होते हुए भी लाल है, द्रव न होते हुए भी द्रव है, छाया न होते हुए भी छाया है, तम न होते हुए भी तम है, वायु न होते हुए भी वायु है, आकाश न होते हुए भी आकाश है, संग न होते हुए भी संग है, रस न होते हुए भी रस है, गंध न होते हुए भी गंध है, नेत्र न होते हुए भी नेत्र है, कान न होते हुए भी कान है, वाणी न होते हुए भी वाणी है, मन न होते हुए भी मन है, तेज न होते हुए भी तेज है, प्राण न होते हुए भी प्राण है, मुख न होते हुए भी मुख है, तथा माप न होते हुए भी माप[2] है। इसीलिए इसे अत्यंत रहस्यमय कहा गया है। जिस प्रकार मिट्टी से आवृत प्रकाशमय रत्न धुल जाने से भली प्रकार कांतिमान होता है, उसी प्रकार निर्मलता के जल से धुले हुए हृदय में यह प्रकाशित हो उठता है।

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रथम अध्याय मंत्र १२।

२ बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय का अष्टम ब्राह्मण।

उस निराकार असीम सत्ता का सभी साक्षात्कार करना चाहते हैं, किन्तु प्रश्न यह है, कि इस निराकार से सम्बन्ध स्थापित कैसे किया जाय ? इसके समीप पहुँचने के लिए विभिन्न धर्मावलम्बियों एवं सम्प्रदायों के विभिन्न विद्वानों तथा आचार्यों ने अनेक प्रकार की साधनाओं तथा उपासनाओं को प्रचलित किया है। परमतत्त्वरूप वह अविनाशी अगणित शक्तियों का सागर है। जितनी शक्तियाँ हैं उतने ही उसके रूप भी साधकों की दृष्टि में हैं, अस्तु उतने ही मार्गों का प्रचलन कोई आश्चर्य की बात नहीं। पूर्वजन्म के संस्कार देश, काल तथा अनेक प्रकार की स्थितियों के अनुकूल समाज मे मतैक्य कभी नहीं हो पाता है। इसी दृष्टि से सब कुछ एक होने पर भी वह परब्रह्म सभी साधकों के लिए उनके भावानुसार भिन्न-भिन्न रूप मे रहता है। इसी दृष्टि से तो साधनाएँ अगणित हैं किन्तु विशेष रूप से प्रामाणिक सर्वमान्य एवं महत्वपूर्ण साधनाएँ ये हैं —

१—ज्ञान-साधना
२—कर्म साधना
३—योग-साधना
४—भक्ति-साधना

उपर्युक्त विवरण मे संकेत रूप से दी गई प्राय सभी साधनाओं का समावेश इन चारों साधनाओं में दृष्टिगोचर होता है। इन चारों साधनाओं में ज्ञान को बुद्धि-शक्ति का कर्म को क्रियाशक्ति का योग को प्राण एवं मन शक्ति का तथा भक्ति को भावना-शक्ति का प्रतीक माना गया है।

ज्ञान मार्ग के साधक को विवेकजनित वैराग्य का सतत् अभ्यास तथा ध्यान की विभिन्न पद्धतियों और विवेकजन्य अन्तर्दृष्टि का सर्वदा उपयोग करना पड़ता है।

ज्ञान-साधना—

ज्ञानी साधक को अभिमान रहित होकर निरन्तर जिज्ञासुवृत्ति रखनी पड़ती है। जो जानने की वस्तु है वह सब मैं जानता हूँ—ऐसा विचार करने वाला ज्ञानी अनेक जन्म तक संसार के रहस्य को समझने में असमर्थ ही रहता है। ज्ञानी को आत्मदर्शन तभी होता है जब उसके हृदय में ज्ञान की जिज्ञासा का सर्वदा अनुभव रहे तथा हृदय में शिशु-हृदय की भाँति निर्मलता भी बनी रहे। आँख में ज्ञान का अंजन लगाकर सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्ममय देखते हुए ज्ञानी

साधक को, जिन को देह बुद्धि से परब्रह्म का दास, जीव बुद्धिसे उसका अंश तथा आत्मबुद्धि से स्वयं वही (ब्रह्म) समझना होता है। ज्ञान साधना में साधक को बीजजागृत, जागृत महाजागृत जागृतस्वप्न स्वप्न स्वप्नजागृत तथा सुषुप्ति आदि—मोह या अज्ञान की इन सातों भूमिकाओं से क्रमशः ऊपर उठकर अति कठिन वैराग्य को अपनाना पड़ता है। वैराग्य की उस अवस्था में जब साधक पहुँच जाता है, तो उसे जगत का भान नहीं रहता और तभी उसे विरक्त, ज्ञानी अथवा वीतरागी की संज्ञा प्रदान की जाती है और वह सफल साधक भी समझा जाता है। मन्दवैराग्य, तीव्रवैराग्य, तीव्रतरवैराग्य तथा तीव्रतमवैराग्य आदि चार प्रकार के वैराग्य में तीव्रतमवीतरागी सच्चा विरागी होता है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधना ज्ञान की भूमिकाओं के पार करने में होती है, ज्ञान की सप्त भूमिकाओं को पार करने के उपरान्त ही ज्ञानी पूर्ण होता है। वे सप्त भूमिकायें इस प्रकार हैं[1] —

१—शुभेच्छा,
२—विचारणा,
३—तनमानसी,
४—सत्वापत्ति
५—असंसक्ति,
६—पदार्थभाविनी,
७—तुर्यगा,

१—ज्ञान की प्रथम भूमिका में साधक को मुमुक्षु कहते हैं और उसके हृदय में भवसागर पार करने की इच्छा के साथ संसार से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस भूमिका को शुभेच्छा कहते हैं।

२—ज्ञान की द्वितीय भूमिका में पहुँच कर साधक भवसागर से पार होने की युक्ति तथा संसार से दूर हटने का उपाय सोचता है, इसलिए इसे

---

१ ज्ञान भूमि: शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता, विचारणा द्वितीयातु तृतीयातनमानसी सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका, पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता।

योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ ५-६

विचारणा कहा गया है। इस भूमिका के साधक को भी मुमुक्षु ही कहा जाता है।

३—ज्ञान की तृतीय भूमिका तनुमानसी कही गई है—इस भूमिका में मुमुक्षु साधक चित्त की सूक्ष्मता का अनुभव करते हुए संकाररहित हो जाता है।

४—ज्ञान की चतुर्थ भूमिका सत्त्वापत्ति है। इसमें पहुँचने पर साधक को ब्रह्मविद् कहते हैं। समदृष्टि का होना द्वैतभावना का नाश, आत्मज्ञान की उपलब्धि तथा इच्छित वस्तु की प्राप्ति, इस भूमिका की विशेषताएँ हैं।

५—ज्ञान की पंचम भूमिका में साधक को ब्रह्मविद्वर कहा जाता है—इसमें पहुँचने के उपरान्त साधक को सर्वत्र अनासक्ति हो जाती है। इसलिए उसका नाम असंसक्ति है।

६—ज्ञान की षष्ठी भूमिका का नाम पदार्थाभाविनी है। इसमें पहुँच कर साधक का अन्तरतम पूर्णरूपेण जागृत हो जाता है और वह बाह्य दृष्टि से ऊपर उठ जाता है—अस्तु उसे ब्रह्मविद् वरीयान् कहते हैं।

७—ज्ञान की सप्तमी भूमिका 'तुर्यगा' है—इसमें साधक को ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहते हैं। इसमें जीव मुक्ति की पराकाष्ठा पर होता है।

ज्ञान की इन सीढ़ियों को चढ़ने के पश्चात् ही साधक ज्ञान-मार्ग की साधना में पूर्ण होता है, अन्यथा नहीं। यहीं पहुँच कर उसको आत्मज्ञानी कहकर पुकारा जाता है। यहीं पर शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद-ज्ञान (शास्त्र-ज्ञान) परब्रह्म परमात्मा का बोध कराते हुए विवेकजन्य ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[1] लोक-शास्त्र तथा देहादि की वासनाएँ यहाँ पहुँचने पर बहुत नीचे छूट जाती हैं। इस ज्ञान के द्वारा साधक, जीवों में प्रकृति पुरुष महत्तत्त्व, अहंकार पंचतन्मात्रा रूप भी तत्त्व दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच भूत और तीन गुण आदि अट्ठाईस तत्त्वों तथा उनमें अधिष्ठान रूप से अनुगत एक आत्म तत्त्व का भी साक्षात्कार कर लेता है। यहाँ पहुँचते पहुँचते यदि चेतना पर मायावी आवरण पड़ गया,

---

१ आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।
शब्दब्रह्मागममयं परंब्रह्म विवेकजम्।
—विष्णु पुराण ६ ५ ६१

तो साधना खण्डित हो जाती है और लक्ष्य-असाधित ! अत्यधिक संभावना इसी की रहती है। अस्तु साधक को सचेष्ट रहना पड़ता है।

कर्म-साधना—

कर्म-साधना पर दृष्टिपात करते समय विशेष रूप से यह देखना पड़ेगा, कि बिना किसी भय या शंका के हृदय में स्थित उत्तम प्रेरणाओं के अनुसार कर्ममार्गी आचरण करता है या नहीं ! क्योंकि मानवमात्र का हित-अहित जीवन-मृत्यु एवं सुख-दुःख सभी कर्म पर आधारित हैं। यह संसार कर्म-क्षेत्र है—इसमें कोई संशय नहीं। जिस कर्म का इतना अधिक महत्त्व है उसका वास्तविक अर्थ क्या है ? इसका स्पष्टीकरण भी वांछनीय है। व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से कर्म शब्द 'कृ' धातु (करना) से निर्मित हुआ है। अस्तु इसका अर्थ है करनी, व्यापार हलचल, करतूत या कार्य आदि। जहाँ तक भारतीय धर्म-साधना का प्रश्न है, वह 'कर्म' है—इस अर्थ से किंचितमात्र भी सन्तुष्ट नहीं है। उसकी दृष्टि में 'कर्म' वही है, जो शास्त्र विहित एवं धर्म-सम्मत हो। साधनात्मक विचारों को ध्यान में रखते हुए कर्म तीन प्रकार का माना जाता है। यथा—मानसिक, वाचिक तथा कायिक। भारतीय धर्मशास्त्र की दृष्टि से सात्विक राजस तथा तामस भेद से भी कर्म के प्रकार बतलाये गये हैं। हेतुकी विचारधारा के कारण यही कर्म नित्य नैमित्तिक तथा काम्य भेद से भी तीन प्रकार का विख्यात है। कर्म के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण ऐसा भी है, जो पूर्व एवं वर्तमान जन्मों कर्मों को परस्पर जोड़ता हुआ अपना विभाजन प्रस्तुत करता है। इस वर्गीकरण में भी कर्म के तीन प्रकार हैं। यथा—१ संचित। २ क्रियमाण और ३—प्रारब्ध। जहाँ तक वेदांत का प्रश्न है वह भी इसी विचारधारा का समर्थन करता है। संचित कर्म वह है जो इस जन्म तथा प्राक्तन जन्मों में किया जा चुका है। भविष्य में भोगने की दृष्टि से वर्तमान में जो कर्म किये जाते हैं उनका नाम क्रियमाण कर्म है।

संचित कर्मों के जितने भाग के परिणाम का भोग प्रारम्भ हो गया हो, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध का भोग जीव को भोगना पड़ता है। संचित कर्म की राशि कितनी ही विशाल हो, किन्तु ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त वे सभी प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। क्रियमाण कर्म के सम्बंध में शास्त्रों की प्रायशः आज्ञा है, कि स्वार्थमयी विचारधारा से कोई कर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि यही विचारधारा बन्धन का कारण है। सभी जन आवागमन से मुक्ति तथा कर्म-बन्धन के इस प्रपंच से निवृत्ति पाने के अभिलाषी

है। कर्म की गति यथार्थ में अत्यंत कुटिल, कठोर, कठिन, असाध्य तथा अटल है। इस कर्म पर विजय प्राप्त करने के लिए साधक को अत्यंत तेजस्वी, पुरुषार्थी शक्तिशाली होना पड़ता है तभी वह साधना तपस्या तथा सत्संग आदि से अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। इन कर्मों पर विजय के हेतु साधक को प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहना पड़ता है, साथ ही अपने द्वारा किये जाने वाले कर्मों में ईश्वर का अधिष्ठान भी करना पड़ता है। साधक के हित में कर्म मार्ग की सफलता वहीं पर होती है जहाँ से उसका संयोग आस्तिकता तथा निर्मल ज्ञान से हो जाता है। भगवदात्मा के आवेश के पश्चात किया हुआ कर्म ही कर्म है। कर्म को ही प्रमुख मानते हुए श्रीकृष्ण ने गीता में उसी का उपदेश अर्जुन को दिया है। समस्त वैदिक कर्मों में भगवान ने यज्ञ को ही प्रधान कर्म माना है। क्योंकि यज्ञ के द्वारा अग्नि में दी गई आहुति सूर्यलोक में पहुँचती है तत्पश्चात सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है[1]। साधक के हाथों किये हुए यज्ञ कर्म का उद्गम स्थल वेद ही है। वेद का उद्गम स्थल वह अविनाशी (ब्रह्म) है। अस्तु, यज्ञ में वह सदा विराजमान रहता है। साधक चाहे कितना त्यागी क्यों न हो किन्तु यज्ञ-दान-तप आदि नियत कर्मों का त्याग उसे भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि चित्त शुद्धि के ये मूल कारण है। इन्हें करते हुए निष्काम भावना से ही साधक की कर्म साधना अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचती है अन्यथा नहीं। गीता का कर्म सिद्धान्त इसी पर आधारित है।[2]

जिस यज्ञ की प्रधानता का वर्णन ऊपर प्रस्तुत किया गया वह यज्ञ कई प्रकार का माना गया है— जिनमें ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ, तथा नृयज्ञ—इन पाँच महायज्ञों की प्रधानता है।[3] वेद और वेदान्त का अध्ययन और

---

१ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥ स्मृति वाक्य

२ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
—मोनियविक विचार

३ यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
—गी० अ० १८, श्लो० ५

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है शास्त्र-सम्मत तर्पणादि पितृयज्ञ है, भावभाव का होमादि देवयज्ञ है, बलिकर्मादि भूतयज्ञ है और आतिथ्यादि नृयज्ञ है। इन भाव यथा-नीति युक्त कर्मों में सच्ची योग प्राप्ति हो सकती है। यहाँ निष्काम भावना का विस्मरण नहीं होना चाहिए। भारतीय विचारकों की अपेक्षा विदेशी विचारकों ने भी प्रायः निष्काम कर्मयोग का समर्थन किया है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री 'स्पेंसर' महोदय का कथन है 'आधिभौतिक रीति से यह बात भी सिद्ध है कि इस जगत में किसी काम को एकदम कर गुजरना शक्य नहीं। उसके लिए कारणीभूत और आवश्यक अन्य अनेक बातें पहले जिस प्रकार हुई होंगी, उसी प्रकार मनुष्य के प्रयत्न सफल, निष्फल या न्यूनाधिक सफल हुआ करते हैं। इस कारण यद्यपि साधारण मनुष्य किसी भी काम के करने में फलाशा से ही प्रवृत्त होते हैं, तथापि बुद्धिमान पुरुष को शान्ति और उत्साह से फल सम्बन्धी आग्रह छोड़कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए।'[1] स्पष्ट है कि कर्म करने वाले साधक को जो कुछ जैसा प्राप्त हो, उसे वैसा ही कर्तव्य समझकर निष्कामता के साथ करना चाहिए। गीता में इसी आधार पर *भगवान् श्रीकृष्ण ने जनकादि की भूरि भूरि प्रशंसा की है और उन्हें कर्म-साधना का सिद्ध पुरुष भी बतलाया है।* किसी भी साधना के साधक को अपनी ही साधना को ध्येय देते हुए अत्यंत संलग्नता के साथ उसके रहस्य अथवा कर्म का बोध करना पड़ता है, यही उसकी सफलता का रहस्य है।

योग-साधना—

कोई भी कर्म बिना योग के (युक्तकर्म) सिद्ध नहीं होता। यह योग

---

1 Thus admitting that for the fanatic, some wild anticipation is needful as a stimulus and recognizing the usefulness fo his delusion as adopted to his particular nature and his particular function the man of higher type must be content with greatly moderated expectations while he pre serves with undiminished efforts He has to see how comparative ly little can be done, and yet to find it worth while to do that little. so uniting philanthropic energy with philosophic calm

—*Spencer s study of Sociology viii th. Ed Page 403*

है। कर्म की गति यथार्थ में अत्यंत कुटिल कठोर, कठिन, असाध्य तथा अटल है। इस कर्म पर विजय प्राप्त करने के लिए साधक को अत्यंत तेजस्वी, पुरुषार्थी शक्तिशाली होना पड़ता है तभी वह साधना, तपस्या तथा सत्संग आदि से अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। इन कर्मों पर विजय के हेतु साधक को प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहना पड़ता है, साथ ही अपने द्वारा किये जाने वाले कर्मों म ईश्वर का अधिष्ठान भी करना पड़ता है। साधक के हित में कर्म मार्ग की सफलता वही पर होती है जहाँ से उसका संयोग आस्तिकता तथा निर्मल ज्ञान से हो जाता है। अन्तरात्मा के आदेश के पश्चात किया हुआ कर्म ही कर्म है। कर्म को ही प्रमुख मानते हुए श्रीकृष्ण ने गीता में उसी का उपदेश अर्जुन को दिया है। समस्त वैदिक कर्मों में भगवान ने यज्ञ को ही प्रधान कर्म माना है। क्योंकि यज्ञ के द्वारा अग्नि में दी गई आहुति सूर्यलोक में पहुँचती है तत्पश्चात् सूर्य से वृष्टि वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है[1]। साधक के हाथों किए हुए यज्ञ कर्म का उद्गम स्थल वेद ही है। वेद का उद्गम स्थल वह अविनाशी (ब्रह्म) है। अस्तु, यज्ञ में वह सर्वदा विराजमान रहता है। *साधक चाहे कितना त्यागी क्यों न हो किन्तु यज्ञ-दान-तप आदि* नियत कर्मों का त्याग उसे भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि चित्त शुद्धि के ये मूल कारण हैं। इन्हें करते हुए निष्काम भावना से ही साधक की कर्म साधना अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचती है, अन्यथा नहीं। गीता का कर्म सिद्धान्त इसी पर आधारित है।[2]

जिस यज्ञ की प्रधानता का वर्णन ऊपर प्रस्तुत किया गया वह यज्ञ कई प्रकार का माना गया है—जिनमें ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ—इन पाँच महायज्ञों की प्रधानता है।[3] वेद और वेदांग का अध्ययन और

---

१ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
मनुस्मृति बाधम

२ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
—मोक्षनिवर्तिक विचार

३ यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
—गीता० अ० १८, श्लो० ५

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, शास्त्र-सम्मत तर्पणादि पितृयज्ञ है, भोजनान्त का होमाग्नि देवयज्ञ है, बलिकर्मादि भूतयज्ञ है और आतिथ्यादि नृयज्ञ है। इन पाँच यथा-नीति युक्त कर्मों में सच्ची श्रेय प्राप्ति हो सकती है। यहाँ निष्काम भावना का विस्मरण नहीं होना चाहिए। भारतीय विचारकों की अपेक्षा विदेशी विचारकों ने भी प्रायः निष्काम कर्मयोग का समर्थन किया है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री 'स्पेन्सर' महोदय का कथन है, 'आधिभौतिक रीति से यह बात भी सिद्ध है कि इस जगत में किसी काम को एकदम कर गुजरना शक्य नहीं। उसके लिए कारणीभूत और आवश्यक अन्य अनेक बातें पहले जिस प्रकार हुई होंगी उसी प्रकार मनुष्य के प्रयत्न सफल, निष्फल या न्यूनाधिक सफल हुआ करते हैं। इस कारण यद्यपि साधारण मनुष्य किसी भी काम के करने में फलाशा से ही प्रवृत्त होते हैं, तथापि बुद्धिमान पुरुष को शान्ति और उत्साह से फल सम्बन्धी आग्रह छोड़कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए।'[1] स्पष्ट है कि कर्म करने वाले साधक को जो कुछ जैसा प्राप्त हो, उसे वैसा ही कर्तव्य समझकर निष्कामता के साथ करना चाहिए। गीता में इसी आधार पर भगवान श्रीकृष्ण ने जनकादि की भूरि भूरि प्रशंसा की है और उन्हें कर्म-साधना का सिद्ध पुरुष भी बतलाया है। किसी भी साधना के साधक को अपनी ही साधना को ध्येय देते हुए अत्यंत संलग्नता के साथ उसके रहस्य अथवा मर्म का बोध करना पड़ता है, यही उसकी सफलता का रहस्य है।

योग-साधना—

कोई भी कर्म बिना योग के (युक्तकर्म) सिद्ध नहीं होता। यह योग

---

1 Thus admitting that for the fanatic, some wild anticipation is needful as a stimulus, and recognizing the usefulness fo his delusion as adopted to his particular nature and his particular function, the man of higher type must be content with greatly moderated expectations while he preserves with undiminished efforts He has to see how comparatively little can be done, and yet to find it worth while to do that little. so uniting philanthropic energy with philosophic calm

—*Spencer's study of Sociology the th Ed. Page 403*

—चित्त-वृत्तियों का निरोध और यह कर्तव्य कर्म मात्र में व्याप्त है।[1] व्युत्पत्ति के अनुसार "योग शब्द 'युज्' धातु से निर्मित होता है। 'युज्' धातु का तात्पर्य है—समाधि समाधि का अभिप्राय यह है कि सम्यक् प्रकार से परमात्मा के साथ युक्त हो जाना। ब्रह्म तथा जीव दोनों का पूर्णरूप से संयोग अर्थात् विजातीय-स्वजातीय एवं स्वगत भेद से ऊपर उठकर एकाकार हो जाना, साधना में अपने अस्तित्व को भूल कर, तान-तान पर उस परम सत्ता के साथ तद्रूप हो जाना तथा मन–कर्म और वाणी सभी से उस अविनाशी में लीन होना योग है। अद्वैतानुभूति की दृष्टि से जीवात्मा परमात्मा का सम्पूर्णतः मिलन योग कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना ही योग है।[2] सांख्यशास्त्री, पुरुष प्रकृति का पृथकत्व करके अर्थात् दोनों का वियोग करने के उपरान्त पुरुषस्वरूप में स्थित हो जाने को, योग कहते हैं। संसार-सागर से पार होने के प्रयत्न को योग वाशिष्ठ में योग की संज्ञा प्रदान की गई है। एकत्व की दृढ़ भावना, प्राण-स्पन्दन का सर्वथा रुकना तथा मन की शान्ति इस योग की रीतियाँ हैं। योग के सम्बन्ध में विदेशी विदुषी अंडरहिल नामक महिला के विचार के अनुसार योग सत्य स्वरूप परमात्मा के साथ एकत्व संपादन करने की विद्या है। योगी उसे कहते हैं जिसने न्यूनाधिक रूप से परमात्मा के साथ एकीभाव प्राप्त कर लिया है अथवा जिसका लक्ष्य है—परमात्मा के साथ एकात्मभाव को प्राप्त करना, साथ ही जो इस एकात्म भाव में विश्वास करता है।[3]

साधनात्मक स्वाभाविक योग एक ही है जिसे याज्ञ शिवोपनिषद् में भी एक बतलाया गया है। आचार्यों के मध्य यह योग महायोग के नाम से विख्यात

---

१ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। सधीनां योगमिन्वति॥
—ऋक् संहिता मण्डल प्रथम, सूक्त १८, मंत्र ७

२ 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध'—महर्षि पतञ्जलि कृत यो॰ समाधि पाद, सूत्र २

3 Mysticism is the art of union with reality The mystic to a person who has attened that union in greater or less degree or who aims at and believes in such attainment
— *Mysticism By Miss Evelyn Underhill*

है। अवस्था भेद के कारण योग की इस साधना को कई वर्गों में विभाजित कर दिया गया है। इस कारण से इसी महायोग को मन्त्रयोग, हठयोग, लय योग तथा राजयोग के नाम से पृथक करते हैं।[1]

एकाक्षरात्मक ॐ मन्त्र को अथवा द्वयाक्षरयुक्त 'हंसः' या 'सोऽहम्' मन्त्र को, पञ्चाक्षरात्मक 'ॐ नम शिवाय' मंत्र को या अष्टाक्षरयुक्त "ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय" मंत्र को क्रमानुसार जपना मंत्रयोग कहलाता है। साधना में मन्त्रयोग के द्वारा साधक को पश्चिम मार्ग (जिसे सुषुम्ना कहते हैं) का दर्शन हो जाता है। इस दर्शन के कारण चित्त की स्थिति के अभ्यास से तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण ही मंत्रयोग का परिणाम होता है। अभिप्राय यह, कि 'सोऽहम्' आदि मन्त्र का शनै शनै जप करते हुए, चित्त की वृत्तियों का जो निरोध होता है वही मन्त्र योग कहलाता है। इसमें यदि साधक से मानस तथा मौखिक जप नहीं हो पाता तो वह लेखात्मक जप करके भी अपने मन को स्थिर कर सकता है।[2] प्राणायाम के अतिरिक्त शेष सातों अंग इस योग के भी हैं एवं समस्त चक्रों में मूलाधार, मणिपूर तथा आज्ञाचक्र की साधना भी मन्त्रयोग में होती है।

एक ही नाल में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीर गुंथे हैं और परस्पर दोनों का प्रभाव भी एक दूसरे पर सर्वदा रहता है। सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों शरीरों को अपने वश में करते हुए योग की उपलब्धि को हठयोग की संज्ञा दी गई है। दक्षिण स्वर को सूर्य कहते हैं और वामस्वर को चन्द्र। इन दोनों की समता हठयोग की संज्ञा में आती है। कहने का अभिप्राय यह है, कि नाभि से उठने के बाद प्राणवायु नासिका के अगले भाग से बारह अंगुल तक बाहर

---

१ 'मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥'

—योगशिखोपनिषद्

२ हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥
गुरु वाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः
सोऽहम् सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते॥
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि॥

—योगशिखोपनिषद् १। १३०-१३२

जाता है तथा फिर लौटकर नाभि में आता है। यह है प्राणवायु की स्वाभाविक गति। इस गति को साधक, प्राणायाम के सहारे एक-एक, दो-दो अंगुल क्रमानुसार घटाता है। इस प्रकार जब बारह अंगुल बाहर की गति समाप्त हो जाती है तथा नासिका के भीतर ही दोनों स्वर बराबर रहते हुए सुषुम्ना के द्वारा जिस अवस्था में प्राण चलता है उसी स्थिति में जब साधक पहुँचता है तभी वह हठयोगी कहलाता है और वह स्थिति 'हठ'। गीता का 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ' का श्लोक भी इसी की पुष्टि करता है।' अष्टांग योग के द्वारा (यम-नियम-आसन-प्राणायाम प्रत्याहार-धारणा-ध्यान समाधि) दस प्रकार के बन्धसमूह से (महामुद्रा-महाबन्ध महावेध खेचरी उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध विपरीत करणी वज्रोली तथा शक्तिचालन) या षट्कर्म के द्वारा (धौति-बस्ति-नेति-त्राटक, नौलि तथा कपालभाति) अथवा केवल कुम्भक (रेचक पूरक आदि प्राणायाम को छोड़कर) प्राणायाम से वायु पर अधिकार कर लेने की क्रिया हठयोगी की साधना को सफल करती है। इसी क्रिया को हठयोग की साधना कहते हैं।[1]

शाम्भवी मुद्रा से ध्यान लगाना, खेचरी मुद्रा से रसास्वादन करना, भ्रामरी मुद्रा से नाद सुनना और योनिमुद्रा से आनन्द भोग करना। इस चार प्रकार की प्रणाली से लय योग की सिद्धि हो जाती है। यथा—

शाम्भव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥१॥

—घेरण्ड संहिता, सप्तम उपदेश, १.

पिण्ड और ब्रह्माण्ड का निर्माण समान रूप से हुआ है। दोनों में ही ग्रह-नक्षत्र चतुर्दशभुवन इत्यादि विद्यमान हैं। साधक का पिण्ड पंचकोश के वैषम्य के पश्चात् इच्छित योग से ब्रह्माण्ड-निर्माण कर सकता है। इसी प्रकार मानव पिण्ड के आधार पद्म में सुप्त कुण्डलिनी-ब्रह्मशक्ति प्रसुप्तावस्था में निवास करते हुए अविद्या के कारण सृष्टि-कार्य करती है। परिणामतः वैसी सृष्टि होती है। मानव शरीर के अन्दर सहस्रारगत सहस्रदल में कुलकुण्डलिनी शक्ति को जिस योग के द्वारा ब्रह्मरूप सदाशिव के साथ मिलाते हैं—इसी

---

१ अनेनैव नाडीमार्गेण कुर्यात्पवनधारणम्।
तथा केवल कुम्भे वा हठयोगी भवत्यसौ ॥

प्रक्रिया को लययोग कहते हैं। इस स्थिति में साधक पूर्णरूपेण इच्छा रहित हो जाता है।

राजयोग अन्य तीनों योगों की चरम स्थिति का नाम है। चित्त मन बुद्धि तथा अहंकार से ही अन्तःकरण जीव के बन्धन का कारण होता है तथा मुक्ति का भी। जिस प्रकार अशुद्ध मन जीव को नीचे की ओर ले जाता है तथा शुद्ध एवं पवित्र मन उत्थान की ओर, ठीक उसी प्रकार इन्द्रियासक्त बुद्धि जीव को बन्ध में डाल देती है तथा ब्रह्मासक्त बुद्धि जीव को मुक्ति क्षेत्र में। पवित्र बुद्धि के सम्बल से तत्व को जान करके राजयोग का साधक ब्रह्म और जीव के ऐक्य का रहस्य समझ जाता है और मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। यह साधना भी ध्यान की अपेक्षा रखती है, क्योंकि ध्यान में जप से सौ गुना अधिक फल मिलता है। राजयोग का सम्बन्ध यथार्थ में मन से है। हठयोगी शरीर तथा प्राण से अपनी साधना को प्रारम्भ करता है और राजयोगी मन पर संयम करके।[१] मन को सर्वप्रथम स्थिर करना साधक के लिए परमावश्यक है तत्पश्चात् चित्त के द्वारा अन्तःकरण तथा शरीर से भिन्न आत्मा का दर्शन तथा साक्षात्कार संभावित है। मिस्टीरियस कुंडलिनी में इसी प्रक्रिया पर जोर दिया गया है।[२] महर्षि पतंजलि के अनुसार मन का संयम साधक को अष्टांग योग से करना चाहिए क्योंकि इसी संयम से भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, काय व्यूहज्ञान, सिद्ध दर्शन एवं अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान तथा समाधि को निर्विकल्प समाधि की संज्ञा दी गई है। यथार्थ में राजयोगी वही है, जो बाह्यलक्ष्य मध्यलक्ष्य, तथा अन्तर्लक्ष्य या अन्तर्मुद्रा ज्ञान से आत्मदर्शन कर लेता है। राजयोग के पंद्रह अंगों का वर्णन तेज बिन्दूपनिषद् में किया गया है।

योगी साधक को भी ज्ञानमार्गी की भाँति सप्त भूमिकाओं को पार करके अपने लक्ष्य तक पहुँचना होता है। वे भूमिकाएँ कृष्ण यजुर्वेदीय अक्षयुपनिषद् के द्वितीय खण्ड में इस प्रकार दी गई हैं –

---

१ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥

2 'Self-concentration with a view to seeing the soul as it looks when it is abstracted from mind and matter

—*Mysterious Kundalini* Page 10

१—असंवेदन
२—विचार
३—असंसर्गा
४—स्वप्न
५—सुषुप्तपद
६—तुर्या
७—विदेहमुक्ति

१—योग की प्रथम असंवेदन भूमिका में साधक वासनाओं से विरक्त, लोक-हितकारी, मधुरभाषी, प्रीतिवान तथा सुकर्मी हो जाता है।

२—योग की द्वितीय विचार नामक भूमिका में साधक मद, अभिमान मत्सरता, लोभ मोह का त्याग करते हुए श्रुति आदि शास्त्रों में संसार-सागर से उद्धार होने की प्रक्रिया को पढ़ता है तथा उसके रहस्य को जान लेता है।

३—विचार नामक भूमिका को पार करने के उपरान्त असंसर्गा भूमिका आती है। इस भूमिका में अपनी बुद्धि को स्थिर करते हुए अध्यात्म शास्त्र के अवलम्ब से साधक अपने चित्त को निर्मल करता है तथा विषयों में अनासक्त होकर एवं प्राकृतिक गुणों का उपभोग करते हुए, अपनी साधना को पूर्ण करने की चेष्टा करता है। संकल्पात्मक वृत्तियों के त्याग की प्रधानता इसी भूमिका में है।

४—उपर्युक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत-स्वरूपा हैं। इसके पश्चात् स्वप्न
नाम की चौथी भूमिका में साधक की समदृष्टि हो जाती है। उसके हृदय में
अद्वैतभाव की प्रधानता होकर यह लोक स्वप्नवत् जान पड़ता है।

५—पाँचवीं भूमिका (सुषुप्तपद) में साधक भेदरहित हो जाता
तथा आत्मज्ञान से युक्त आनन्दयुक्त स्थिति का अनुभव करता है। इस भूमि
में साधक का चित्त आकाश में विलीन हो जाने के कारण सांसारिक, विष
समाप्त हो जाते हैं।

६—सुषुप्तपद के उपरान्त तुर्या नाम की छठी भूमिका में स
साधक पहुँचता है। इस भूमिका में वह पूर्णरूप से अद्वैत अवस्था में
होकर निर्भय हो जाता है, बुद्धि का भ्रम तथा हृदय की ग्रन्थियों का सम
नाश हो जाता है और वह निर्वाण को प्राप्त हुआ सा हो जाता है।

७—परम धाम, वाणी के द्वारा अगम्य तथा समस्त भूमिक
... विदेह मुक्ति की स्थिति। इसमें साधक समाधि अवस्था

ही विचारपूर्वक स्थूल तथा सूक्ष्म के क्रम से सबको चिदात्मा में लीन कर देता है तथा उसी को अपना स्वरूप भी मान लेता है—अपने को ब्रह्म समझ लेने की यह स्थिति इस भूमिका की सर्वोच्च सफलता है।

साधनात्मक भक्ति की महत्ता को जानने के लिए तथा उसके यथार्थ स्वरूप एवं प्रक्रिया को समझने के लिए इस बात की परम आवश्यकता है कि विभिन्न प्रचलित मार्गों को भी समझा जाय, अस्तु इस दृष्टि से ज्ञान, कर्म तथा योग की प्रक्रिया तथा उसके स्वरूप की अति संक्षिप्त व्यंजना ऊपर प्रस्तुत की गई है। इसके साथ ही इन सभी साधनाओं के लक्ष्य स्वरूप, उस परम पुरुष की स्थिति तथा स्वरूप का भी वर्णन प्रसंगानुसार किया गया है।

उपासना का नाम भक्ति है। अपने इष्टदेव को प्राप्त करने के हेतु योगी योगसाधना से, ज्ञानी ज्ञानमार्ग से तथा क्रियाशील साधक कर्ममार्ग से निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं। यद्यपि वह परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है, तथापि यह सत्य है कि बिना उपासना के उसका दर्शन किसी को नहीं होता। मन और बुद्धि द्वारा उपास्यदेव का निरंतर स्मरण करते रहना ही सिद्धिदायक है। इसलिए चिंतारहित होकर एकान्तभाव से उस प्रियतम का स्मरण अपेक्षित है।

वेद आत्मा को जिस प्रभु के पास भक्ति साधना द्वारा पहुँचाना चाहता है—वह सत्यस्वरूप है तथा स्थायी आकर्षण रखता है। स्थायी आकर्षण वहीं होता है, जहाँ सौन्दर्य अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ अलंकृत होकर मूर्तिमान होता है। उस सत्यस्वरूप का सान्निध्य लाभ करना सरल नहीं किन्तु कठिन भी नहीं। जिसके पास हृदय है और श्रद्धा सहित आस्तिकता है वह प्रभु का सान्निध्य प्राप्त कर ही लेता है। वास्तव में श्रद्धा ही दोनों लोकों में सिद्धि प्रदान करने वाली तथा समस्त कर्तव्यों की हित-साधिका है। इस श्रद्धा का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। यही श्रद्धा उस सत्य स्वरूप के प्रति आकर्षण का मूल कारण है। यह श्रद्धा बाह्य सौन्दर्य पर दृष्टिपात नहीं करती इसे तो अंतः सौन्दर्य की निर्मल झाँकी ही चाहिए। वस्तु की आन्तरिक महत्ता का दिग्दर्शन अंतःसौन्दर्य के दर्शन से ही होता है। यह सौन्दर्य अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ उस भगवान में दृष्टि-गोचर होता है, जिसकी उपासना का संदेश वेद देते हैं। 'वह सत्यस्वरूप ब्रह्म यद्यपि शब्द का विषय नहीं है, फिर भी उपासना के लिए 'भगवत' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। सब कारणों के कारण महाविभूति संज्ञक परब्रह्म के लिए ही इस शब्द को प्रयुक्त किया गया

है।[1] इस ग्रन्थ में भकार के दो अर्थ किये जाते हैं—पोषण करने वाला तथा सबका आधार। गकार का अर्थ कर्मफल प्राप्त कराने वाला लय कराने वाला तथा रचयिता है। यथार्थ में सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य का नाम है—भग। उस अखिलभूतात्मा में समस्त भूतगण निवास करते हैं और वह स्वयं भी समस्त भूतों में विद्यमान है अस्तु वह अव्यय (परमात्मा) ही वकार का अर्थ है। ब्रह्मस्वरूप वासुदेव के लिए ही इस शब्द का विशद् विवेचन विष्णु पुराण में प्रस्तुत किया गया है। यथार्थ में जो समस्त प्राणियों के उत्पत्ति और नाश, आना जाना तथा विद्या और अविद्या को जानता है वही भगवान् कहलाने योग्य है।[2] इन्हीं इष्टदेव के लिए भक्त पूज्य भाव रखता है। उपासना में पूज्य भाव का आगमन ही भक्ति के उत्थान का प्रतीक है। भाव के अनेक प्रकार हैं। सतर्कता के साथ भक्त को उचित भाव का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि भाव से ही परमज्ञान, इष्टदेव का

---

१ अशब्द गोचरस्यापि तस्य च ब्रह्मणो द्विज।
पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्यौपचारिकः ॥७१॥
शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते।
मैत्रेय भगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणे ॥७२।

— विष्णुपुराण षष्ठांश, अध्याय ५, ७१-७

२ सम्भर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थ द्वयान्वितः।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ।७३॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥७४॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥७५॥
एव मेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति।
परम ब्रह्म भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥७६॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥७८।

—वि० पु०

साक्षात्कार तथा समस्त लाभ प्राप्त हो जाते हैं।[1] भगवान् के प्रति उत्पन्न होने वाले भाव की व्याख्या नहीं हो सकती क्योंकि यह मन का धर्म है और मन ही इसे जान भी सकता है। किसी प्रकार भी भावहीन उपासना सफल नहीं हो सकती। जिस भक्ति की चर्चा की जा रही है, ब्रह्म-स्वरूप के विभागों के अनुसार उसके भी दो भेद किये जाते हैं—(१) निर्गुण (२) सगुण। निर्गुण भक्ति का अवलम्ब लेने वाला साधक भगवान के गुणों को सुनते ही निष्काम भाव से निरंतर भेद-बुद्धि रहित साधना करता है। श्रीमद्भागवत में देवहूति के पूछने पर यह रहस्य श्री कपिल देव जी ने उन्हें बताया था।[2] इस निर्गुण भक्ति में विशेष दृढ़ता की आवश्यकता है। तपस्या वेद ज्ञान तथा कर्मकाण्ड आदि किसी से वह परम प्रभु प्रसन्न नहीं होते, उन्हें तो एकमात्र दृढ़भक्ति ही चाहिए। उद्धव जी को भागवत के एकादश स्कंध में उपदेश करते हुए श्री भगवान ने कहा था, 'हे उद्धव' मेरी दृढ़भक्ति मुझे जिस प्रकार आसानी से प्राप्त करा सकती है, वैसा स्वाध्याय, तप, योग, सांख्य, धर्म तथा दान आदि से नहीं हो सकता।[3] यथार्थ में व्रत तीर्थ, योग, यज्ञ और कथा आदि का कहना सुनना—ये सभी उसके (भक्ति) समक्ष तुच्छ हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि रूप प्रत्यक्षीकरण का अभाव खटकते हुए भी विरले ही साधक निर्गुण भाव को प्राप्त कर पाते हैं—इस दृष्टि से यह साधना कठिन है।

स्पष्ट है कि उपासकों की श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा उनकी प्रीति को निरंतर परिवर्धित करने के लिए उस रूपस्वरूप को निर्गुण से

---

१ भावेन लभते सर्वं भावेन देव दर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्मात् भावावलम्बनम्॥
—रुद्रयामलतंत्र से।

२ मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥११॥
लक्षणम् भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
—श्रीमद्भा०, ३ स्कं०, अ० २९

३ न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥२०॥
—श्रीमद्भा०, ११ स्कंध, अध्याय १४

सगुण होना पड़ता है। उस प्रभु के गुण तथा प्रकाश का चिन्तन में आना कठिन है वह सबके पास रहता हुआ भी अदृश्य रहता है। कम व्यक्ति ही उसके रूप को जान पाते हैं फिर भी सन्त प्रेमांजन से युक्त नेत्रों से जब उसे देखते हैं तो वही अरूप उनके लिए रूपवान हो जाता है। भगवान के इस माहात्म्य की बात को संहिताओं में भी स्पष्ट किया गया है।[1]—

भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन समय से वैष्णवों के अनेक संप्रदाय प्रचलित हैं। इन सम्प्रदायों ने सगुण भक्ति की महत्ता का अपने-अपने मतानुसार प्रतिपादन करते हुए, यहाँ के धर्म-प्रिय लोगों को भगवत प्राप्ति का अत्यंत सुगम मार्ग (सगुण उपासना का मार्ग) बतलाया है। उपासनात्मक दृष्टि से यहाँ पर उन सम्प्रदायों का थोड़ा सा परिचय अपेक्षित है।

वैदिक युग में उपासना का स्वरूप श्रद्धा का था। शनैः शनैः यह श्रद्धा ऐकांतिक, सात्वत भागवत एवं पांचरात्र उपासना प्रणाली में परिवर्तित होकर वैष्णवों की अति विशुद्ध सगुण उपासना में प्रस्फुटित हुई। भक्ति के इस समन्वयात्मक स्वरूप ने अपने ऐकांतिक प्रेम के सम्बल से भारतीय संतों, आचार्यों तथा मनुष्यों के हृदय जीत लिये। परिणामतः समस्त आचार्यों तथा विद्वानों के भावों के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों का निर्माण हो गया। इन संप्रदायों में श्री रामानुजाचार्य जी का श्रीसंप्रदाय, श्रीमध्वाचार्य जी का ब्राह्म संप्रदाय, श्रीविष्णु स्वामी का रुद्र संप्रदाय और श्रीनिम्बार्काचार्य जी का निम्बार्क संप्रदाय प्रमुख हैं। यद्यपि इन समस्त संप्रदायों के तत्व चिन्तन में विचारैक्य नहीं है तथापि मायावाद (शंकराचार्य का मत) का विरोध करने, भगवान का अवतार धारण करने तथा सगुणात्मक भक्ति करने की बात सभी मानते हैं।

श्री रामानुजाचार्य के श्रीसंप्रदाय (विशिष्टाद्वैत मत) ने जिस विशिष्ट अद्वैत प्रणाली का प्रसार किया, वह कोई नवीन बात न थी। यह मत भी वेदान्त की भाँति अत्यंत प्राचीन था। भगवान् श्रीनारायण ने जगज्जननी श्री महालक्ष्मी जी को सर्वप्रथम यह मत स्पष्ट किया। उसके पश्चात्

---

१ प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं,
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥४०॥—ब्रह्मसंहिता अ० ५।

श्री लक्ष्मी जी ने बैकुण्ठ पार्षद् श्री विश्वक्सेन को विश्वक्सेन ने शठकोप स्वामी को, शठकोप ने श्री नाथमुनि को, नाथ मुनि ने पुण्डरीकाक्ष को, पुण्डरीकाक्ष ने श्रीराम मिश्र को, और श्रीराम मिश्र ने श्री यामुनाचार्य जी को यह मत बताया। इनसे प्राप्त करके श्री रामानुजाचार्य जी ने ११ वीं शती में इसका प्रसार किया। इस मत में अभेद या एकत्व की भावना का सर्वथा समावेश किया गया है। श्रीरामानुजाचार्य जी ने भगवान् के दासत्व की प्राप्ति को ही माना है। उनकी दृष्टि में मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है—उपासनात्मक भक्ति। इस भक्ति के सहारे भगवान् के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देना ही उनकी उपासना का परम लक्ष्य है। ईसा की १४ वीं शताब्दि में इस संप्रदाय की परम्परा में श्री रामानन्द जी हुए और राम की उपासना का वेग प्रबल रूप से परिभाषित हुआ। राम की उपासना ईसवी सन् की १२ वीं शती में ही प्रारम्भ हो गयी थी। इसी समय में रामोपासना सम्बन्धी संहिताएँ तथा उपनिषद् भी निर्मित हुए थे। स्वामी रामानंद जी के युग में देश की स्थिति ठीक न थी, अस्तु श्री संप्रदाय के उपास्य देव—विष्णु एवं नारायण की अपेक्षा राम और सीता की भक्ति का प्रचार हुआ। शील-शक्ति सौन्दर्य से युक्त इष्ट देव के इसी रूप की आवश्यकता उस समय थी। फलस्वरूप इसे उचित स्थान जनता के हृदयों में मिला और दास्य-सम्मत रामोपासना प्रचलित हुई।

भारतवर्ष में प्रचलित ईश्वरवादी दर्शनों में वेदान्त सर्व प्रमुख है। निर्विशेष ब्रह्मवाद (अद्वैतवाद) तथा सविशेष ब्रह्मवाद इसके दो विभाग हैं। विष्णुपरक, शिवपरक, शक्तिपरक, सूर्यपरक तथा गणपतिपरक भेद से सविशेष ब्रह्मवाद पाँच प्रकार का है। इसमें जो विष्णुपरक सविशेष ब्रह्मवाद है, आचार्यों ने उसके चार भेद किये हैं—विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत। इस सविशेष ब्रह्मवाद का द्वैतवाद नामक जो भेद है, उसका स्पष्टीकरण सर्वप्रथम चतुर्मुख ब्रह्मा जी ने किया था। शास्त्र सम्मत वर्तमान युग (कलियुग) में उसे पौर्णप्रज्ञतीर्थापर नाम के श्री माध्वाचार्य ने बतलाया। इसी को माध्वमत की संज्ञा दी गई है और इसे ब्रह्मसंप्रदाय कह कर भी सम्बोधित किया गया। इस संप्रदाय के अनुसार भगवान विष्णु की आराधना को सर्व श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। विष्णु ही परम तत्व है। संसार सत्य है। भेद वास्तविक है, समस्त जीव हरि के अनुचर हैं। जीवों में तारतम्य है। यथार्थ सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। वेद का सम्मत तात्पर्य विष्णु है। तीन प्रमाण हैं (प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द)। अमला भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है—ये सिद्धान्त इस

प्रदाय के हैं।[1] जिस प्रकार की अनन्य भक्ति की व्यंजना माध्व संप्रदाय में की गई, उसे अनन्य भक्ति भी कहते हैं। स्वार्थहीन भक्ति के इस मार्ग में वात्सल्य की शास्त्रसम्मत ढंग से प्रधानता मानी गई है।

भारतवर्ष की पावन भूमि में इष्टदेव का साक्षात्कार कराने वाला भक्तियुक्त तीसरा सम्प्रदाय रुद्र संप्रदाय के नाम से प्रख्यात है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे। विष्णु स्वामी का काल निर्णय अब भी अनुसन्धान का विषय है। शृंगार शिरोमणि किशोरवय वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही विष्णुस्वामी के इष्टदेव थे। इन्हीं की प्राप्ति, भक्ति की विमल मन्दाकिनी में नहाकर, उन्होंने की। इस संप्रदाय ने जिस प्रणाली का प्रचार किया उसका नाम था शुद्धाद्वैत। इस शुद्धाद्वैत में प्रबल वेग भी वल्लभाचार्य के प्रयत्न से आया। भक्ति का यह पथ सभी जाति वर्ण तथा जीवों के लिए अत्यंत सुगम है। मर्यादा मार्ग से इसमें यही विशेषता है और भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसी अनुग्रह-मार्ग का उपदेश सबके लिए दिया। इसी को पुष्टि मार्ग भी कहते हैं। श्रीमद्भागवत् के द्वितीय स्कंध के दशम अध्याय के चौथे श्लोक में पुष्टि अथवा पोषण भगवान के अनुग्रह को कहा गया है।[2] तात्पर्य यह कि इस मत को श्रीमद्भागवत् के अनुसार ही महाप्रभु ने लिया और कहा कि भगवान् सर्वभाव से सर्वदा भजनीय है। भक्तों का यही धर्म है अन्य नहीं।[3]

भगवान् के जिस भजन की बात आचार्य वल्लभ ने बतलाई, उसका निष्काम रूप से करना ही भक्त के हृदयस्थित गर्व को समाप्त करता है और तभी उसे भगवान् की दीक्षा पर अपूर्व विश्वास भी होता है। उस प्रभु की अनुग्रह रूपी भक्ति भी तभी प्राप्त होती है। भगवान् की सेवा के लिए ही

---

१ श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ॥
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

२ पोषणं तदनुग्रहः —श्रीमद्भागवत २-१०-४

३ सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥१॥
—चतुःश्लो० षोडश ग्रंथ भट्टरमानाथ शर्मा पृ० ३

मनुष्य का जन्म हुआ है ऐसा पुष्टि मार्गी मानते हैं।[१] अस्तु यदि सर्वभाव से गोकुलाधीश भगवान कृष्ण को हृदय में बैठा लिया, तो फिर मनुष्य ने संसार म क्या नहीं पा लिया।[२] इस दृष्टि से काम, क्रोध भय स्नेह ऐक्य, तथा सौहार्दयुक्त किसी भी भाव से भक्ति करके भगवान्मय हो जाना चाहिए। दुष्ट इन्द्रियों की शुद्धि के लिए उन्हें ही सर्वत्र विद्यमान भगवान् में लगा देना चाहिए। आचार्य वल्लभ का मत है कि नवधा भक्ति के साधनों के प्रकार से प्रेम सम्पूर्ण होता है। अस्तु, इसी से भगवद्धर्म-वैराग्य आदि प्रकट होते हैं।[३] भक्तिवर्धिनी षोडशग्रन्थ म कहा गया है कि त्याग तथा श्रवण कीर्तन आदि से प्रेम का बीज अंतःकरण में स्थित हो जाता है। भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाने पर संसार से वैराग्य हो जाता है, उसमें आसक्त होने पर गृहस्थी के कार्य नीरस जान पड़ते हैं और जब भक्त को भक्ति-व्यसन हो जाता है, तो वह अपनी प्रेममयी स्थिति में पहुँच जाता है। वल्लभाचार्य का विश्वास है कि भगवान केवल दैन्य से प्रसन्न होते हैं और किसी भांति नहीं।[४]

जिस पुष्टि मार्ग का प्रसार आचार्य वल्लभ ने किया उसके चार भेद हैं –

१—प्रवाह पुष्टि भक्ति

२ —मर्यादा पुष्टि भक्ति,

---

१ तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूप सेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्॥
—पुष्टि प्रवाह म०, षो० ग्रं० श्लो० १२

२ यदि श्री गोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि॥
—चतुःश्लोकी—षोडश ग्रं० श्लो० १

३ साधनादि प्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः।
प्रेम पूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमाना प्रकीर्तिता॥
—जलभेद षोडश ग्रन्थ श्लो० १०

४ नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम्॥२॥
—सुबोधिनी—प्रमप्रकाश, चतुर्थ अध्याय।

३—पुष्टि पुष्ट भक्ति,

४—शुद्ध पुष्टि भक्ति

प्रवाह पुष्टि की स्थिति में पहुँचते ही भक्त के हृदय में अपने इष्ट देव के प्रति चाह उत्पन्न हो जाती है।

मर्यादा पुष्टि की श्रेणी में रहता हुआ भक्त भगवान् के गुणों का श्रवण कर विधि विधानों के अनुसार भक्ति प्रारम्भ करता है।

पुष्टि पुष्ट में भक्त भगवान् के सम्बन्ध को जानते हुए सर्वदा उनके प्रेम में तन्मय रहता है।

अन्तिम अवस्था शुद्ध पुष्टि की है। भक्त इसमें अपनी उपासना की चरम सीमा पर पहुँचकर भगवान् के अनुग्रह को प्राप्त कर लेता है। तथा प्रेम की यथार्थ स्थिति के द्वारा परम आनन्द का सुख लेता है।

वेदान्त पर आश्रित द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य जी थे। आधुनिक विद्वानों के विचार से इन्होंने ग्यारहवीं शताब्दि में ब्रह्मसूत्र की *व्याख्या करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया था। जहाँ तक निम्बार्क* संप्रदाय के समर्थकों का प्रश्न है वे पाँचवीं शती में निम्बार्काचार्य जी का होना मानते हैं। सनक संप्रदाय इन्हीं के संप्रदाय विशेष का नाम है। सनक संप्रदाय इसका नाम इसलिये है कि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र सनक-सनन्दन सनातन-सनत्कुमार ही इस मत के आदि आचार्य माने जाते हैं। द्वैताद्वैत की भक्ति पद्धति में समस्त गुणों की राशि सब प्रकार से वन्दनीय कमल से नेत्र वाले तथा दोषरहित एवं परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को इष्टदेव माना गया है।[1] इस संप्रदाय के लोग ब्रह्मा शंकर आदि से स्तुत्य परब्रह्म श्री कृष्ण के चरण कमल की भक्ति की अपेक्षा मोक्ष के हेतु अन्य साधन नहीं समझते। इनका अखंड विश्वास है कि यद्यपि भगवान् की शक्ति अचिन्त्य तथा उनका शासन कल्पना से परे है, तथापि वे भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति के हेतु रूप धारण कर लेते हैं।[2] ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण की जिन पर

१ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
अव्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणम् हरिम्॥
(दशश्लोकी से उद्धृत)।

२ 'नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्'
सदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्त सुचिन्त्यविग्रहा—
दचिन्त्यशक्तेर विचिन्त्यसाशयात्॥

कृपा होती है वे भक्त अपने इष्टदेव के समक्ष अति दीन रहते हैं। पराभक्ति का प्रादुर्भाव भक्तों में श्रीकृष्ण की कृपा से ही होता है। इसका अर्थ है भगवान् में अनन्य प्रेम हो जाना। दूसरी जो अपरा भक्ति है, इसी की साधना से भक्त अनन्य प्रेम की स्थिति में पहुँच कर अपने प्रियतम से साक्षात्कार करता है।[1] इस प्रकार का विचार तथा पद्धति इस सम्प्रदाय के भक्तों की है। श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ साथ द्वैताद्वैतवादी श्रीकृष्ण के वाम भाग में उन्हीं के अनुरूप शोभा को प्राप्त करने वाली तथा सहस्रों सखियों से सेवित एवं सम्पूर्ण इच्छाओं को पूरा करने वाली श्री राधा जी का भी उतना ही स्मरण करते हैं।[2] सारांशतः प्रेमलक्षणा भक्ति ही इस सम्प्रदाय की निधि है और राधा-कृष्ण दोनों उपास्य हैं।

उपर्युक्त वैष्णवों के सभी सम्प्रदायों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उस परम प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रेमपूर्ण चिन्तन करते हुए मन को तदाकार करना परम आवश्यक है। साथ ही जिस प्रकार अक्षरों का बोध कराने के लिए बालकों के समक्ष उन्हीं अक्षरों का आकार प्रस्तुत करना पड़ता है उसी प्रकार मन के समक्ष, उस सर्वशक्तिमान तथा निराकार परब्रह्म के बोध के हेतु प्रत्यक्ष नाम-रूप से युक्त स्वरूप रखना पड़ता है। स्पष्ट है कि वैष्णव आचार्यों में निम्बार्क तथा विष्णु स्वामी ने जिस भक्ति पद्धति का प्रचार किया उसके उपास्य देव परब्रह्म स्वरूप भगवान् कृष्ण ही थे। उन्हीं की उपासना के लिए इन आचार्यों ने प्रत्येक मनुष्य को प्रेमपूर्ण चिन्तन करने का उपदेश दिया है। भक्ति की इस प्रणाली को अवतारोपासना भी कहा गया है।

---

१ कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते,
यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मन
सा चोत्तमा साधन रूपिका परा॥

२ अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमाना मनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रै परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्॥

दृष्टव्य—उपर्युक्त श्लोक निम्बार्क कृत दशश्लोकी ग्रंथ से उद्धृत किये गये हैं।

भक्ति और माधुर्योपासना

भक्ति अनुभूति का विषय है व्याख्या का नहीं। इसका साक्षात्कार हृदय करता है। वाणी से परम प्रियतम इष्टदेव का निरंतर नाम-उच्चारण, स्तुति से उनकी विरुदावली का गान, मन से उनके सौंदर्यमय रूप का चिन्तन तथा शरीर से उनके समक्ष प्रगट होते हुए, जो भक्त सदा अधीर, अतृप्त, विकल तथा पागल बने रहते हैं जिनके नेत्रों से भगवत प्रेम के आँसू और हृदय से प्रियतम के प्रति शरीरार्पण के भाव निकलते रहते हैं—ऐसे भक्तों की भक्ति की चर्चा वाणी का विषय नहीं हो सकती है। मोटे से पृथ्वी पर रख हुए पात्र में तैल की धार गिरने से उसमें जिस एकाग्रता, अनन्यता तथा अविच्छिन्नता का अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार सतत् चिन्तन के द्वारा भक्त को जब वह एकाग्रता, अनन्यता तथा अविच्छिन्नता भगवान् के प्रेम में प्राप्त हो जाती है तभी वह भक्ति के रसमय प्रान्त में प्रविष्ट हो गया—ऐसा समझा जाता है। इस स्थिति में पहुँचने के लिए वैसी ही दृढ़ता वांछनीय है जैसी क्षीर सागर को मथकर अमृत प्राप्त करने तक देवासुरों को थी। ईश्वर के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भगवान् के प्रति होने वाला यह अनन्य प्रेम अमृतमय है। इस प्रेम में कामना को स्थान नहीं मिलता। अस्तु, यह प्रेममयी भक्ति गुणरहित कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़ने वाली विच्छेद रहित सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अनुभव रूप है। श्री गर्गाचार्य की दृष्टि में प्रभु की कथा में प्रेम होना ही भक्ति है। महर्षि शाण्डिल्य आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होने को भक्ति कहते हैं।[1] सारांश यह कि ईश्वर के प्रति परमानुराग को ही भक्ति की संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार पत्नी अत्यंत दीर्घ काल तक विदेश में रहने वाले अपने पति के गुणों का एकाग्रता तथा अनन्यभाव से निरंतर चिन्तन मान तथा श्रवण किया

१ सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा ॥२॥ सा अमृत स्वरूपा च ॥३॥
सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥७॥
गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥५४॥
कथा दिष्विति गर्गः ॥१७॥ आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥१८॥
(नारद भक्ति सूत्र—गीता प्रेस, गोरखपुर)

करती है, उसी प्रकार अपने इष्टदेव में आसक्त होकर सदा उसी का चिन्तन करने की क्रिया को भक्ति कहते हैं। परमानन्दस्वरूप इस भक्ति के नौ प्रकार भागवत में और ग्यारह प्रकार नारद भक्ति सूत्र में प्राप्त होते हैं। भागवत् के अनुसार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन दास्य सख्य और आत्म-निवेदन है।[1] नारद भक्ति सूत्र में निम्नलिखित आसक्तियाँ हैं। गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति पूजासक्ति, स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति।[2]

श्रीमद् भागवत् में वर्णित जिस नवधा भक्ति का उल्लेख किया गया है उसे गुसाईंमतावलम्बियों ने भी माना है—इसकी अभिव्यंजना पूर्व में की जा चुकी है। वादिभक्ति मार्गों के नौ मार्गों की भाँति नवधा भक्ति के उपर्युक्त प्रकारों की अपनी अपनी विशेषता है। भक्ति की इन विभिन्न पद्धतियों में परीक्षित ने श्रवण, शुकदेव जी ने कीर्तन प्रह्लाद ने स्मरण, लक्ष्मी जी ने पादसेवन, पृथु ने पूजन, अक्रूर ने वन्दन, हनुमान ने दास्य, अर्जुन ने सख्य और राजा बलि ने आत्मनिवेदन का सहारा लिया था। गोपियों की भक्ति उपर्युक्त सभी प्रणालियों से कुछ विलक्षण प्रकार की थी, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

नारद भक्ति-सूत्र में वर्णित गुण माहात्म्यासक्ति के अन्तर्गत भक्त भगवान् के गुणों को सुनता हुआ उन्हीं का कीर्तन करता है। देवर्षि नारद व्यास, शुकदेव याज्ञवल्क्य, शेष, कामसुमुद्रि, सूत, शौनक, शाण्डिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु तथा जनमेजय इसी भक्ति से अपने इष्टदेव की आराधना करते थे। इस भक्ति में तन्मय होकर भक्त परमानन्द प्राप्त करता है।

१—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—श्रीमद्भा०, स्क० ७, अ० ५, श्लो० २३

२—गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्तिरूपाएकधाप्येकादशधा भवति॥
—नारद भक्ति सूत्र ८२

रूपासक्ति की श्रेणी में पहुँचकर भक्त को भगवान् के रूप सौन्दर्य का स्मरण होता है, साथ ही आन्तरिक तथा बाह्य—दोनों सौन्दर्य पर उसका मन आसक्त हो जाता है। व्रज की गोपियाँ राजा जनक दण्डकारण्य के ऋषि तथा मिथिला के नर-नारी इसी वर्ग में आते हैं।

पूजासक्ति भक्तिसूत्र में तीसरी प्रकार की भक्ति है। इसमें भक्त अपने इष्टदेव की कृपा प्राप्त करने के लिए अत्यंत विनम्र तथा दीन भाव से उनका विधिवत् पूजन करता है। श्री लक्ष्मी जी, राजा पृथु अम्बरीष, श्री भरत जी इस आसक्ति के साधक हैं।

स्मरणासक्ति में भक्त सांसारिक मिथ्या पदार्थों से अपने चित्त को पृथक करके बारबार अपने प्रियतम का नाम स्मरण करता है। प्रह्लाद, ध्रुव, सनकादि तथा गोपियाँ आदि इसके अन्तर्गत प्रशंसनीय हैं।

दास्यासक्ति मे भक्त अपने इष्टदेव को अपना स्वामी तथा स्वयं को दास समझता हुआ उनमें निरंतर प्रीति करता है तथा अत्यंत दीन रहता है। श्री हनुमान जी अक्रूर जी विदुर जी, इसी श्रेणी के उपासक हैं। सख्यासक्ति में भक्त अपने प्रियतम इष्टदेव से मित्रभाव रखता हुआ उनमें दृढ़ प्रीति करता है। अर्जुन उद्धव, संजय श्रीदामा आदि ऐसे ही भक्त कहे गये हैं।

कान्तासक्ति नामक सप्तम स्थान पर पहुँचने पर भक्त प्रियतम भाव से इष्टदेव को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। भगवान् की समस्त प्रेयसियाँ तथा पटरानियाँ इसके क्षेत्र में आती हैं।

वात्सल्यासक्ति में भक्त अपने को भगवान् का पितादि समझते हुए, इष्टदेव से पुत्रवत् व्यवहार करते हैं। ऐसा सुना जाता है कि कुरुपुरी में कोई वृद्ध बढ़ई वास रहता था। उसने नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण की प्रतिमा को पुत्र भाव से भजा और इस प्रकार वह नारद के उपदेश से सिद्ध हो गया[1]। इस श्रेणी में कश्यप-अदिति, सुतपा-पृश्नि मनु शतरूपा, दशरथ-कौसल्या, नन्द यशोदा तथा वसुदेव-देवकी आदि आते हैं।

आत्म-निवेदनासक्ति में भक्त अपने इष्टदेव के समक्ष अत्यंत विनम्र

---

१ तथा हि श्रूयते शास्त्रे कश्चित्कुरुपुरीस्थितः।
नन्द सूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन् ॥ ८८ ॥
नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद् वृद्धवार्द्धिकः।
—श्री हरि० रसा० पू० भा० द्वितीय ल०

तथा दीन भाव से निष्कपट होकर अपने सारे कष्टों को कह देता है तथा अत्यंत गोपनीय बात को भी प्रकट कर देता है। श्री हनुमान, राजा अम्बरीष, राजा बलि, विभीषण जी तथा गो० तुलसीदास आदि इसी कोटि के भक्त हैं।

तन्मयतासक्ति में अपने आराध्य देव पर अटूट विश्वास करते हुए भक्त की उन पर अनन्य प्रीति हो जाती है। वह प्रेम में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य को देखता भी नहीं, याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि, आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

परमविरहासक्ति में भक्त कभी तो अपने प्रियतम के चिन्तन में क्षुब्ध सा हो जाता है कभी वियोग के दुःख से रुदन करता है। वास्तव में या तो महापुरुषों का साथ न हो, यदि हो जाय तो उनसे प्रीति न हो, संयोग से यदि प्रीति हो जाय तो वियोग न हो और यदि वह हो गया तो फिर जीवनाशा भी समाप्त हो जाय, क्योंकि प्रियतम के विरह की अपेक्षा मृत्यु ही अच्छी है—[1] भक्ति की इस पद्धति के पोषक हैं उद्धव, अर्जुन तथा व्रजांगनाएँ। भक्ति की जिन ग्यारह आसक्तियों की चर्चा की गई वह महर्षि नारद के अनुसार प्रेमासक्ति के ग्यारह रूप हैं। श्रीमद्भागवत् तथा निम्बार्काचार्य की पुष्टि भक्ति से प्रभावित प्रेममयी भक्ति की एक झाँकी बंगाली भक्तों में भी देखने को मिलती है।

सन् १४८५ ई० में बंगाल प्रान्तान्तर्गत महाप्रभु चैतन्य देव का आविर्भाव हुआ। इनके संप्रदाय को गौड़ीय संप्रदाय भी कहते हैं। इनका मत अचिन्त्यभेदाभेदवाद नाम से विद्वानों में प्रख्यात है। महाप्रभु चैतन्य के इष्टदेव परम आनंद एवं रस रूप भगवान् श्रीकृष्ण थे। जिस भक्ति गंगा का प्रवाह चैतन्य के समय में गतिमान हुआ, वह अत्यंत मधुर तथा रसमय था। भगवान् कृष्ण की भक्ति ऐसी ही है क्योंकि माधुर्यभक्ति का इससे उतना ही सम्बंध है, जितना शक्ति और शक्तिमान का।

महाप्रभु ने अपनी आराधना के हेतु श्रीकृष्ण के जिस स्वरूप को चुना वे भगवान समस्त रसों की मूर्ति हैं, समस्त तारकों की कांति को क्षीण करने वाले हैं तथा ललिता और श्यामा को भी अपनाने वाले हैं। इस प्रकार राधा के

---

१ सङ्गमः खलु नो माभूद् यदि सङ्गोऽस्तु माऽस्तु स्नेहः।
स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो मास्तु जीविताशाऽपि ॥

परम प्रियतम श्रीकृष्ण समस्त गुणों के निर्माता तथा सर्वोत्कर्षशाली हैं।[1] जिसका इष्टदेव ही ऐसा हो उसकी भक्ति की तो बात ही क्या है ? ब्रह्मानंद की सर्वोच्च संख्या का मूल उस भक्ति-सुख सिन्धु के परमाणु के तुल्य भी नहीं है। सान्द्रानन्द विशेषात्मा स्थिति का यही लक्षण है। इसी को परमानंद स्वरूपिणी भक्ति भी कहते हैं। जो भक्ति भगवान् तथा उनके प्रिय जनों को भी प्रेमयुक्त करके अपने वश में कर लेती है उसे श्रीकृष्णाकर्षिणी नाम से भी संबोधित करते हैं।[2] उस प्रेमस्वरूप भक्ति के वशीभूत भ्रमर रूपी भक्त कहीं भी हो, अपने इष्टदेव रूप कमल को कभी भूल नहीं सकता।[3]

श्री कृष्ण की भक्ति तीन प्रकार की है[4]—

१ साधन भक्ति,

२ भाव भक्ति

३ प्रेमा भक्ति

साधन भक्ति

साधन भक्ति इन्द्रियों की प्रेरणा अथवा प्रयत्न से साध्य होती है इसी को कृतिसाध्य कहते हैं। यह साधन भक्ति दो प्रकार की है। वैधी और रागानुगा।[5]

---

१ अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलित श्यामा ललितो राधा प्रेयान् विधुर्जयति ॥१॥
—श्री हरिभक्ति रसामृतसिन्धु, पूर्व वि० प्रथम ल०

२ ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृत ॥१९॥
नैति भक्ति सुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ।
कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ॥२०॥
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥
—ह० भ० र० सि० पू० वि० ल०—१

३ क्वचित् भक्तिर्दुर्भाग्यात् स्यात् प्रेमसंपदः ।
न विस्मरति तथापि राजीवं भ्रमरो हरि ॥
—मु० र० भा०, २१२, ४४

४ सा भक्तिः साधनं भाव प्रेमाचेति त्रिधोदिता ।
—ह० भ० र० सि० पू० ल० २ के श्लो०—का पूर्वार्द्ध

५ वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा ॥
—वही श्लोक १ का पूर्वार्द्ध

जिस भक्ति में राग (प्रेम) के बिना ही शास्त्रों की शिक्षात्मक प्रेरणा से प्रवृत्ति हो वही वैधी भक्ति है।[1] इसमें शास्त्र का शासन विद्यमान रहता है। भगवान् का कभी विस्मृत न करना अर्थात् सर्वदा स्मरण करना—सभी वर्णों तथा आश्रमों में नित्यविधि कहा जाता है। इस विधि के नित्य होने पर एकादशी आदि के समान फल होता है। किसी अत्यंत भाग्यशाली व्यक्ति के द्वारा प्रवृत्त किया हुआ भगवान् की सेवा म श्रद्धालु व्यक्ति (जिसे न अति आसक्ति है न अति वैराग्य) इस भक्ति का अधिकारी है। अधिकारी तीन प्रकार के माने गये हैं - उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ। सब प्रकार स शास्त्र तथा प्रयत्न में निपुण दृढ़ निश्चय वाला एव प्रौढ़ श्रद्धावान् व्यक्ति ही इस भक्ति का उत्तम अधिकारी है। जो शास्त्र में निपुण नहीं है, किन्तु श्रद्धावान् है—ऐसा व्यक्ति इस भक्ति का मध्यम अधिकारी है। जो कोमल अथवा थोड़ी श्रद्धा वाला व्यक्ति है—वह इस भक्ति का कनिष्ठ अधिकारी है। इतना सब होने पर भी मुख्य तथा श्रेष्ठ अधिकारी वही है, जो भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझे। भोग तथा मोक्ष की इच्छा भक्ति सुख के लिए हानिकारक है। अस्तु भक्त को मोक्ष की कामना भी नहीं करनी चाहिए। उसे तो चाहिए—केवल इष्टदेव का अनुग्रह।

जिस वैधी भक्ति की चर्चा की जा रही है उसे शास्त्रोक्त तथा प्रबल मर्यादा से युक्त होने के कारण कुछ विद्वान मर्यादा मार्ग नाम से भी सम्बोधित करते हैं। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में आचार्य ने इस वैधीभक्ति के काय, हृषीक तथा अन्तःकरण की दृष्टि से ६४ भेद किये हैं। यह उपासना सोपाधिक भेद के क्रम से कही गयी है। इसी ग्रंथ की इस द्वितीय लहरी म भागवत में वर्णित नवधा भक्ति का भी विवेचन किया गया है, विस्तार भय से उसे न दे कर साधन भक्ति के दूसरे स्वरूप रागानुगा पर विचार किया जायगा।

व्रजवासियों द्वारा की गई भगवत-प्रीति का अनुसरण करने वाली रागात्मिका प्रीति को रागानुगा भक्ति कहते हैं। राग अर्थात् प्रेम जो राग का अनुगमन करे वही रागानुगा है।[2] प्रश्न यह है कि इसका प्रादुर्भाव तथा बोध

---

१ यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ।।६।।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ।।
—वही पूर्व विभाग लहरी २

२ विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु ।।१०।।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ।।

कैसे होता है ? रागात्मिका वृत्ति के द्वारा ही रागानुगा का प्रादुर्भाव तथा ज्ञान होता है। अपने इष्ट मे परम प्रीति करना ही राग है,[1] और तन्मयता से युक्त रागमयी भक्ति को ही रागात्मिका कहते हैं। इसके भी दो रूप हैं।[2]

(१) सम्बन्ध रूपा

(२) काम रूपा

गोविन्द में पितृत्व आदि का अभिमान—सम्बन्धरूपा भक्ति है। (वात्सल्यासक्ति में थोड़ा सा संकेत पूर्व में किया जा चुका है) यादवों की भक्ति सम्बन्धरूपा थी। कृष्ण में ईश्वर संबंधी ज्ञान की शून्यता के कारण इन सम्बन्धरूपा भक्ति के भक्तों की सम्बन्ध रूप प्रेम में प्रधानता थी अर्थात् वे कृष्ण को ब्रह्म स्वरूप नहीं जानते थे। नित्य संपर्क में रहने के कारण सम्यकरूप से नहीं विचारे गए सम्बन्ध रूप प्रेम में ही उनकी प्रधानता थी। कामरूपा भक्ति स्वयं अपने लिए संभोग-तृष्णा को उत्पन्न कर देती है। उस संभोग तृष्णा में कृष्ण के साथ उनके सौख्य के हेतु ही प्रयत्न होता है। यह कामरूपा भक्ति व्रज देवियों (गोपिकाओं) में प्रसिद्ध है। इन व्रजांगनाओं में रहने वाले भगवान् के प्रति विशेष माधुर्य से युक्त प्रेम को बुधजन काम की संज्ञा देते हैं। लौकिक दृष्टि वाला प्रेम व्रजांगनाओं में न था।

कामरूपा भक्ति के भी दो प्रकार होते हैं।[3]

(१) सम्भोगेच्छामयी कामरूपा भक्ति।

(२) तद्भावेच्छात्मिका कामरूपा भक्ति।

रसकेलि का अर्थवाली कामरूपा भक्ति को संभोगेच्छामयी कहते हैं। व्रजदेवियों के भाव माधुर्य की कामना वाली कामरूपा भक्ति को तद्भावेच्छात्मिका कहते हैं। परम प्रियतम भगवान श्री कृष्ण की माधुर्य-सीमा

---

१ रागानुगाविवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते ॥६१॥
इष्टेस्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ॥

२ तन्मयी या भवेद्भक्तिः सा'त्र रागात्मिकोदिता ॥६२॥
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा ॥'
—श्री हरिभक्ति रसामृतसिंधु, पूर्व विभाग-द्वितीय ल०

३ कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी ॥८१॥
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति सा द्विधा ॥
—ह० भ० र० सि० पू० वि० द्वितीय लहरी

को देख तथा सुनकर इस भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की भक्ति (कामरूपाभक्ति) यथार्थ में उन्हीं भक्तों के हेतु साध्य है, जिसके हृदय में व्रज की गोपियों के भाव की भाँति ही भगवान के प्रति अनुराग है।[1] पुराणों में भी यह कामरूपा भक्ति होती है—ऐसा कथन पद्मपुराण का भी है। जो भक्त सब प्रकार से रमण (संभोग) की आकांक्षा करता हुआ, इस भक्ति का नियमपूर्वक सेवन करता है, वह स्वयं महोपिस्थ रूप को धारण करता है। (उसकी उपासना अपने इष्ट के प्रति स्त्रीरूप की भाँति ही होती है) महात्मा अग्नि पुत्रों ने तपस्या के द्वारा भगवान् विष्णु को भर्ता बना कर जन्म में स्त्रीत्व को प्राप्त किया था।

भावभक्ति भगवान् के परम भक्तों तथा भक्तिशास्त्रों के द्वारा यह बात बराबर कही गई है कि भगवान् का प्रेममय चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि यही उनकी परम प्रेममयी भक्ति है। बात तो यह है कि इस प्रेममयी का स्वरूप प्रेममय होकर क्रमानुसार समझना चाहिए। परम प्रेम स्वरूप प्रियतम कृष्ण की ओर आकर्षित करने वाली जिन तीन प्रकार की भक्ति की चर्चा की गई, उसमें का एक प्रकार है—प्रेमा भक्ति। उपर्युक्त समस्त कथन साधन भक्ति का था। प्रेमा भक्ति तक पहुँचने के लिए क्रमशः भक्त को साधन भाव की स्थितियों को पार करना पड़ता है। अस्तु, भावभक्ति का संक्षिप्त विवेचन यहाँ होगा।

प्रेम की प्रथमावस्था को भाव कहते हैं। इसमें सर्व प्रथम स्वरूप आभा में पुलक अश्रु आदि होते हैं। तत्पश्चात भगवान् के चरण-कमल का ध्यान करते-करते हृदय में आर्द्रता उत्पन्न हो जाती है। इसी को भाव की संज्ञा देते हैं। हृदय में स्थित शुद्ध सत्त्वविशेष को ही बुधों ने भाव कहकर पुकारा है। साधन के अभिनिवेश से 'साधनाभिनिवेशज' तथा कृष्णादि एवं उनके भक्तों की अनुकूलता से 'कृष्णतद्भक्तप्रसादज' नाम की ये दो भाव भक्तियाँ अत्यंत भाग्यशाली भक्तों के हृदय में उत्पन्न होती हैं। जहाँ तक 'कृष्णतद्भक्त प्रसादज' का सम्बन्ध है, इसे तो विरले ही प्राप्त कर पाते हैं। साधनाभिनिवेशज भावभक्ति भी वैधी तथा रागानुगा दो भेदों से युक्त होकर विख्यात हुई है। विषयवर्णन में कृष्णतद्भक्तप्रसादज की विशेषता है। अस्तु, विस्तारभय से

---

१ तद्भावाकांक्षिणो ये स्युस्तेषु साधनताऽनयोः ॥
पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम् ॥८७॥
—ह० भ० र० सि० पू० वि० द्वितीय लहरी।

अन्य की चर्चा न करके उसी की व्याख्या करेंगे।

बिना किसी साधन के जो भावभक्ति भक्त के हृदय में श्री कृष्ण के प्रति हठात् उत्पन्न हो जाती है उसे 'कृष्णतद्भक्तप्रसादज' कहते हैं। भाव भक्ति के अंकुर के हृदय में प्रस्फुटित हो जाने पर भक्तजनों में क्षमा विरक्ति, मानशून्यता आशा, अभिलाषा, हरिनाम-गान में रुचि गुण कीर्तन आदि में आसक्ति, समय के सदुपयोग का विचार तथा हरि के निवास स्थान से प्रीति उत्पन्न हो जाती है। यह भावमयी प्रीति जिसमें लोकोत्तर चमत्कार, सर्वशक्ति मत्ता तथा उत्तमता विद्यमान रहती है, कृष्ण के प्रसाद से ही पैदा होती है। उत्तरोत्तर अभिलाष की वृद्धि करने के कारण यथार्थ स्वभाव से उष्णता को धारण करने वाली तथा दिन रात चित्त में उल्लास पैदा करने के कारण यह भक्ति प्रबल आनंद स्वरूप है। यह रति या भक्ति यथार्थ स्वभाव से उष्णता को उत्पन्न करने पर भी सुधांशु कोटि से भी अधिक स्वादमयी तथा शीतल है।[1]

प्रेमाभक्ति—

श्रीकृष्णाकर्षिणी तीन प्रकार की भक्तियों में अन्तिम रूप से प्रेमाभक्ति का विवेचन किया गया है। चित्त में सम्यक्‌रूप से आर्द्रता तथा अतिशय ममत्व को उत्पन्न कर देने वाली भाव की चरम स्थिति को प्रेम कहते हैं। यह प्रेम दो प्रकार का होता है भाव से उत्पन्न होने वाला। तथा हरि प्रसाद से उत्पन्न होने वाला।[2] भक्त के आन्तरिक अंगों के अनुशीलन से भाव स्थिति जब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है तब उसे 'भावोत्थप्रेम' की संज्ञा प्रदान करते हैं और हरि के भक्तों के सत्संग से प्राप्त होने वाली स्थिति को 'हरेरतिप्रसादोत्थ प्रेम' कहते हैं। यह हरेरति प्रसादोत्थ प्रेम भी दो भेदों से युक्त है।[3]

(१) माहात्म्यज्ञान युक्त हरेरतिप्रसादोत्थ प्रेम।

---

१ रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव ॥१३॥
उष्णत्वमपि वमन्ती सुधांशु कोटेरपि स्वाद्वी ॥
—ह० भ० र० सि० पू० भा० भाव ल०

२ भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थ श्रीहरेरिति संद्विधा ॥४॥
—ह० भ० र० सि० पू० भा० भाव ल० से उद्धृत

३ माहात्म्यज्ञानयुक्तश्चकेवलश्चेति स द्विधा ॥४॥
—वही प्रेमाभक्ति लहरी

(२) केवल हरेर्रतिप्रसादोत्थ प्रेम ।

माहात्म्यज्ञान से पूर्ण स्नेह सुदृढ़ तथा सर्वाधिक मात्रा में होता है। उपदेश रहित, अविच्छिन्न प्रेम में युक्त मन की गति वाली भक्ति 'केवल' कहलाती है। वैधी मार्ग के भक्तों में माहात्म्यज्ञानयुक्त प्रेमाभक्ति होती है। यह प्रेमाभक्ति क्रमश: श्रद्धा, सत्संग भजन क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा रुचि, आसक्ति तथा भाव के उपरांत भक्त के हृदय में स्फुरित होती है।[1] यथार्थ में वह धन्य है, जो इस प्रेममयी स्थिति में पहुँच गया। भगवान् के प्रेम में उन्मत्त भक्त, जब परम आनंद से युक्त होकर सुख-दुःख का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता तभी उसे प्रेम की चरम स्थिति में पहुँचा हुआ जानना चाहिए।[2] यही केवल 'हरे रति प्रसादोत्थ प्रेम' कहलाता है।

उपर्युक्त जिस प्रेम की चर्चा चल रही है, उसमें भक्त को जब परम प्रियतम का नेत्रों से दर्शन करने, शरीर से स्पर्श करने, मन से गुणों का श्रवण करने तथा उनके साथ वार्तालाप करने से गुदगुदी का अनुभव हृदय में होता है और हृदय द्रवित हो जाता है—तब ऐसी प्रक्रिया को प्रेम कहते हैं।[3] इसके प्रति अत्यंत लोलुप तथा लोभी बनने की आवश्यकता होती है, तभी यह प्राप्त होता है। जो इष्टदेव प्रियतम सुख-दुख में निरन्तर साथ रहता है, समस्त स्थितियों में सर्वदा अनुकूल रहता है, उसके हृदय में निवास करने का पात्र है, सदा किशोर बना रहता है, काल की गति जिसे परिवर्तित नहीं कर सकती तथा जो सदैव प्रेममय है—उसके प्रेम का पात्र अत्यंत भाग्यवान् ही होता है। प्रेममयी भक्ति

---

१ आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजन क्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्ति स्यात्ततोनिष्ठारुचिस्ततः ॥६॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ॥७॥
—श्री हु० भ० र० सि० पू० वि० चतुर्थ ल०

२ भावोन्मत्तो हरेः किञ्चिन्न वेद सुखमात्मनः।
दुःखंचेति महेशानि ! परमानन्दमाप्लुतः ॥
—नारद पांचरात्र

३ दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यन्तरंगंसस्नेह, इति कथ्यते ॥
—पु० र० मा० ९२-११

होती है। जिस समय वही प्रियतम अपने भक्त के द्वारा देवाधिदेव के रूप में पूजा जाता है, तब उसकी माधुर्यउपासना में सेवकत्व (दास्य) का समावेश होता है। जब वही भक्त अपने कार्य संचालन की दृष्टि से कोई परामर्श चाहता है तभी उसकी माधुर्यउपासना में सख्य का सम्मिश्रण हो जाता है। जब वह भक्त अपने भगवान् को अत्यंत प्रेम से उत्तम सत्कार के साथ विनम्रता पूर्वक भोजनादि देता है तो उसकी माधुर्य उपासना में वात्सल्य की व्याप्त होती है। (भोजन कराते समय माता पिता अत्यंत वात्सल्य के साथ पुत्र को देखते हैं) और जब वही भक्त परम प्रेममय होते हुए परमानन्दस्वरूप तथा परम सौन्दर्य राशी अपने परमात्मा रूपी प्रियतम के साथ आनंद रस का आस्वाद लेता है, तो वह माधुर्य भक्ति की अत्यंत माधुर्यात्मक स्थिति में पहुँच जाता है। उपर्युक्त सभी लक्षण परम प्रेम रूपा गोपियों की माधुर्य भक्ति की उपासना में निस्संदेह उपलब्ध हो जाते हैं। श्रीकृष्ण के प्रति इसी माधुर्य भक्ति से अपने प्रेम को प्रकट करने वाली भक्त गोपियाँ अपने प्रियतम को मान सम्मान के साथ परम प्रिय वस्तु देती हैं प्रेम से दी हुई प्रियतम की भेंट को प्रेम से लेती हैं, अपनी अत्यंत गोप्य बात उनसे कहती हैं तथा प्रियतम की गोप्यतम बातों को पूछती हैं और स्वयं प्रीतिपूर्वक अपने यहाँ भोजन भी कराती हैं तथा उनके यहाँ स्वयं भी भोजन पाती हैं। इस प्रकार ६ विधियों से वे अपनी उपासना को परिपुष्ट करती हैं।[1]

सभी पुरुषार्थों का अवलम्ब त्याग कर भक्त को व्रज की परम प्रेमरूपा गोपिकाओं के समान अनन्य भाव से प्रियतम कृष्ण की उपासना करना चाहिए। उपासना की यही सर्वोत्तम तथा रसमय प्रणाली है। साधन भक्ति के अन्तर्गत रागानुगा की भावरूपा स्थिति को पार करते हुये परम प्रियतम कृष्ण का प्रेममय भाव प्राप्त कर जिस प्रकार भक्त समस्त साधनों से ऊपर परम रसमयी माधुर्य उपासना में तत्काल पहुँच जाता है और अपने आराध्य देव का साक्षात्कार करता है— उसी क्रिया तथा उपासना की चर्चा ऊपर प्रस्तुत की गई है—

---

१ ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति लक्षणम् ॥

— मु० र० भा० १११।०६

परा भक्ति—

भक्तिग्रन्थों में यथास्थान पराभक्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह पराभक्ति माधुर्यभक्ति ही है। क्योंकि इसी स्थान पर पहुँच कर प्रेमी प्रेम तथा प्रियतम का भेद मिट जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस उपासना की सर्वोच्चता का एक कारण और भी है। यह मानव शरीर पंचकोषों से युक्त है। वे कोष हैं— १ अन्नमय कोष २ प्राणमय कोष, ३ मनोमय कोष, ४ विज्ञानमय कोष, ५ आनंदमय कोष।[1]

इन कोषों की उपासना के पाँच स्तर भी कहत हैं। वेदों में जिस ईश्वर की भावना पुरुषरूप में की गई, उसी की उपासना के ये प्रकार हैं। इस रसमय परमात्मा की उपासना द्वारा प्राप्त अन्नमय कोष का रस अत्यंत स्थूल होता है। प्राणमय कोष का रस अत्यंत विकारयुक्त तथा इन्द्रियों को क्षोभ प्रदान करने वाला है, मनोमय कोष का रस उपर्युक्त दोनों रसों से कुछ सूक्ष्म तथा मन के अवलम्ब से अनुभव में आता है। विज्ञानमय कोष के रसानंद का स्वाद बुद्धि से प्राप्त होता है यह रस उपर्युक्त तीनों से अधिक सूक्ष्म है। अन्त में उपासना द्वारा प्राप्त आनंदमय कोष के रसास्वादन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभव आत्मा के सम्पर्क से भक्त को होता है। यही माधुर्यभक्ति का सर्वश्रेष्ठ रस है। इसका आस्वाद विभिन्न प्रकार से विभिन्न भावों से युक्त होकर भक्त जन करते हैं। यह माधुर्य आत्मा का ही धर्म है, जड़ जगत का पदार्थ नहीं। इसकी उपासना के अवलम्ब से परमानंदमय प्रियतम भगवान कृष्ण के साक्षात्कार के आनन्द का रस मिल जाता है क्योंकि यह माधुर्य उपासना आनंद की ही उपासना है, आनंद के ही लिए है और आनंद से ही होती है। इस उपासना में भक्त के लिए पाँच बातें ध्यान देने योग्य हैं, यथा —

१ परम प्रियतम इष्टदेव के स्वरूप की निरंतर अनुभूति।

२ इष्टदेव के प्रति प्रियतम भाव में दृढ़ता।

३ भगवत् प्रीत्यर्थ अपने का समस्त कार्यों का निरंतर संचालन।

४ प्रियतम के प्रति समस्त प्रदान करने की निरंतर भावना।

---

१ अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्
मनो ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ॥
—तैत्तिरीयोपनिषद्

५. सर्वदा जीवन इष्टदेव के प्रति परितोष देने वाला हो—ऐसी भावना।

माधुर्योपासना की दृष्टि से उपर्युक्त सभी बातें कृष्ण की परम प्रिय सभी व्रजांगनाओं में दृष्टिगोचर होती हैं और राधा तो उनमें सर्वश्रेष्ठ तथा स्वयं माधुर्यस्वरूप ही हैं।[1]

काव्य के क्षेत्र में शृंगाररस की भाँति ही, भक्ति के क्षेत्र में माधुर्य भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मधुर रसपूर्ण कहा गया है। भक्त के हृदय में अपने योग्य विभावादिकों से परिपुष्ट होकर माधुर्यमयी रति ही अपने स्वरूप को माधुर्य रस में परिवर्तित कर देती है। इस सर्वश्रेष्ठ रस में भगवान् कृष्ण तथा उनकी सुन्दर कटाक्ष वाली प्रियाएँ आलम्बन होती हैं। अनुपम सौन्दर्य, लीला, वैदग्ध्य आदि संपत्तियों के आश्रय प्रियतम कृष्ण उनके आलम्बन हैं।[2] इस माधुर्यभक्तिरस में मुरली की ध्वनि आदि उद्दीपन कहे जाते हैं[3] और भगवान् तथा गोपियों के कटाक्ष तथा मुस्कान आदि अनुभाव माने जाते हैं।[4] इसमें आलस्य तथा उग्रता को छोड़कर सभी व्यभिचारी होते हैं।[5] और पूर्व की मधुरा रति ही इस रस का स्थायी भाव कही जाती है।[6] मधुरा रति सर्वदा अविच्छिन्न रहती है। काव्य शास्त्र के रस की प्रक्रिया की भाँति यह माधुर्य भक्ति-रस भी ऊपर वर्णित सभी भावों से परिपुष्ट होकर भक्ति के क्षेत्र में पूर्णत्व

१ प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी ।।५।।
—भक्ति रसामृतसिन्धु, पृ० ४२७

२ असमानोर्ध्वसौन्दर्य लीला वैदग्ध्य सम्पदाम् ।।३।।
आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः ।।
—वही, पृष्ठ ४२६

३ उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरलीनिस्वनादयः ।।
—वही पृष्ठ ४२८

४ अनुभावास्तु कथिता दृगन्तोत्तस्मितादयः ।।२।।
—वही, पृष्ठ ४२८

५ आलस्यौग्र्ये विना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः ।।
—वही, पृष्ठ ४२९

६ स्थायीभावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरारतिः ।।६।।
—वही पृष्ठ ४१९

को प्राप्त हो जाता है। माधुर्य के दो विभाग हैं। संयोगमाधुर्य और वियोग माधुर्य। इसमें भी संयोग माधुय दो प्रकार का होता है।

१ मुख्य संयोग माधुर्य

२ गौण संयोग माधुय

जाग्रत अवस्था के संयोग–माधुर्य का मुख्य संयोग माधुय कहते हैं। यह संयोग माधुय चार प्रकार का होता है। यथा—

(१) संक्षिप्त मुख्य संयोग माधुय

(२) संकीर्ण मुख्य संयोग माधुर्य,

(३) संपन्न मुख्य संयोग माधुर्य,

(४) समृद्धिमान मुख्य संयोग माधुय

जिस संयोग में प्रिया तथा प्रियतम भय लज्जा आदि से संक्षिप्त उपचारों का प्रयोग करें उसे संक्षिप्त सयोग माधुर्य कहते हैं।

जिस संयोग में प्रियतम द्वारा किये गये विपरीत आचरण के स्मरण आदि से संकीर्ण उपचार होते हैं (यह संयोग माधुर्य रस किंचित तपे हुये गन्ने के रस के समान स्वाद वाला होता है) उसे संकीर्ण मुख्य संयोग माधुर्य कहते हैं।

प्रियतम के मिलन पर होने वाल संयोग को सपन्न मुख्य सयोग माधुर्य की संज्ञा दी गयी है। यह 'आगति' तथा प्रादुर्भाव भेद से दो प्रकार का होता है। लौकिक व्यवहार के साथ आगमन को आगति कहते हैं। प्रेम से व्याकुल प्रियाओं के समक्ष श्रीकृष्ण का अकस्मात प्रकट हो जाना ही प्रादुर्भाव नाम से विख्यात है। रूढ़ नामक भाव से इस संयोग की उत्पत्ति होती है, जो परमानंद की चरम सीमा है। (इसकी चर्चा आगे की जायगी)

दुर्लभ दर्शन वाले तथा परतंत्रता से वियुक्त होने वाले प्रियतम तथा प्रिया का संगम के अवसर पर किया गया उपभोगातिरेक ही समृद्धिमान मुख्य संयोग माधुर्य के नाम से विख्यात है।

गौण संयोग माधुर्य श्री कृष्ण का स्वप्न में विशेष मिलन-सुख ही गौण सयोग माधुय कहलाता है। यह भी चार प्रकार का होता है। यथा–

(१) स्वप्नान्तर्गत संक्षिप्त गौण संयोग माधुर्य

(२) स्वप्नान्तर्गत संकीर्ण गौण संयोग माधुर्य

(३) स्वप्नान्तर्गत संपन्न गौण सयोग माधुर्य,

(४) स्वप्नान्तर्गत समृद्धिमान गौण संयोग माधुर्य,

उपर्युक्त गौण संयोग माधुर्य की क्रियाएं स्वप्न में ठीक उसी प्रकार से होती हैं जिस प्रकार से मुख्य संयोग माधुर्य में प्रत्यक्ष रूप से होती हैं।

वियोग माधुर्य—

प्रियतम तथा प्रिया के एक साथ रहने पर या अलग अलग रहने पर परस्पर अभीष्ट आलिंगन आदि की अप्राप्ति में जो भाव प्रकर्षता को प्राप्त करता है—संयोग रस माधुर्य में वृद्धि करने वाले उसी भाव रस को वियोग माधुर्य कहते हैं। बिना वियोग माधुर्य रस के संयोग रस माधुर्य उसी प्रकार पुष्ट नहीं होता है, जिस प्रकार बिना गर्म पानी में कपड़े को औटाये कपड़े का रंग पक्का नहीं होता है। यह वियोग माधुर्य रस पूर्वराग मान, प्रेम वैचित्य तथा प्रवास भेद से चार प्रकार का माना गया है।

संगम से पूर्व दर्शन, श्रवण आदि से उत्पन्न होने वाले प्रेमी तथा प्रिय के रसास्वाद को ही पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य कहा जाता है। यह पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य तीन प्रकार का होता है, यथा—

(१) प्रौढ़ पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य,
(२) समञ्जस पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य
(३) साधारण पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य

प्रौढ़ पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य—

जिस पूर्वराग में समर्था रति होती है, उसे प्रौढ़पूर्वराग कहते हैं, और उससे उत्पन्न माधुर्य ही प्रौढ़पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य कहलाता है। इसमें साधक दस लक्षणों से युक्त होता है, यथा लालसा उद्वेग, जागरण कृशता, जड़ता व्यग्रता व्याधि उन्माद मोह तथा मरण। अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा से युक्त अत्यन्त उत्कण्ठा का नाम ही लालसा है इसमें उत्सुकता चपलता घूर्णा श्वास आदि क्रियायें होती हैं। मन के कंप को 'उद्वेग' कहते हैं, उसमें निःश्वास ज्वर, स्तम्भ, चिंता अश्रु वैवर्ण्य स्वेद आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। निद्रा के नाश को जागरण कहते हैं इसमें स्तंभ रोग आदि क्रियाएँ प्रतीत होने लगती हैं। तानव, शरीर की कृशता का दूसरा नाम है, इसमें शारीरिक दुर्बलता भ्रमण आदि लक्षण देखने में आते हैं। इष्ट अनिष्ट का ज्ञान न होना प्रश्नोत्तर न देना तथा दर्शन-श्रवण का अभाव ही जड़ता है, इसमें असमय में ही हुंकार, स्तम्भ श्वास, भ्रम आदि क्रियाएँ होती हैं। भाव की गंभीरता से विक्षोभ की असह्यता का नाम ही व्यग्रता है। इसमें

अविवेक, निर्वेद, खेद, असूया आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। अभीष्ट वस्तु के अलाभ से शरीर में होने वाले उत्ताप तथा पीलेपन को व्याधि की संज्ञा दी गई है। ऐसी वस्तु की स्पृहा, मोह, निश्वास, ताप आदि इसमें प्रमुख रूप से दिखलाई देते हैं। सब जगह सभी अवस्थाओं में सर्वदा प्रियतममयता से अतद् वस्तु में तद्वस्तु की भ्रान्ति को उन्माद कहते हैं इष्ट से द्वेष, निश्वास तथा निमेषविरह उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। अचेतन अवस्था को मोह कहते हैं इसमें निश्चलता, पतन आदि लक्षण जान पड़ते हैं और जब सब प्रकार के उपायों से प्रियतम का समागम नहीं होता, तब मधुर प्रेमाभिलाष की व्यथा से मरण की तैयारी हो जाती है—इसी का नाम मरण है इसमें अपनी प्रिय वस्तुओं का अपने प्रिय जनों को देना आदि क्रियायें होने लगती हैं। इन स्थितियों तथा क्रियाओं से उत्पन्न आनन्द ही प्रौढपूर्वरागोत्पन्न माधुर्य कहलाता है।

समंजस पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य—

समंजस पूर्व रागोत्पन्न माधुर्य में समंजसा रति की प्रधानता होती है इस रति से उत्पन्न जो रस है, उसी का नाम समंजस पूर्वरागोत्पन्नमाधुर्य है। इसमें भी साधक अभिलाषा चिन्ता स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मृति से युक्त हो जाता है, यथा प्रियसंगम की लिप्सा से किए गये व्यवसाय को अभिलाष कहते हैं, इसमें निज शृंगार, प्रियतम का सामीप्य, रागप्रकाशन आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के उपायों का ध्यान करना ही चिन्ता कहलाता है, शैय्या पर व्याकुलता, निश्वास तथा बिना लक्ष्य के देखना आदि क्रियायें इसमें प्रमुख रूप से देखी जाती हैं। अनुभव किये हुए प्रियतम आदि विषयों के चिन्तन का नाम स्मृति है, कम्प, शैथिल्य तथा निश्वास आदि इसके लक्षण हैं। प्रियतम के सौन्दर्य आदि गुणों की प्रशंसा करना ही गुण कीर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है। कंठ की गद्‌गद्‌ता, कंपन तथा रोमांच इसमें विशेष रूप से होते हैं। शेष लक्षण प्रौढ़ पूर्वरागोत्पन्न मधुर्य वाले विभाग की भांति ही होते हैं। अस्तु उनका यहाँ लिखना पुनरावृत्ति ही होगी। इन स्थितियों तथा क्रियाओं से उत्पन्न रस ही समंजस रागोत्पन्न माधुर्य नाम से कहा जाता है।

साधारण पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य—

साधारण पूर्वरागोत्पन्न माधुर्य उसे कहते हैं, जिसमें साधारणी रति होती है। अभिलाषा, चिन्ता स्मृति, गुणकथन उद्वेग तथा विलाप—ये छै

यथार्थ इसमें भी साधक की होती है किन्तु कोमल रूप में ही देखी जाती है।

मान—

एक स्थान पर रहने वाले तथा परस्पर अनुरागी प्रेमी तथा प्रियतम के अभीष्ट पारस्परिक आलिंगन तथा अवलोकन आदि का निरोध करने वाले तत्व को मान कहते हैं। इस मान से अन्तरतम में जिस रसानंद का अनुभव होता है—उसी का नाम है 'मानोत्पन्न माधुर्य'। इस मान की महत्ता प्रणय में ही निहित है। और यह मान सहेतु तथा निर्हेतु भेद से दो प्रकार का होता है। सहेतुमान में प्रियतम के द्वारा अपने विपक्ष आदि में विशेषता पाने पर होने वाली ईर्ष्या ही हेतु होती है, अस्तु इसे ईर्ष्यायुक्त मान या सहेतु मान कहते हैं। मान का यह भेद प्रिया तथा प्रियतम दोनों के प्रेम का प्रकाशक होता है। विपक्ष की विशेषता तीन प्रकार की होती है यथा श्रुत अनुमित तथा दृष्ट। प्रिय सखी तथा शुक आदि के मुख से विपक्ष की विशेषता का नाम ही श्रुत है। अनुमान से विपक्ष की विशेषता का आभास ही अनुमित है और दर्शन से उत्पन्न होने वाला मान दृष्ट कहलाता है। इस प्रकार श्रुत से उत्पन्न होने वाला श्रुत सहेतुक मान, अनुमित से उत्पन्न होने वाला अनुमित सहेतुक मान तथा दृष्ट से उत्पन्न होने वाला दृष्ट मान कहलाता है।

निर्हेतुक मान प्रणय का सर्वोत्कृष्ट विलास-वैभव है, इसे प्रणय मान भी कहते हैं। कारण के अभाव से तथा कारण के आभास मात्र से प्रिया-प्रियतम का उत्कृष्टरूप से होने वाला प्रणय ही निर्हेतुक मान बन जाता है। सांप की गति के समान प्रेम की गति स्वभाव से ही कुटिल होती है, इसी लिए हेतु या निर्हेतु दोनों प्रकार से प्रेयसी में मान उत्पन्न हो जाता है। यह निर्हेतुक मान प्रिया-प्रियतम के आलिंगन तथा मुस्कान पर्यंत ही रहकर शान्त होता है।

मान के कारण के तारतम्य से मान का भी तारतम्य होता है। इस दृष्टि से भी लघु, मध्यम तथा महिष्ठ भेद से मान तीन प्रकार का है। लघुमान सुसाध्य होता है मध्यमान यत्नसाध्य होता है और महिष्ठमान बड़े उपाय से भी दुःसाध्य होता है।

प्रिय के निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के स्वभाव से अपने में वियोग बुद्धि के द्वारा भ्रम से जो पीड़ा होती है उसे प्रेमवैचित्य कहते हैं। इस प्रेम वैचित्यमुत्पन्न वेदना में जो रस इस आत्मा को प्राप्त होता है उसी का नाम है

'प्रेम वैचित्त्योत्पन्न माधुर्य'।

प्रिया तथा प्रियतम का देशान्तर गमनादि से जो वियोग उपवर्तन हो जाता है—उसी का नाम प्रवास है तथा इस प्रवास से उत्पन्न प्रिय तथा प्रियतम के हृदय में उठने वाली टीस की रसानुभूति का नाम प्रवासोत्पन्न माधुर्य है। यह प्रवास दो प्रकार का होता है, यथा—

१—बुद्धिपूर्वप्रवास

२—अबुद्धिपूर्वप्रवास

कार्य की विवशता से दूर गमन को बुद्धिपूर्वप्रवास कहते हैं। इसमें किंचित दूर गमन भी होता है और सुदूर गमन भी। सुदूर गमन भावी, भवन, तथा भूत भेद से तीन प्रकार का माना गया है। भावी सुदूरगमन में प्रियतम के जाने की घोषणा का श्रवण होता है। शेष शब्द स्वयं ही अपने अर्थ के प्रतिपादक हैं।

परवशता से होने वाले प्रवास को अबुद्धिपूर्वप्रवास कहते हैं। इस प्रवास में भी चिंता, जागरण उद्वेग कृशता मलिनांगता प्रलाप, व्याधि, उन्माद मोह तथा मृति—दस दशायें हो जाती हैं। ये दशायें प्रिया-प्रियतम दोनों के लिए हैं। इन दशाओं से उत्पन्न मन के आनन्द को यहाँ पर 'प्रवासोत्पन्न माधुर्य' की संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त विवरण भक्ति में माधुर्योपासना के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया गया। इसी क्रम में यदि थोड़ा सा विचार माधुर्य की उत्कृष्टता के विषय में भी कर लिया जाय तो कदाचित् विषयान्तर न होगा। जिस प्रकार बीज रूप गन्ने में रस रस से गुड़ गुड़ से खांड, खांड से शक्कर शक्कर से मिश्री और मिश्री से परम मधुर ओला बन जाता है ठीक उसी प्रकार रति से प्रेम प्रेम से स्नेह, स्नेह से मान मान से प्रणय, प्रणय से राग राग से अनुराग और अनुराग से महाभावस्वरूप परमोत्कृष्ट तथा परम माधुर्य रस का जन्म होता है। परम माधुर्य के सम्बन्ध में बीज रूप रति की चर्चा अन्यत्र की जायगी यहाँ प्रेम से ही विषय का प्रतिपादन श्रेयस्कर होगा। ध्वंस के कारण के रहने पर भी सर्वथा ध्वंस से रहित जो प्रिया तथा प्रियतम का भाव-बंधन होता है—उसे प्रेम कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है यथा—

१—प्रौढ़ प्रेम

२—मध्यम प्रेम,

३—मंद प्रेम

प्रियतम के विसमय करने पर इस साधक की चित्तवृत्ति को न जान सकने वाली विरहिणी प्रिया के प्रति प्रियतम के सहानुभूतिपूर्ण मनस्ताप को प्रौढ़ प्रेम कहते हैं। अपनी प्रिया की अपेक्षा दूसरी प्रेयसी से करने वाले प्रेम को मध्यम प्रेम कहते हैं। और सर्वदा परिचित होने या अत्यंत निकट रहने आदि के कारण उपेक्षा तथा अपेक्षा से रहित जो प्रेम होता है—उसे मन्द प्रेम कहते हैं। व्रज में मन्द प्रेम देखने में नहीं आता है। प्रौढ़ प्रेम में निरंतर वियोग की असहनशीलता ही रहती है। जिस प्रेम में वियोग की सहनशीलता बड़ी कठिनाई से होती है—उसे मध्यम प्रेम कहते हैं और कृष्ण सम्बन्धी किसी आवश्यक कार्य के करने में यदि विस्मरण हो जाय तो वहाँ पर मंद प्रेम होता है।

प्रेम की उपलब्धिरूप दीपक को उद्दीप्त करने वाला प्रेम ही परा काष्ठा को प्राप्त कर हृदय को द्रवित करता हुआ स्नेह की संज्ञा को प्राप्त करता है। इस स्नेह के उदय हो जाने पर दर्शनादि में कभी भी तृप्ति नहीं होती है। यह स्नेह घृत तथा मधु भेद से दो प्रकार का होता है। अत्यन्त आदरमय स्नेह कहते हैं, जो भावान्तरों से युक्त होकर ही अत्यन्त सुस्वादुमय बनता है अन्यथा नहीं।

परस्पर आदर से यह स्नेह घनीभूत होता है तभी उसका नाम है—घृत स्नेह। प्रिय में अपनत्व के आधिक्य से युक्त स्नेह को मधुस्नेह कहते हैं। जहाँ पर प्रेयसी अपने को प्रियतम का ही समझती है वहाँ मधुस्नेह होता है, जहाँ पर माधुर्य स्वयं प्रकट रहे तथा नाना रसों का जिसमें समाहार हो और आनंद की मत्तता की उष्णता विद्यमान हो—ऐसे स्नेह को मधुस्नेह कहते हैं।

जब स्नेह ही उत्कृष्ट बनकर नवीन माधुर्य को प्राप्त करता हुआ कुटिमता को धारण कर लेता है तब उसे मान कहते हैं। यह मान उदात्त तथा ललित भेद से दो प्रकार का होता है। घृतस्नेह ही पूर्वक्रम परिपाटी वाले दाक्षिण्य से युक्त अदाक्षिण्य को तथा कहीं-कहीं पर वाम्य मय अदाक्षिण्य को धारण करता हुआ उदात्तमान कहलाता है। स्वतन्त्रता से परिपूर्ण कुटिलता को तथा नर्मविधान को धारण करने वाला मधुस्नेह ही ललितमान कहा जाता है। पूर्ववर्णित मान की यह चरम कोटि है। अभिमत्व का बोध धारण करने वाला मान ही प्रणय के नाम से विख्यात है। यह प्रणय जिसके उत्कर्ष से

जिस में रहने वाला अतिशय दु:ख भी सुख देने वाला समझा जाय — उस राग कहते हैं। यह राग नीलिमा तथा रक्तिमा भेद से दो प्रकार का होता है। नाश की संभावना से रहित, बाहर स प्रत्यंत प्रकट न होने वाला तथा दूसरे भावों को छिपाने वाला राग नीली राग कहलाता है। यह राग श्रीकृष्ण तथा चंद्रावली दोनों म देखा जाता है। नीलिमा से युक्त, नीली राग से कुछ अधिक प्रकाशमान होने वाला तथा चिरकाल म प्राप्त होने वाला श्यामा राग कहलाता है। कुसुम्भ तथा मंजिष्ठा से उत्पन्न होने वाला रक्तिमा राग भी उक्त भेद से दो प्रकार का होता है। कुसुम्भ रक्तिमा राग उसे कहते हैं, जो चित्त मे अति शीघ्र व्याप्त हो जाय और अन्य राग की कांति स प्रकट हो तथा यथोचितरूप स शोभायमान हो। यह राग विशेष सुन्दर पात्र म स्थिर रहता है। इसलिए कृष्ण के प्रेमी जनों म इसकी मलिनता नहीं हो सकती। कभी नाश न होने वाला स्वयं प्रकाशमान तथा अपनी कांति स सर्वदा बढ़ने वाला राग मंजिष्ठ राग कहा जाता है जैसे राधा तथा श्रीकृष्ण का राग। जो राग क्षण-क्षण म नवीनता को प्राप्त करता हुआ सर्वदा अनुभव किये गये प्रिय को भी प्रतिक्षण नूतन करता है—उसे अनुराग कहते हैं। एक दूसरे के वश में रहना, विविध प्रकार का प्रेम होना, प्रेमी से सम्बंध रखने वाली निर्जीव वस्तु में भी जन्म लेने की अत्यंत लालसा होना तथा विप्रलंभ रस म अनुराग की अत्यंत वृद्धि आदि लक्षण अनुराग में होते हैं। प्रकाशित होकर अनुराग ही स्वसंवेद्य दशा को प्राप्त होता हुआ सभी साधक तथा सिद्धभक्तों म रहकर भाव कहलाता है। यह भाव श्रीकृष्ण की महिषियों को भी अत्यंत दुर्लभ है तथा व्रजदेवियों के ही एक मात्र अनुभव योग्य होकर महाभाव नाम म कहा जाता है।[१] श्रेष्ठ अमृत के समान शोभाशाली यह महाभाव मन को अपने स्वरूप में प्राप्त करा देता है और माधुर्य की सर्वोत्कृष्टता को प्रतिपादित करता है। इसके दो प्रकार होते हैं, यथा —

(१) रूढ़ महाभाव
(२) अधिरूढ़ महाभाव

जिस भाव की स्थिति म सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं—उसे रूढ़ महाभाव कहते हैं। पलक मारने की असह्यता, निकटस्थजनों के हृदय को द्रवित करना, कल्प को एक क्षण के समान जानना, प्रियतम के सुख में भी दुःखाशंका

१ उज्ज्वल नीलमणि-स्थायी भाव प्रकरण

से खिन्न हो जाना, मोह आदि के अभाव में भी समस्त वस्तुओं का विस्मरण होना, क्षण को एक कल्प के समान जानना इत्यादि क्रियाएँ रूढ़ महाभाव के अन्तर्गत होने वाले संयोग तथा वियोग दोनों में होती हैं। इस रूढ़ में वर्णित सभी अनुभावों से अनोखी विशेषता को प्राप्त करने वाले अनुभाव जहाँ होते हैं वहाँ अधिरूढ़महाभाव होता है। इस अधिरूढ़ महाभाव के भी दो प्रकार होते हैं, यथा—[1]

(१) मोदन अधिरूढ़ महाभाव

(२) मादन अधिरूढ़ महाभाव

मोहन अधिरूढ़ महाभाव उसे कहते हैं, जिसमें सात्विक का उद्दीप्त सौष्ठव हो। इस मोदन में अपनी कान्ताओं से युक्त रहने पर भी श्री कृष्ण के हृदय में अतिशय विक्षोभ का होना, प्रेम की विशाल सम्पत्ति से विख्यात कान्ताओं के समक्ष मोदन भाव में रहने वाली का परम उत्कर्ष से युक्त होना आदि क्रियाएँ होती हैं। यह मोदन भाव राधिका के ही यूथ में होता है, सर्वत्र नहीं। इसको ही परम प्रिय श्रेष्ठ तथा शोभाशाली ह्लादिनी शक्ति का सुन्दर विलास माना गया है। यही मोदन भाव अति वियोगावस्था में मोहन बन जाता है।[2] और इस मोहन अवस्था में विरह की विवशता के कारण सात्विक भाव पूर्णरूपेण उद्दीप्त को प्राप्त हो जाते हैं। इस मोहन के भाव में कान्ता से युक्त गोविन्द में मूर्च्छा पैदा करना, असहनशील दुःख को सहकर भी प्रियतम के सुख की कामना करना, ब्रह्माण्ड में क्षोभ पैदा करना, पशुपक्षियों को भी द्रवित कर देना, मृत्यु स्वीकार करके पंचमहाभूतों के रूप में हो जाने पर भी प्रियतम के संग की तृष्णा करना तथा दिव्य उन्माद आदि क्रियाएँ होती हैं। यह मोहन भाव प्रायः वृन्दावनेश्वरी में ही विलसित होता है।

मोहन भाव के अनिर्वचनीय अवस्था में प्राप्त होने पर भ्रमयुक्त किसी वैचित्र्य रूप दिव्योन्माद का जन्म होता है। इस दिव्योन्माद के दो प्रकार होते हैं। यथा—

(१) उद्घूर्णा

(२) चित्रजल्प[3]

नाना प्रकार की विवशता की विलक्षण चेष्टा का नाम ही—उद्घूर्णा है।

१ उज्ज्वलनीलमणि—स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० १ ८

२ उज्ज्वलनीलमणि—स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० १६४

३ उज्ज्वलनीलमणि—स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० १७४

यह उद्घूर्णा विरह में ही संभव है। प्रियतम के सखा के दर्शन होने पर छिपे हुए रोष से युक्त अत्यंत भावनामय तथा तीव्र उत्कंठा से युक्त मण्डित कथन को चित्रजल्प कहते हैं। यह चित्रजल्प दस प्रकार का होता है,[1] यथा—

१ प्रजल्प
२ परिजल्पित
३ विजल्प,
४ उज्जल्प,
५ संजल्प,
६ अवजल्प
७ अभिजल्पित,
८ आजल्प
९ प्रतिजल्प
१० सुजल्प,

भागवत के दशम् स्कंध में यह चित्रजल्प भ्रमर गीत नाम से विख्यात है। यद्यपि यह चित्रजल्प असंख्य भावों से युक्त तथा चमत्कारों की बहुलता से परिपूर्ण है, तथापि थोड़ा वर्णन यहाँ अपेक्षित है।

असूया, ईर्ष्या, मद तथा अवधीरणा की मुद्रा से प्रियतम के अकौशल के उद्गार के कथन को प्रजल्प कहते हैं।

प्रभु की निर्दयता, शठता, चपलता आदि का प्रदर्शन करते हुए चक्र-गति से अपनी विचक्षणता को व्यक्त करना परिजल्पित कहलाता है।

भ्रमर तो गूढ़मान से युक्त किन्तु प्रकट रूप में असूया से श्री कृष्ण के प्रति कटाक्षमयी उक्ति को विजल्प कहते हैं।

गर्व से युक्त ईर्ष्या के साथ श्री कृष्ण की कुहटकता का कथन तथा असूया के साथ श्री कृष्ण पर किया जाने वाला आक्षेप उज्जल्प नाम से कहा जाता है।

गहन उल्लुण्ठना से युक्त आक्षेप की मुद्रा से उस कृष्ण की अकृतज्ञता आदि के कथन को संजल्प नाम की संज्ञा दी जाती है।

ईर्ष्या तथा भय से श्री कृष्ण के प्रति कठोरता, कामित्व, धौर्त्य तथा आसक्ति की अयोग्यता आदि का कथन ही अवजल्प कहलाता है।

---

१ उज्ज्वल नीलमणि—स्थायी भाव प्रकरण श्लोक सं० ४८५

पक्षियों के समान सज्जनों को खेद पहुंचाने वाले उस श्रीकृष्ण के
त्याग के औचित्य को वक्रमति से पश्चाताप के साथ दिखलाना ही अभिजल्पित
कहलाता है।

जिस कथन में कृष्ण की कुटिलता कृष्ण का पीड़ा देना, निर्वेद तथा
वक्रमति से अन्य का सुखदत्व आदि होता है—उसे आजल्प कहते हैं।

यद्यपि कृष्ण का संग छोड़ना अत्यंत कष्टदायक है, किन्तु कृष्ण की
प्राप्ति असंभव है – शांतिपूर्ण ढंग से दूत को आदर देते हुए, इस प्रकार के
कथन को प्रतिजल्प कहते हैं।

जिस कथन में सरलता, गंभीरता दीनता, चपलता तथा उत्कंठा के
साथ भी कृष्ण ही परम प्रिय है– ऐसा कहा जाय उसे सुजल्प कहते हैं।

उपर्युक्त भेदोपभेद मोदनान्तर्गत मोहन भाव के दिव्योन्माद के अंग हैं

मादन अधिरूढ़ महाभाव—

जो भाव सर्वभावों के उद्गम से उल्लसित, परात्पर हर्ष
विलासयुक्त होता है उसे मादन भाव कहते हैं। यह मादन अधिरूढ़ महाभाव
सर्वदा राधा में ही विराजमान रहता है। इस मादन भाव में ईर्ष्या की
अयोग्यता वाली वस्तु में भी प्रबल ईर्ष्या करना, सर्वदा भोग होने पर भी
उस संयोग की किंचित मात्र गंध प्राप्ति वाली वस्तु की भी स्तुति करना
आदि क्रियाएँ होती हैं। यह विचित्र मादन भाव संयोग में ही होता है।
सहस्र प्रकार की नित्य लीलाएँ ही इस मादन भाव के विलासरूप में
सुशोभित होती हैं। मादन भाव की दशा मदन की गति के समान ही
दुर्बोध है, अस्तु पर्याप्त सम्बाधी के अभाव म इसका वर्णन नहीं किया जा
सकता।

महाभाव के आश्रित होकर जिस माधुर्य रस का आस्वादन रसिक भक्त
होता है वह यथार्थ में सबके बस की बात नहीं है। विषय कृष्ण और आश्रय
भक्त दोनों की स्वजातीयता माधुर्य रस के प्रकाशन में आधार बनती है। इस
माधुर्य के उपयोग करने के लिए भगवान् कृष्ण के समान ही सामर्थ्यवान होना
चाहिए। जितनी शक्ति जिसमें है, उतना ही वह रसास्वाद कर सकेगा इसलिए
कृष्णकर्णामृत की रसिक रोचनी टीका के पृष्ठ ११५ पर कहा गया है वैरी से
अधिक प्रजा, प्रजासे अधिक दास दास से अधिक माता-पिता माता पिता स
अधिक मित्र सखा गण उनसे भी अधिक कान्ता गोपी वर्ग और उनसे भी अधिक
श्री राधा को श्रीकृष्ण के माधुर्य का विशेष आस्वादन होता है। इसीलिए प्राय:

राधासुधानिधि भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि आदि सभी सिद्धान्त ग्रंथों में कहा गया है कि सर्वश्रेष्ठ राधा के सहित श्रीकृष्ण का सौन्दर्य माधुर्य पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।

अस्तु माधुर्य उपासना के परमसुख एवं परमानन्द वहन के लिए ही इन रसिक भक्तों ने गोपीभाव, सखीभाव तथा राधाभाव की उपासना प्रारंभ की और कृष्ण की परम रसमयी विहार प्रणाली का वर्णन किया।

दूसरा अध्याय

माधुर्य उपासना की परम्परा

वेदों में माधुर्य

सौन्दर्य एवं माधुर्य के एकमात्र स्रोत प्रभु को वेदों में 'मदानां मंहिष्ठ' अर्थात् सबसे अधिक आनंद से परिपूर्ण एवं मंदमानाम, अर्थात् निरंतर आनंद मय कहा गया है। वेदों के ऋषि ऐसे प्रभु को सर्वदा मस्तक झुकाते हैं और उसका सामीप्य प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। इस प्रभु में किसी प्रकार की न्यूनता इन उपासक ऋषियों को नहीं जान पड़ती। वे उसे कामना पूज्य, वीर, अमृत, अपनी शक्ति से शासनकर्ता तथा आनंद से परिपूर्ण अनुभव करते हैं। ऋषियों का विश्वास है कि वे इष्टदेव समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं। इसीलिये अपने आराध्यदेव के साथ निरंतर संयुक्त रहना चाहते हैं। वे कहते हैं कि तू हमारा है और हम तेरे हैं। वेदों का यह ईश्वर सुन्दरता का स्रोत है। उससे सुषमा एवं सौभाग्य की धाराएँ निःसृत होकर तरु की शाखाओं की भाँति फैलती हैं। साधक को यहाँ सब सुख प्राप्त हो जाता है।[1] अस्तु इसके पास आकर साधक कह उठता है कि समस्त जनों के लिए वरणीय उस प्रभु का अंतरंग मैं कब होऊँगा? कब ऐसा होगा कि मैं आपके हृदय में स्थान पा सकूँगा? यहाँ पर साधक की सर्वस्व समर्पण की भावना प्रबल हो जाती है और वह सोचता है कि उसके इष्टदेव उसकी इस हवि को आनंद के साथ स्वीकार कर लेंगे या नहीं। उस दिन की प्रतीक्षा वह उपासक सम्पूर्ण शक्ति के साथ करता रहता है। वेद का यह मंत्र इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है —

उतस्वया तन्वा संवदेतत् कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किम्मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥

—ऋ० ७ ८६, २

स्तुति मात्र करके प्रतीक्षा करना वेदों में श्रेयस्कर नहीं माना गया है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सुन्दर-सुन्दर स्तुतियों से प्रभु छविमान नहीं होते,

---

१ त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम्॥

— ऋ० ६ १३, १

से सुशोभित होते हैं अपने भक्त को पाकर। इसलिए वेद के ऋषि कहते हैं कि हे सर्वसम्पन्न भगवन्! इन सुस्तुतियों से आपकी शोभा नहीं है। अभिलाषा तो यह है कि मैं स्वयं को आपको सौंप दूँ। मेरी समस्त मतियाँ आपके भीतर प्रवेश पाने के लिए लालायित हो रही हैं।[1] अस्तु यह दूरी अब सहन नहीं होती इसे अविलम्ब समाप्त कर दो या तो तुम मैं हो जाओ अथवा मैं तुम हो जाऊँ। निरंतर संयुक्त रहने की भावना उत्तरोत्तर परिवर्धित होती रहती है। और इस स्थिति में पहुँचने के लिए साधक अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करता हुआ यही कहा करता है कि प्रभु! तुम मेरे समीप आ जाओ! मेरे आवरण को छिन्न-भिन्न कर दो! कृपा करो।[2] यहाँ तक कि मेरे साथ रममाण होकर आनन्द रूप को प्रगट करो।[3]

उपासक की मधुर भावना यहाँ प्रारम्भिक रूप में हमें दृष्टिगोचर होती है। अब उपासक यह कहता है कि हे प्यारे पुरुहूत! मेरा मन अब आपको त्याग कर दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता मेरी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ आपमें आश्रित हो चुकी हैं अस्तु अब आप मेरे हृदय रूपी आसन पर विराजमान होकर सोमपान करें[4] तब वेदाश्रित माधुर्योपासना में संदेह का स्थान नहीं रहता।

---

१ का ते अस्त्यरंकृति: सूक्तै: कदा नूनं ते मघवन् दाशेम।
विश्वा मतीरा ततने त्वायाधा म इन्द्र शृणवो हवेमा॥
ऋ० ७, २९, ३

२ यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् स्युष्टे सत्या इहाशिष:।
— ऋ० ८, ४४, २३

३ सत्वन्नोऽअग्नेऽवमोभवोतीनेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ
अव यक्ष्व नो वरुणंरराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि॥
—ऋ० ४ १, ५

४ न घा त्वद्रिक् अपवेति मे मन: त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सुसोमेऽवपानमस्तु ते॥
ऋ० १०, ४३ २

नो०—पुरुहूत आदि शब्द उस परम देवता के लिए ही वेदों में व्यवहृत होते हैं —
इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहु ...... —ऋ० १, १६४, ४६
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति —अथर्व ९।१०, २८

वेदमयी उपासना के क्षेत्र में साधकों ने भक्ति की जिस चरम स्थिति का अनुभव किया था बाद की रसोपासना उसी का विकसित रूप है। आनन्द का अनुभव करने वाली, एक ही पथ का अनुसरण करने वाली इष्टदेव की प्राप्ति की अभिलाषा से युक्त साधक की समस्त बुद्धियाँ भगवान् की सेवा में उसी प्रकार लग जाती हैं, जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पति का आलिंगन करती हैं।[1] यहाँ भक्त को ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी बुद्धियाँ ऐश्वर्य-संपन्न पावन प्रभु का आलिंगन कर रही हैं। वह कहता भी है कि हे दर्शन करने योग्य देवता! सनातनत्व की कांक्षिणी और आपके भीतर स्थिरता की अभिलाषा रखने वाली मेरी बुद्धियाँ नव स्तोत्रों एवं नमन के अवलम्ब से आपकी ओर दौड़ रही हैं। हे सर्वशक्तिमान आराध्य देव! ये बुद्धियाँ आपका ठीक उसी प्रकार आलिंगन करना चाहती हैं जैसे—कामनायुक्त पत्नी कामयुक्त पति का समागम करती है।[2] वेद में जिस यज्ञ की भावना का दिग्दर्शन कराया गया है वह भी मधुर उपासना की दृष्टि से कम महत्त्व का विषय नहीं है, इस भावना से शासित होकर साधक यज्ञ भगवान् का अपना सर्वस्व प्रदान कर देता है यथा वाणी, दर्शन शक्ति, प्राण श्रवण शक्ति, चिन्तन शक्ति एवं आत्मा। यहाँ पर मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की सम्पत्तियाँ यज्ञभगवान् को समर्पित हो जाती हैं। व्रजमण्डल की समस्त गोपियों ने भगवान् श्री कृष्ण को यज्ञस्वरूप समझा था और तब अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। जीवात्मा उस परम पुरुष की शक्ति है। शक्ति शक्तिमान से पृथक् हो नहीं सकती केवल मायावी आवरण को विनष्ट करके उस शक्तिमान् से मिल जाना चाहती है। गोपियों की इसी आत्मरूपा शक्ति ने परमात्मरूप शक्तिमान् की उपासना की थी और उनका शाश्वत सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सब कुछ दे डाला था। अश्विनी कुमारों की रसमयी उपासना सर्व प्रसिद्ध है। वे भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य रस में उसी प्रकार सराबोर थे, जिस प्रकार युवती विधवा देवर की सुषमा में प्रति

1 अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥
—ऋ० १०, ४३, १

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः।
पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः॥
—ऋ० १, ६२, ११

आकृष्ट होती है। ऋग्वेद में कालीवती घोषा ने अश्विनीकुमारों से पूछा था हे अश्विनीकुमारो! आप लोग रात्रि में कहाँ विश्राम करते हैं? अपने प्रेम में किसने आपको बद्ध कर आकर्षित कर रखा है जैसे विधवा अपने देवर को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।[1] जिस प्रकार शहद की मक्खियाँ शहद का मधुर रस पान करने के लिए उसके चारों ओर बैठी रहती हैं, उसी प्रकार साधक यहाँ अपने इष्ट देव के प्रेम के रसास्वाद के लिए, उसमें बस जाने के लिए आतुर रहता है।[2] और समस्त प्रकृति उसे सौन्दर्य-माधुर्य रस से सराबोर परम रमणीय जान पड़ती है। साधक का मन ऐसे समय में रस समुद्र में बार-बार अवगाहन करता है और तब उसकी दृष्टि में बसंत ग्रीष्म वर्षा शरद हेमंत तथा शिशिर ऋतुएँ भी परम रसमयी हो जाती हैं। इस प्रकार रसमय वातावरण के भीतर ही वह रसोपासक अपने रस स्वरूप इष्ट देवता की उपासना करता हुआ तदाकार हो जाता है।[3]

इस स्थिति में रसोपासक की समस्त मन की वृत्तियाँ उस माधुर्य के एकमात्र भण्डार परमेश्वर की ओर जाकर उसी रूप को उसी प्रकार प्राप्त कर लेती हैं, जिस प्रकार भागीरथी आदि सप्त सरिताएँ सागर की ओर दौड़ती हुई तदाकार हो जाती हैं। दूसरे समस्त पदार्थों के बीच में भगवान् को ही एक मात्र प्रियतम जानते हुए रसोपासक निरंतर उसी की याद में तड़पते रहते हैं और असीम चाह के साथ उसकी उपासना में तल्लीन रहते हैं। तब वह प्रियतम भी साधक के समीप ठीक वैसे ही आता है, जैसे गायें सायंकाल घर वापस आती

---

१ कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना,
कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ॥
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं,
मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

—ऋ० सं० १० ४० २

२ इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥

—ऋ० ७-३२ २

३ वसन्त इन्नु रन्त्यः ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

—साम० ६ १६,२

है, शूरवीर युद्ध में जाता है और पति अपनी सुन्दर पत्नी से मिलने के लिए आतुर हो उठता है।

वेदोत्तर ग्रंथों में माधुर्य—

उपर्युक्त रसोपासना या माधुर्योपासना का जो रूप हमें वेदों में प्राप्त होता है, शनैः शनैः उसका विकास उपनिषद्-काल में हुआ। उपनिषद् वेदों से भिन्न नहीं वरन् वेदों के ही ज्ञान काण्ड के नाम से विख्यात हैं। भगवान् के साकार स्वरूप की उपासना करने वाले भक्त सीताराम राधा कृष्ण तथा लक्ष्मी नारायण आदि कल्याणकारी रूपों की उपासना करते हैं। इसमें सीता, राधा तथा लक्ष्मी आदिशक्ति का प्रतीक हैं और राम कृष्ण तथा नारायण आदि शक्तिमान का हैं। शक्ति का सम्बन्ध शक्तिमान से नित्य है। युगलस्वरूप का यही रहस्य है। यह युगलस्वरूप एक भी है और दो भी है। जो उपनिषद् संहिता या ब्राह्मण रूप वेदों के अन्तर्गत आते हैं उनमें सर्वप्रथम यह युगल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। भगवान् के इस शाश्वत अनेक रूपों में आस्वादन की अभिलाषा, प्राकट्य तथा संयोग आदि उस नित्य युगलस्वरूप के भीतर ही आते हैं। इस शाश्वत युगलतत्व में उनकी शाश्वत एकता है। इस रूप में भी उस परमात्मपुरुष का अपने ही साथ शाश्वत रूप से रमण होता है। अनंत सत्ता ऐश्वर्य ज्ञान तथा माधुर्य का शाश्वत आस्वादन उनके लिए ही है। शक्ति का निरंतर संयोग ही उनकी सत्ता, ऐश्वर्य, ज्ञान तथा माधुर्य का नित्य प्रकाशक है। उपनिषद् के ऋषि भी इस स्वरूप की ही उपासना करते हैं।

भगवान् के इस युगलस्वरूप के मधुर रस का आस्वादन वही साधक कर सकता है, जो सर्वदा स्नेह पूरित मन से उनका स्मरण करता रहे, और अपना हृदय उनके रूप में लगा दे। इसके पश्चात् ही वह नेत्रों से इष्टदेव का दर्शन करके परम आनन्दमय स्थिति में पहुँच जाता है।[1] कठोपनिषद् में इसे स्पष्ट किया गया है। व्रज की गोपियाँ परमानंदस्वरूप ही हो गई थीं। अपने प्रियतम की उपासना में गोपियों के मन उनकी बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सब कुछ स्थिर हो गई थीं। परमानंदमय होने के लिए कठोपनिषद् में सतत अभ्यास

---

१ न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥
—कठोपनिषद् तृतीय वल्ली

करने का संदेश दिया गया है।[1] इष्टदेव का संयोग तभी होता है, जब इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि स्थिर हो जाती है। बिना दृढ़ता के यह आनंदमयी उपासना संभव नहीं होती। उपासना करने वाले का चित्त जब अपने प्रियतम इष्टदेव के पास रम जाता है, तब उसे इष्ट-स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और उसके प्रेम में प्रति क्षण परिवर्तन होने लगता है। इस समय उपासक पल भर के लिए भी इष्टदेव का वियोग सहन नहीं कर पाता, और तड़पने लगता है।[2] पृथ्वी से प्राण तक जितने तत्वों का उल्लेख उपनिषद् करते हैं उन सब के एकमात्र स्वामी हैं परब्रह्म पुरुषोत्तम' यह बात गोपियों से छिपी न थी। अस्तु, उन्होंने अपने प्रियतम को प्रसन्नता के साथ अपने मन प्राण का समर्पण कर दिया था। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न में महर्षि पिप्पलाद् ने इसी साधनात्मक समर्पण की ओर संकेत किया है।[3] अन्तःकरण की निर्मलता और सांसारिक भोगों का त्याग जब प्रियतम के लिए किया जाता है तो उन्हें वश में होते देर नहीं लगती। परमात्मा कृष्ण ने गोपियों को स्वयं स्वीकार किया था। यथार्थ में वे उसे ही प्राप्त होते हैं, जिसे वे स्वयं स्वीकार किया करते हैं। शास्त्रों का अध्ययन श्रवण तथा तर्क-बुद्धि उनके स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। जिस उपासक के हृदय में उनके प्रति मिलन की उत्कट अभिलाषा जागृत हो जाती है, जो निरंतर उनकी कृपा की आकांक्षा करता रहता है उसी के समक्ष उनका सच्चिदानंदमय स्वरूप प्रकट होता है।[4] यहाँ मन तथा वाणी सामर्थ्यहीन हो जाती है।

---

१ यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥ —कठोपनिषद् तृतीय वल्ली

२ अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥५॥ —केनोपनिषद् चतुर्थ खण्ड

३ स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते —७ प्रश्नो० चतुर्थ प्रश्न

४ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥३॥ —मुण्डकोप० तृतीय मुण्डक० द्वितीय खण्ड

सच्चिदानंदमय एवं रसस्वरूप जिस परब्रह्म का यशोगान उपनिषद् करते हैं, उनका नाम है—'आनंद'। ऐसे इष्टदेव के साक्षात्कार से निरवधि मधुर रस का आस्वाद हो जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानंद वल्ली के अष्टम अनुवाक में ब्रह्म के जिस सर्वोच्च आनंद की चर्चा की गई है, वह उस परम आनन्द के बहुत नीचे छूट जाता है। ब्रह्म के उस सर्वोच्च आनंद से वैराग्य ग्रहण करने पर ही साधक इस परमानन्द का रसास्वादन करके आनंद की लालसा पर आधारित होकर व्रज की गोपियों की भाँति ही सिद्धरस हो जाता है। वेदों के अन्तर्गत जिस परम पुरुष की महत्ता एवं कीर्ति का वर्णन किया गया है, उनका सहज स्वभाव है—आनन्द उस आनन्द का एकमात्र कारण है—रसमयता। रसमयता सुन्दरता से होती है। यह सुन्दरता ही संसार का विकास है और भगवान् कृष्ण उसके अक्षय भण्डार हैं। इन्हीं आनन्दमय स्वरूप कृष्ण ने गोपियों को अपनी ओर आकर्षित किया था और निरंतर अपने स्वरूप की झाँकी उन्हें दी थी। इन इष्टदेव का कार्य है सबको अपनी ओर आकर्षित करना, किन्तु जीव माया के आवरण में होने के कारण इस सुयोग को पाकर भी एकाकार नहीं हो पाता। भगवान् का रसमय ध्यान तथा उपासना ही उनके रहस्य का उद्घाटन करने में समर्थ हो सकते हैं, जिसका उल्लेख उपनिषद् बराबर करते हैं। सोलह कलाओं वाले कृष्ण ही परमात्मतत्व हैं जिन्हें प्रेम की चरम स्थिति—महाभाव में पहुँच कर ही प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किया जा सकता है। यहीं पर शारीरिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का पंचम अध्याय इसका संकेत करता है।[1] शारीरिक संबंध समाप्त हो जाने पर ही उस मधुररसोत्तम रस को साधक प्राप्त कर पाता है। कृष्ण तथा गोपियों का शारीरिक संबन्ध न था, वह सम्बन्ध आत्मा-आत्मा का था। मुनियों के द्वारा पूछे जाने पर भगवान् ब्रह्मा जी ने कहा था कि जिनका रूप श्याम बादलों का सा है, जो नवीन श्यामवर्ण के समान कांति वाले हैं, जिनकी किशोर अवस्था है तथा जो कल्पवृक्ष के नीचे उपस्थित हैं, उन्हीं की उपासना करना चाहिए।[2]

---

१ भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

—श्वेताश्व० पंचम अध्याय

२ गोपाल पू० तापनी०, प्रथम उप०, श्लोक ८ ° १० ११-१२ देखना चाहिए।

भगवान के जिस सौंदर्यमय रूप की आराधना हिन्दी में कृष्ण भक्त कवियों ने की और उनके सम्बन्ध में पद—गायन किया है, वही रूप उपनिषदों में प्रत्यक्ष दिखलाई देता है यथा भगवान कृष्ण के कमल सदृश परम सौन्दर्यवान् नेत्र, मेघ के समान श्याम वर्ण, बिजली के समान पीतवस्त्र, गले में पड़ी हुई वनमाला की छवि, गोप तथा गोपियों के घेरे में विराजमान तथा यमुना के पुलिन पर सुगंधित वायु से सेवित उनका विग्रह उपासना के लिए उपनिषदों में चमत्कृत हो रहा है।[1] औपनिषदिक साधना करने वाला साधक उन्हीं गोपियों के प्राणधन गोविन्द को निरंतर भजता है, जिनमें समस्त उपासकों का मन रमण करता है अस्तु राधा के मन में विहार करने वाले गोविन्द की ही उपासना श्रेष्ठ है। ये भगवान कृष्ण अपने उपासक भक्तों के साथ वैसा ही प्रेममय सम्बन्ध रखते हैं जैसा लक्ष्मी के साथ रखते हैं।[2] उपासना की इस स्थिति तक पहुँचने के लिए अथर्ववेदीय राधिकातापनीयोपनिषद्[3] में इस बात का उल्लेख किया गया है कि बिना राधाभाव का अवलम्ब लिये कोई साधक इस माधुर्य का रसास्वादन प्राप्त नहीं कर सकता और यह राधाभाव बिना कृपा राधा की के किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। राधा समस्त देवों की शक्ति है, इसीलिए मुनियों ने सर्वप्रथम राधा की उपासना पर ही जोर डाला है। इन्हीं राधा की प्रेरणा से समस्त देव गतिमान होते हैं और स्वयं समस्त संसार को अपनी ओर आकर्षित करने वाले कृष्ण इन्हें प्राणों से अधिक मानते हुए एकांत में प्रेम से आर्द्र होकर उनकी चरण धूलि को अपने मस्तक पर धारण करते हैं। जिन राधा के वश में भगवान कृष्ण क्रीतदास की भांति रहते हैं, उन्हीं की

---

१ सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ।।१ ।।
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम् ।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्न पंकजमध्यगम् ।।११।।
कालिन्दीजल कल्लोलसंगि मारुत सेवितम्
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ।।
—गोपालपूर्वता० प्रथम उप०

२ गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् का ५२ ५१ वां श्लोक देखिए।

३ राधातापनीयोपनिषद् २

रमा का संदेश प्रियतम भाव से श्रुतियों ने दिया है।[1]
राधा के अंक में विराजने पर गोलोक तक का विस्मरण कर बने तन्मय हो जाते हैं। ये दोनों यथार्थ में अभिन्न हैं—इसका संकेत किया जा चुका है। ये राधाभाव के माधुर्य को व्यक्त करने के लिए में प्रकट हुए हैं और रस-समुद्र होते हुए भी इन्होंने दो रूपों में क्रीड़ा 'कृष्णोपनिषद्' में तो यहाँ तक कहा गया है कि मूर्तिमान वेदार्थ ही व्रज में गोपिकाओं तथा ग्वालों के साथ केलि करता है। उस श्रीकृष्ण की गायें तथा गोपियाँ वेद की ऋचायें हैं।[2] श्री कृष्ण तो पुरातन पुरुष हैं ही और राधा हैं उनकी सर्वप्रधान आह्लादिनी शक्ति। परम अन्तरंगभूता राधा की आराधना सर्वदा कृष्ण करते हैं इसीलिए राधा राधा के नाम से विख्यात हैं। ऋग्वेदीय राधोपनिषद् का कथन है कि राधा को न जानते हुए श्रीकृष्ण की उपासना करने वाला मूढ़तम है।

भागवतादि में माधुर्य—

श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण को लक्ष्मी, यज्ञ प्रजा, बुद्धि, तीनों लोक, पृथ्वी, अंधक, वृष्णि तथा सात्वत वंशियों एवं सज्जनों का पति कहा गया है।[3] पति यथार्थ में वही है जो स्वयं किसी से भयभीत न हो और भयभीत प्राणियों की सर्वप्रकार से रक्षा करने में समर्थ हो। इन्हीं भगवान् कृष्ण की पति रूप में उपासना करने का स्पष्ट संकेत भागवत ने दिया है। भगवान ने स्वयं कहा है कि जैसे सती नारी अपने पातिव्रत्य से सुन्दर आचरण करने वाले अपने स्वामी को वश में कर लेती है, ठीक उसी प्रकार अपने हृदय के प्रेमसूत्र से मुझे बाँध रखने वाले तथा समान दृष्टि से युक्त सज्जन भक्ति के द्वारा मुझे अपने अधीन कर लेते हैं।[4] ये सभी भक्त अपने

---

१ राधातापनीयोपनिषद् ७

२ श्रीकृष्णोपनिषद्

३ श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥
—श्रीमद्भा० २, ४, २०

४ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
—श्रीमद्भा० ९, ४

प्रियतम आराध्यदेव के लिये ही चेष्टा करते हैं, गाते हैं, मन लगाते हैं तथा धन, भोग एवं सुख को त्याग देते हैं। इतना करने के पश्चात् आत्म-समर्पण कर देते हैं। इस स्थिति में भक्तों का चित्त भगवान का चित्त हो जाता है उनके हृदय में भगवद्भाव का निरंतर परिवर्धन होता रहता है, वे निरंतर उन्हीं की चर्चा करते हैं और उन्हीं के लिए सारी चेष्टाएँ करते हैं, उन्हें यहाँ पर किसी अन्य की याद तक नहीं रहती—व्रज की गोपियों की यही दशा थी। उनकी प्रेम-सरिता में मन बुद्धि, वाणी आदि सभी प्रवाहित होने लगे थे। इसीलिये "गोपीभावेन देवेश न मामेति न चेतरः" के अनुसार भगवान ने स्वयं कहा था कि हम दोनों की शरणागत होकर जो साधक गोपीभाव से हमारी उपासना करते हैं, उन्हीं को हमारी उपलब्धि होती है। गोपियों को प्राण बुद्धि मन देह, स्त्री-पुत्र और धन जिसके सान्निध्य से प्यारे जान पड़ते थे, उससे अधिक उन्हें संसार में कोई प्यारा न था। इसीलिये उन्होंने उन्हें सब कुछ दे डाला। भगवान कृष्ण ने द्विज पत्नियों से भी यही कहा था।[1] जैसे विरहिणी पत्नी अपने पति से संयोग के लिए आकुल एवं उत्कंठित रहती है, वैसे ही गोपियाँ निरंतर अपने परम प्रियतम कृष्ण के संयोग की लालसा रखती थीं। अस्तु उपासक अपने और समस्त पुरुषार्थ का सहारा त्याग कर अनन्यभाव रखते हुए गोपियों की भाँति ही पतिभाव से अपने प्रियतम कृष्ण की मधुर उपासना में तल्लीन रहता है—[2] और अपनी प्रियतम वस्तु को भगवान को समर्पित कर देता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध में कृष्ण ने उद्धव से यही कहा था कि हे उद्धव! संसार में जो वस्तु स्वयं को सबसे अधिक प्यारी तथा इष्ट हो उसे मेरे हेतु भक्त को समर्पित कर देना चाहिए। ऐसा करने से वह अपार गुना होकर उस व्यक्ति को उपलब्ध हो

१—प्राण बुद्धिमनः स्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः कोऽन्वपरः प्रियः ॥२७॥
श्रीमद्भा०, दशम पूर्वा० अ० २१

२—आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं ।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ॥

जाती है।[1] पतिभाव में इन व्रजांगनाओं ने श्रीकृष्ण की सेवा, चरण दबाने आदि अनेक विधियों से की थी और उन पर आसक्त होकर अपने समस्त सौन्दर्य को समर्पित करते हुए सागर में नदियों की भाँति उन्हीं में लीन हो गई थीं। रास में तो उन प्रियतम कृष्ण की प्रेममयी मुस्कान, चाल, विलासयुक्त चितवन, मनोहर वार्तालाप एवं लीला-विलास से जिनके चित्त उनकी ओर आकर्षित हो चुके थे, वे गोपिकाएँ तन्मयता से उनकी विभिन्न चेष्टाओं का अभिनय करने लगी थीं।[2] भगवान् कृष्ण को गोपियों की प्रेममयी माधुर्योपासना सबसे अधिक प्यारी थी अतः उन्होंने अपने प्रेम को प्रकट करने के लिए तथा गोपियों के मधुर रस के परिवर्धन के लिए ही आलिंगन, कर, अलक, जंघा, कटिवस्त्र के बन्धन और स्तन आदि का स्पर्श तथा नखक्षत आदि किये व साथ ही विनोदपूर्ण चितवन तथा मन्द मुस्कान से उस रस की राशि इकट्ठी कर दी। इन व्रज की गोपिकाओं पर श्रीकृष्ण का जो प्रसाद प्रकट हुआ, वह सुवर्ण की सी कान्तिवाली अप्सराओं पर भी कभी प्रकट न हुआ था। माधुर्योपासक जब अपने प्रियतम की रसमयी उपासना में तल्लीन हो जाता है, तो उसके शरीर में रोमांच, चित्त में पुलक, नेत्रों में आनन्दाश्रु प्रकट हो जाते हैं और साथ ही प्रेमावेश के कारण वाणी स्खलित हो जाती है, तब वह अपने मन, शरीर तथा प्राण तक को अपने भगवान के हेतु समर्पित कर देता है। इष्टदेव के त्रिभुवन सुन्दर रूप का दर्शन उस भक्त रसिक के हृदय में संयोग की आकांक्षा को उद्दीप्त कर देता है, समस्त सांसारिक विषय समाप्त हो जाते हैं और वह निर्लज्ज होकर अपने प्रियतम से न जाने क्या-क्या कहने लगता है। प्रियतम से संयोग होने पर सुख से व्यतीत होने वाला दीर्घ काल क्षण के समान व्यतीत हो जाता है और तब साधक को अपने इष्टदेव का वियोग अत्यंत दुःखदायी होता है। पतिभाव से श्रीकृष्ण

---

१ यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥
—श्रीमद्भा० ११ ११.४१

२ गतानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥२॥
—श्रीमद्भा० दश० पूर्वा० अ० ३०

की उपासना करने वाली गोपियों को यही स्थिति दशम स्कंध में दिखाई देती है।[१] भागवत में माधुर्यरस की सर्वोत्कृष्टता को प्रकट करने वाले जिस महाभाव की चर्चा इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में की गई है, उसके प्रथम प्रकार मोदन महाभाव के अन्तर्गत आने वाले मोहनभाव के दिव्योन्माद चित्रजल्प की पूरी छटा हमें भागवत के भ्रमरगीत वाले प्रसंग में दृष्टिगोचर होती है। गोपियों की इस रसमयी उपासना का सच्चा स्वरूप यहीं देखने को मिलता है।

भगवान श्रीकृष्ण का रसमय सान्निध्य प्राप्त करने के लिए गोपिकाओं ने रासस्थल में कृष्ण के द्वारा ली गई परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त की थी। जब भगवान ने उन सबसे घर लौट जाने को कहा तो वे कहने लगीं कि अभी तक तो हमारा मन प्रसन्नता से घर में आसक्त था, उसका आपने हरण कर लिया हमारे हाथ गृह-कार्य करने में लगे थे वे भी सत्ताहीन हो गये और अब हमारे पग आपके पद-कमलों के समीप से एक इंच भी पीछे नहीं जाना चाहते, तब हम वृन्दावन के लिए कैसे जायें? और वहाँ भी जाकर क्या करें? हे प्रियतम! आपकी मधुर मुस्कान से युक्त चितवन और आपके मनमोहक गीत से हमारे चित्त में प्रबल कामानल (प्रेमाग्नि) प्रज्वलित हो रहा है उसे अपने अधरामृत के सिंचन से संतुष्ट एवं शांत करिए, नहीं तो आपके वियोग से उत्पन्न अग्नि से हमारे शरीर ही भस्म हो जायेंगे। हे सखे! हम आप

१ यस्यानुरागललितस्मितवल्गु मंत्र
लीलावलोक परिरम्भण रासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदाविना तं
गोप्य कथंन्वतितरेम तमोदुरन्तम् ॥
—श्रीमद्भा० १० ३९ २९

(गोपियाँ परस्पर कह रही हैं — हा! जिन कृष्ण के स्नेह के साथ खिले हुए सुन्दर मंद मंद हास्ययुक्त मनोहर मुख देखकर और उनके सुमधुर वचनों को सुनकर तथा लीला के सहित कुटिल कटाक्षों से उनका मंद मंद चितवन और प्रेमालिंगनों द्वारा रासक्रीडा में हमने बहुत सी बड़ी-बड़ी निशाएं एक क्षण के समान बिता दीं, अपने प्यारे श्रीकृष्ण के बिना हम इस दुस्तर विरहजन्य दुःख को कैसे सहन कर सकेंगी? इसका सहन करना तो अत्यन्त कठिन है।)

का चिन्तन करके आपके चरणों का सान्निध्य प्राप्त करेंगी।[1] हे प्रियतम! अलकावली से युक्त आपका मुख, कुंडलों की आभा से युक्त कपोल, अधरामृत, मनमोहनी मुस्कान से परिपूर्ण चितवन, अभयदायक बाहों द्वय और एकमात्र लक्ष्मी जी का विहार-स्थल आपका विशाल वक्ष देख कर हम आप की दासी हो चुकी हैं। इस रसमय कृष्ण स्वरूप का सान्निध्य तथा प्रेम प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा ने गोपियों से सर्वस्व त्याग कराकर प्रियतम के प्रति सर्व समर्पण करा दिया। यथार्थ में ऐसा ही होना था। क्योंकि जिन गोपिकाओं का हृदय ही उनके पास न हो, जो अनुराग के रस में सराबोर हो चुकी हों और जिन्होंने अपने संसार को अपने प्रियतम कृष्ण में ही मूर्तिमान देखा हो वे सांसारिक सम्बन्ध को ग्रहण करने के लिए पुनः कैसे वापस जातीं? मधुर उपासना के विशाल क्षेत्र में अपने प्रियतम इष्टदेव का अनुसंधान करने वाले साधक की गति को सांसारिक बंधन रोक नहीं सकते और वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर ही लेता है। यह उपासना गोपीभाव की रसमयी मधुर उपासना के नाम भी से विख्यात है। साक्षात् ब्रह्मा जी भी रासमण्डल के मध्य में निवास करने वाले, रासोल्लास में समुत्सुक, गोपियों से सेव्यमान, राधा के ईश उस परब्रह्म श्रीकृष्ण को ही अपना इष्टदेव मानकर निरंतर प्रणाम करते हैं।[2] मधुर उपासना की इस रस

---

१ चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्याम: कथं व्रजमथो करवाम
किंवा ॥ ३४ ॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥
वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम
दास्यः ॥३९॥
—श्रीमद्भा०, दशमपूर्वा० अ० २९

२ ध्यानासाध्यं चिरमर्त्यं गोपीशानां गुरुं भजे।
रासमण्डलमध्यस्थं रासोल्लाससमुत्सुकम् ॥४८॥
गोपीभिः सेव्यमानं च तं राधेशं नमाम्यहम्।
—ब्रह्मवैवर्तपु०, श्रीकृष्ण जन्म खण्ड, अ० २० श्लो० ४८]

सखी प्रणाली में भगवान का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए गोपियाँ निम्नलिखित प्रकार से सेवा करने में रत रहती थीं। यथा—कोई चंदन हाथ में लिये हुए, कोई चावल हाथ में लिये हुये, कोई कस्तूरी हाथ में लिये हुए कोई माला हाथ में लिये हुये, कोई सिन्दूर हाथ में लिए हुये, कोई कंकतिका (कंघी) हाथ में लिये हुए और कोई महावर, कोई वस्त्र, कोई दर्पण, कोई मृदंग, कोई स्वरयंत्र तथा कोई आसन कोई भूषण कोई करताल, कोई पुष्प पात्र, कोई लीला कमल तथा कोई वीणा हाथ में लिये हुए राधा-कृष्ण के समीप रहती थीं। जिस प्रकार रसिका विदग्धा स्त्रियों के लिये भर्ता से बढ़कर कोई प्रिय नहीं होता, उसी प्रकार राधा की कृपापात्र इन गोपिकाओं को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त प्यारी कोई वस्तु न थी। स्वप्न में जागरण में कृष्ण ही इन गोपियों के प्राण थे और इस लोक तथा परलोक—दोनों में वे ही इनके एकमात्र गुरु तथा स्वामी थे।[१] जब तक इनके दर्शन न होते तब तक गोपिकाएँ यही कहा करती थीं कि क्या मैं उनके पूर्ण चंद्र मुख को पुन: देखूँगी, क्या मैं रासमंडल में पूर्ववत क्रीड़ा करूँगी, वन-विहार करूँगी तथा श्री मन्मथ के अंग में चन्दनादि लगाऊँगी?[२] और दर्शन होते ही वे उपर्युक्त प्रकार से सेवा में तन्मय हो जाती थीं। मधुर रसोपासक कृष्णभक्त इसी प्रणाली का अनुसरण करता हुआ रसस्वरूप को प्राप्त करता है। इस रसस्वरूप को प्राप्त करने

(हे प्रियतम! अलकावली से युक्त आप का मुख कुण्डलों की शोभा से युक्त कपोल एवं अधरामृत मनमोहनी मुस्कान से परिपूरित चितवन, दोनों अभयदायक हाथ और एकमात्र लक्ष्मी जी का विहारस्थल आपका विशाल वक्ष देखकर हम आपकी दासी हो चुकी हैं।)

१ भर्ता पुत्रम् प्रियः स्वामी साध्वीनां तापुत्रमकः ।
रसिकानां विदग्धानां न हि भर्तुः परः प्रियः ॥६१॥
ब्रह्मवैवर्तपु० श्रीकृष्ण ज० खं० पृ० ९११

२ स्वप्ने जागरणे चापि पतिः प्राणास्य योषिताम् ।
अतिरेव गुरुः स्वामी इहलोके परत्र च ॥ ६६ ॥
ब्रह्मवैवर्त पु० श्रीकृष्ण० ज० खं० पृष्ठ ९११
First Edition—1956, 5 Clive Road Calcutta Vol. II

३ कृष्ण के वियोग में राधा का भी यही कथन था जिसे उद्धव के समक्ष उन्होंने स्पष्ट किया था।

के लिए सर्वप्रथम कृपा रासेश्वरी (राधा) की होना परमावश्यक है, किन्तु उसके पूर्व गोपी भाव की उपासना करने वाले को चाहिए कि वह अपने आपको भी प्रिया प्रियतम की सेवा में लगी हुई उन सखियों में ही एक अत्यंत मनोरम, रूप-यौवन-सम्पन्न किशोर अवस्था की रमणी के रूप में भावना करे, जो विविध शिल्पों एवं कलाओं में प्रवीण तथा श्रीकृष्ण के द्वारा उपभोग के योग्य हो, किन्तु श्रीकृष्ण के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी जो उनके साथ किन्य संभोग के प्रति सर्वथा पराङ्मुख हो, जो श्रीराधिका किशोरी की सेवा में सदा परायण रहनेवाली उनकी अनुचरी हो, जो श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधा किशोरी से ही अधिक प्रेम करती हो और प्रतिदिन बड़े ही प्रेम एवं तत्परता से उन दोनों का मिलन कराना ही अपना एकमात्र कर्तव्य समझती हो और उन्हीं की सेवा के सुख की परम आह्लाद का कारण मान कर अत्यंत सुखी हो। अपने विषय में इस प्रकार की भावना करके ब्राह्म मुहूर्त से लेकर रात्रि के शेष भाग तक दोनों की मानसी-सेवा में रत रहना चाहिए।[1] इस प्रकार करते हुए रसोपासक को "गोविन्दे देहि हृदयं" के अनुसार जैसे बने वैसे अपना मन भगवान को समर्पित कर उनकी याद में तन्मय हो जाना चाहिए। तत्पश्चात् राधा-कृष्ण की दैनन्दिनी लीला का रहस्य जानने का प्रतिक्षण प्रयास उपासक के लिए वांछनीय है। इस दैनन्दिनी लीला का तत्व न समझने वाला राधा कृष्ण का सामीप्य तक प्राप्त नहीं कर सकता सेवा की बात तो दूर रही। इस दैनन्दिनी लीला का प्राकट्य वृन्दावन की अधिष्ठात्री वृन्दा देवी ने श्रीनारद जी के समक्ष किया था। उपासना की

१ आत्मानं चिन्तयेत् तत्र तासां मध्ये मनोरमाम् ।
रूपयौवन सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम् ॥ ७ ॥
नाना शिल्पकलाभिज्ञां कृष्णभोगानुरूपिणीम् ।
प्रार्थितामपि कृष्णेन तत्र भोग पराङ्मुखीम् ॥ ८ ॥
राधिकानुचरीं नित्यं तत्सेवन परायणाम् ।
कृष्णादप्यधिक प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम् ॥ ९ ॥
प्रीत्यानुदिवसं यत्नेन तयोः संगमकारिणीम् ।
तत्सेवन सुखाह्लादभावेनातिसुनिर्वृताम् ॥ १० ॥
इत्यात्मानं विचिन्त्यैव तत्र सेवां समाचरेत् ।
ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य यावत् स्यात् तु महानिशा ॥ ११ ॥
— पद्मपुराण, पाताल खण्ड, ५२ (७-११)

दृष्टि से यदि उसकी भी थोड़ी चर्चा यहाँ कर दी जाय, तो कदाचित् अनुपयुक्त न होगा। पुराणों में जिस प्रकार भगवान कृष्ण की रसमयी लीलाओं का वर्णन उपलब्ध होता है, उसी प्रकार वे समस्त नित्य लीलाएँ वृन्दावन में विद्यमान हैं। वृन्दा देवी का कथन है कि पंचाशत कुंजों में मण्डित व्रज में कल्पवृक्षों का निकुंज है, उसमें विभ्रमरत्न से शोभित मणिमय गृह में पलंग के ऊपर गाढ़ आलिंगन में बद्ध राधा-कृष्ण दोनों शयन करते हैं। मेरे आज्ञाकारी पक्षियों के जगाने पर भी उस परम सुख के नष्ट होने के भय से उठने का मन नहीं करते। जब जागते हैं तो सखियाँ हर्ष के साथ दोनों को शय्या पर बैठा हुआ देखकर निकुंज में प्रवेश करती हैं तथा तत्कालोचित सेवा करती हैं। फिर मैनाओं के बोलने पर दोनों गुरुजन के भय से अपने-अपने घर जाते हैं। घर पर समस्त दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर वे दोनों विहार के हेतु वन में जाते हैं। कृष्ण दो-तीन प्यारे सखाओं के साथ राधा दर्शन की उत्कंठा से प्रसन्नता के साथ संकेत-गृह की ओर जाते हैं। इधर राधिका भी सूर्यपूजा तथा पुष्पचयन के व्याज से श्रीकृष्णसंग के हेतु वन मध्य में आती हैं। अनेक प्रयत्न के बाद दोनों का मिलन होता है। तत्पश्चात वे कहीं झूले पर बैठ कर सखियों के द्वारा झुलाये जाते हैं कहीं हाथ से छूटी हुई वंशी को प्रिया जी छिपा कर रख देती हैं जिसे ढूँढते हुए सखियों से छले जाते हैं सहेलियों को विविध प्रकार से हँसाते तथा स्वयं भी हँसते हैं। कहीं प्रसन्नता के साथ वसन्त पवन से युक्त वनखण्ड में प्रवेश करके पिचकारी से चंदन जल, केसर वाद्यादिकों को बजाते हैं तथा सुवासादिक द्रव्यों का परस्पर लेपन करते हैं। हे मुनिवर! कहीं दोनों मत्त होकर भूमभूल में दिव्य आसन पर बैठ कर मधुपान करते हैं। दोनों प्रेमावेश में रमण करने की इच्छा से एक दूसरे का हाथ पकड़कर कुंज में प्रवेश कर रमण करते हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधिका की प्रेरणा से सभी उपस्थित सखियों के साथ कायव्यूहरूप बनकर रमण कर परमानंद प्रदान करते हैं। वृन्दा कहती हैं कि पहिले से मैं फल-फूल बनाकर रख देती हैं। श्रीकृष्ण कान्ता के साथ वहाँ भोजन करते हैं, फिर दो तीन सखियों से सेवित होकर फूलों की सेज पर जाते हैं। वहाँ पान व्यजन पादसंवाहनादिक से सखियाँ सेवा करती हैं, उनके साथ हँसते हुए तथा प्रिया जी का ध्यान करते करते परम आनन्द को प्राप्त होते हैं। राधिका जी भी श्री हरि के सोने पर सहर्ष सखियों के साथ प्रियतम का अधरामृत पाकर शय्यागृह में जाती हैं। फिर राधा-कृष्ण दोनों प्रसन्नता के साथ दिव्य आसन पर सखियों

के साथ बैठ कर हार, वस्त्र, चुम्बन तथा आलिंगन आदि का पण रख कर मर्म परिहास करते हुए पाँसे खेलते हैं तथा प्रिया जी से हार कर भी 'मैं जीता हूँ'—ऐसा कहते हैं। इस प्रकार ढाई प्रहर बिताकर वे सब भवन पर चली आती हैं। रात्रि में दोनों यमुना के पुलिन पर मिलकर विविध प्रकार से क्रीडा करते हैं। ढाई प्रहर रात्रि बिताकर पक्षियों से भी अलक्षित एकान्त कुंज में प्रवेश कर पुष्पों से सज्जित सेज पर शयन करते हैं तथा सखियों से सेवित रहते हैं। इस प्रकार मैंने (वृन्दा ने) तुमसे (नारदजी से) श्रीकृष्ण का नैत्यिक चरित कहा। इस दैनन्दिनी लीला को भगवत् रसिक जन ही समझने में समर्थ हो सकते हैं तथा वे ही इसे समझकर रसोद्रेकः के साथ आनन्द लाभ करते हैं। सांसारिकता से बहुत ऊँचे उठकर आत्मसंयम के साथ ही मधुर उपासना साध्य होती है, जरा सा चूकने पर साधक का पता नहीं लगता! बिना गोपीभाव के आश्रय के राधा-कृष्ण की इस रहस्यमयी लीला का प्रत्यक्षीकरण हो नहीं सकता इसलिए गोपीभाव के साथ सर्वप्रथम राधा की आराधना करनी चाहिए। ब्रह्मवैवर्तपुराण में कृष्ण का कथन है कि जब कोई 'रा' शब्द का उच्चारण करता है, तभी मैं भयभीत होकर उसे यह उत्तम भक्ति तुरन्त दे देता हूँ और 'धा' शब्द के उच्चारण से श्रवण के लोभ से उच्चारणकर्त्ता के पीछे चलता हूँ।[1] तात्पर्य यह कि राधा से ही कृष्ण की सिद्धि है। ब्रह्मा जी ने राधा की स्तुति करते समय इसी पुराण में कहा है—साठ हजार वर्ष तक पुष्कर तीर्थ में तपस्या करने के उपरान्त हे मातः! (राधे) स्वयं हरि से मैंने यह वरदान माँगा था कि मुझे सुदुर्लभा राधिका के चरण कमल का दर्शन होवे, अस्तु उन्हीं श्रीकृष्ण के प्रसाद से मैं आज आपका दर्शन कर सका हूँ।[2] समस्त गोपकन्याएँ राधा के अंग के रोम रोम से उत्पन्न

---

१ राशब्दं कुर्वतस्त्रस्तो ददामि भक्तिमुत्तमम् ।
धाशब्दं कुर्वतः पश्चाद्यामि श्रवणलोभतः ॥

—श्री ब्रह्मवैवर्त पु० कृष्ण जन्म खं० अ० १५ के
७०वें श्लो० का द्वितीय एवं तृतीय चरण

२ ब्रह्मोवाच—
हे मातस्त्वत्पदाम्भोजं दृष्टं कृष्णप्रसादतः ॥९४॥
सुदुर्लभञ्च सर्वेषां भारते च विशेषतः ॥

—श्रीब्रह्मवै० पु० श्रीकृष्णजन्म खं, अ० १५

हुई थी अस्तु वे सभी रूप तथा वय में राधा के समान ही थी ।[1] और इसीलिए उन्होंने राधा की भाँति ही कृष्ण का सान्निध्य पतिभाव के साथ ही प्राप्त किया था । यथार्थ में श्रीकृष्ण के समान प्रियतम को पाकर ही गोपियों का पत्नीत्व सार्थक हुआ था । इस राधा भाव अथवा गोपीभाव की उपासना करने वाला माधुर्योपासक इसी प्रकार भगवान कृष्ण को अपना पति इसलिए समझता है कि वे उसके बंधु हैं अविवेक सर्वसामति परमसम्पत्स्वरूप तथा मूर्तिमान आनन्द हैं । वे ही धन, सुख प्रीति तथा मान को देते हैं तथा मान का रक्षण भी करते हैं । समस्त बंधुओं में सार से भी सार स्वामी होता है । इसलिए साधक उन्हें स्वामी भी कहता है । वे श्रीकृष्ण भरण करने से भर्ता, पालन करने से पति शरीर के ईश होने से स्वामी कामना की पूर्ति करने से कान्त, सुख देने से बंधु प्रीति दान करने से प्रिय, ऐश्वर्य दान से ईश प्राणों के ईश्वर होने से प्राणनाथ और रति देने से रमण कहे जाते हैं । इनसे बढ़कर नायिकाओं को दूसरा कोई प्रिय नहीं था ।[2] अस्तु माधुर्योपासक इन्हीं कृष्ण की उपर्युक्त भाव से उपासना करता रहता है । भोग से काम का शमन नहीं हो सकता अस्तु अविवेकी पुरुष की विषयों में जैसी प्रीति होती है, वैसी ही आसक्ति अपने आराध्य देव के प्रति उपासक को होती है और वह धर्म, अर्थ, काम मोक्ष सब को इष्टदेव के समर्पित कर देता है । गोपियों ने भी यही किया था ।

---

१ राधाङ्गलोमकूपेभ्यो बभूवुर्गोपकन्यकाः ।
राधातुल्याश्च सर्वास्ता राधातुल्याः प्रियंवदाः ॥६७॥
—ब्रह्मवै॰ पु॰ प्रकृति खण्ड, अ॰ २

२ भरणादेव भर्ताऽयं पालनात् परिकल्प्यते,
शरीरेशाच्च स स्वामी कामदात् कान्त एव च ॥२४॥
बन्धुश्च सुखबन्धाच्च प्रीतिदानात् प्रियः परः ।
ऐश्वर्यदानादीशश्च प्राणेशात् प्राणनायकः ॥२५॥
रतिदानाच्च रमणः प्रियोनास्तिप्रियात्परः ॥२५॥
—ब्रह्मवै॰ पु॰ प्रकृति खण्ड, अ॰ २

नो॰—परवर्ती पुराणों में मधुर उपासना के दृष्टिकोण में वामन पुराण की माहेश्वरी संहिता तथा कूर्मपुराण की ब्राह्मी संहिता पठनीय है।

संहितादि में माधुर्य—

श्रीकृष्ण को पांचरात्र संहिताओं में भी सच्चिदानन्दमय परमेश्वर तथा सर्वकारणों के भी कारण गोविन्द के रूप में देखा गया है। सृष्टि बनाने के इच्छुक तथा भगवान हरि की नाभि के कमल से उत्पन्न ब्रह्मा ने जब समग्र अन्धकार ही देखा तभी दिव्या सरस्वती ने उनसे कहा था कि कामस्वरूप कृष्ण गोपी जनवल्लभ तथा गोविन्द का मंत्र तुम्हें वाञ्छित की प्रिया से प्राप्त होगा। उस मंत्र के द्वारा ही तुम्हारी सृष्टि रचना की कामना सिद्ध होगी। ब्रह्मा जी ने बहुत समय तक ज्योति स्वरूप सनातन, शब्दब्रह्ममय, मुखाम्बुज से वेणु बजाने वाले, विलासिनियों से घिरे हुए तथा अपने अंशी देवताओं से स्तुत्य भगवान की उपासना की और सहस्रशत सदियों के द्वारा प्रेमपूर्वक ध्यायमान उस आदि पुरुष का निरन्तर स्मरण किया।[1] वेणु बजाने वाले, कमल दल के समान विशाल नेत्र वाले, मोर मुकुट धारण करने वाले काले मेघ के समान सुन्दर शरीरवाले तथा कोटि कंदर्प से भी सुन्दर अपने इष्टदेव का सतत ध्यान करते हुए वे तन्मय हो गए। आन्दोलित चन्द्रकला से युक्त, सुन्दर वनमाला से सुशोभित, वंशी से विभूषित, रत्नजटित अंगद को धारण करने वाले, प्रणय-केलि की कला विलास में निपुण, श्याम वर्ण त्रिवली से मनोहर तथा सर्व प्रकार से प्रकाशमान कृष्ण का ब्रह्माजी द्वारा उपासित स्वरूप ब्रह्मसंहिता में दृष्टिगोचर होता है।[2] इन्हीं कृष्ण को सज्जन, प्रेम रूपी अंजन से व्याप्त भक्ति रूप नेत्रों से सर्वदा अपने हृदय में अचिन्त्य गुण स्वरूप होते हुए भी देखते हैं, जिनकी उपासना ब्रह्माजी ने की थी।[3] कृष्ण

---

१ ब्रह्म संहिता अध्याय पंचम, श्लो० ११, १२, १३, १४, १५ १८, १९ विशेषतः देखने योग्य हैं।

२ आलोलचन्द्रकलसद्वनमाल्यवंशी,

रत्नांगदं प्रणयकेलिकलाविलासम्।
श्यामं त्रिभंग ललितं नियत प्रकाशं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ।।४०।।

—ब्रह्म सं० अ० ५

३ प्रेमांजनच्छुरितभक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

ने प्राणियों के मन में सच्चिदानन्दमय रसरूप से कामत्व को प्राप्त कर प्रतिफलित होते हुए अपनी लीलाओं से परे सारे भुवनों को वशीभूत कर लिया था[1] तभी ब्रह्मा जी ने इन्हें अपना परम प्रियतम माना था और उपासना की इस मधुरतमोत्तम प्रणाली को अपनाया था। प्रणय केलि की कला विलास में निपुण श्याम सुन्दर को उन्होंने अपना सर्वस्व प्रदान किया था। इसी का उल्लेख ब्रह्मसंहिता में यत्र-तत्र पर्याप्त रूप में मिलता है।

पूर्ववर्ती वैष्णव संप्रदाय में माधुर्य—

महर्षि व्यास द्वारा निर्मित पुराणों की भक्ति-पद्धति से श्री ब्रह्मा, रुद्र तथा सनक संप्रदाय विशेष रूप से प्रभावित हुए। पद्मपुराण में यहाँ तक कहा गया है कि परमात्मा श्रीकृष्ण ने ही स्वयं वैष्णव तत्व की शिक्षा एवं उपदेश उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों के अधीश्वरों को दिया था।[2] श्री सम्प्रदाय के आचार्यों में सर्वप्रथम नाथ मुनि का नाम उल्लेखनीय है। नाथ मुनि शठकोपाचार्य (आलवार भक्त) की शिष्य श्रेणी में थे। इन आलवार भक्तों में गोदा-आण्डाल (रंगनायकी) की उपासना माधुर्य भाव की थी। वह भगवान को सदा अपना प्रियतम मानती थी ठीक गोपियों की भाँति।[3] इस उपासना का पूरा प्रभाव श्री संप्रदाय पर पड़ा फलतः आगे चल कर भगवान

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्य गुणस्वरूपं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥४७॥
—ब्रह्म सं० अ० ५

१ आनन्द चिन्मय रसात्मतयामनःसु
यः प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरतामुपेत्य।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥६१॥
—ब्रह्म सं० अ० ५

२ सम्प्रदायविहीना ये मंत्रास्ते विफलामताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्री ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥
—पद्मपुराण

३ भागवत सम्प्रदाय पृष्ठ १९६

राम की मधुर उपासना प्रारम्भ हो गई, जिसके केन्द्र थे मिथिला अवध और चित्रकूट।

ब्राह्मसम्प्रदाय के प्रथमाचार्य माध्वाचार्य थे जिन्हें पूर्व में आनन्दतीर्थ नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। माध्वमत का दूसरा नाम 'ब्राह्म संप्रदाय' है। वेद व्यास ने प्रसन्न होकर शालिग्राम की तीन मूर्तियाँ इन्हें (माध्वाचार्य को) दीं, जिन्हें इन्होंने सुब्रमण्यम, उडीपि तथा मध्यतल नामक स्थानों पर प्रतिष्ठित किया। समुद्रतल से निकाली गई कृष्णमूर्ति की स्थापना आचार्यचरण (माध्वाचार्य) ने उडीपि में की।[1] इस बात से ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु भक्त होने के साथ ही माध्वाचार्य कृष्ण भक्त भी थे। जहाँ तक इनकी उपासना पद्धति का प्रश्न है, वहाँ इनकी दृष्टि में, भगवान में प्रवेश कर, उन्हीं के शरीर से परमानंद प्राप्त करना ही सबसे बड़ा लक्ष्य है। इसे वे सायुज्य मोक्ष मानते हैं। इसका उल्लेख 'भारतीय दर्शन' नामक ग्रंथ में किया गया है।

माध्वाचार्य के अनुसार उपासना दो प्रकार से की जा सकती है। इनमें से एक को शास्त्राभ्यास और दूसरे को ध्यान कहा जाता है। बहुत से साधक केवल निरन्तर शास्त्रानुशीलन द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वहीं दूसरे भगवान की अखंड स्मृति में लीन रह कर मुक्त होते हैं। शास्त्र विचार के कारण अज्ञान एवं संशयादि का नाश हो जाता है और वस्तु तत्व का परिचय मिल जाता है। परन्तु ज्ञान परमात्माधीन है। अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर 'परम भक्ति' का प्रादुर्भाव होता है, जो स्वयं साध्यरूप है। यह एक प्रकार का प्रेम प्रवाह है जो साक्षात्कार होने पर आपसे आप उत्पन्न हो जाता है और जो पूर्ण ज्ञानपूर्वक होने के कारण किसी भी प्रकार की बाधा के पड़ने पर रुक नहीं सकता।[2] इस प्रकार माध्वाचार्य जी की उपासना में शास्त्र विचार से तो अज्ञान एवं संशयादि का नाश होता है और अखंड स्मृति में लीन होकर इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त होता है। इसी सान्निध्य से ही इष्टस्वरूप का दर्शन होकर साधक हृदय में दास्यभाव से परम मधुर प्रेम का उदय होता है। अपने इष्टदेव की महत्ता को जानकर सांसारिक सम्बन्धों की अपेक्षा उनमें स्नेह को अधिक दृढ़ करते जाना ही भक्ति है। माध्वाचार्य

---

१ भागवत सम्प्रदाय पृष्ठ २२२
२ भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४८४
३ वैष्णव धर्म—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ८८-८९

की का विश्वास है कि इस प्रकार की भक्ति से ही परमानंद प्राप्त होता है।[1] इष्टदेव के विष्णु स्वरूप को तो मध्वाचार्य जी ने अपनाया ही था किन्तु कृष्ण-मूर्ति की उडीपि में प्रतिष्ठा उनके कृष्ण भक्त होने में संदेह नहीं रखती। अस्तु सोलह कलाओं वाले वृन्दावन विहारी के इष्ट की आराधना के विशेष प्रसार के अभाव में वह रसमयता इनकी भक्ति पद्धति में नहीं आ सकी जितनी अनुयायियों के उपरान्त इन्हीं के संप्रदाय में दीक्षित श्री चैतन्यदेव के द्वारा श्रीकृष्ण को इष्ट बनाकर उत्पन्न हुई थी। निस्सन्देह चैतन्य के मधुर रस में सारा बंगाल तथा ब्रजमण्डल डूब सा गया था।

समस्त ब्रजमण्डल के मध्य में रुद्रसंप्रदाय भी अपनी एक विशेष महत्ता रखता है। इस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक विष्णु स्वामी को माना जाता है। विष्णु स्वामी अपने भगवान के दर्शनों के हेतु निरंतर उत्कंठित रहते थे। वे चाहते थे कि उनका आराध्य देव उनके समक्ष प्रत्यक्ष रूप से आवे। अस्तु सात दिन के निरंतर ध्यान एवं उपासना के पश्चात् उन्हें शृ गार-शिरोमणि, किशोर वय वाले श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त हुए तथा भक्ति का उपदेश भी। विष्णु स्वामी के ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप हैं वे अपनी ह्लादिनी, संवित के द्वारा आश्लिष्ट हैं तथा माया उनके अधीन रहती है।[2] इसी रूप की उपासना का संदेश विष्णु स्वामी ने अपने अनुयायियों को दिया और वे बालकोचित रूप में बालभाव से भगवान् श्री बालगोपाल की उपासना करने लगे।[3] इन्हीं भगवान ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर विष्णु स्वामी से कहा था कि हे सौम्य ! भगवद् गीता तथा श्री मद्भागवत—ये दो मेरे शास्त्र हैं। आत्मनिवेदन 'कृष्ण ! तवास्मि' नामक पंच अक्षरों वाले मंत्र से किया जाता है। मेरा नाम ही मेरा मंत्र है। महाराजोपचार विधि से सेवा करना ही कर्तव्य है। जो तुम्हारे सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त यशोदा गोपी उद्धव आदि की भाँति

---

१ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥
—भक्तिअंक—कल्याण पृष्ठ १८९ 'श्रीमन्माध्वाचार्य और भक्ति

२ भागवत् संप्रदाय पृष्ठ ११८

३ सर्वेश्वरं भगवन्तं बालगोपाल स्वरूपवान्तो बालबुद्ध्या सिषेवे ।
—भक्तिअंक कल्याण—(रघुनाथ विठ्ठल) पृष्ठ १८०

मेरे अर्चा-विग्रह को भी मेरा प्रत्यक्ष रूप मानकर मेरी परिचर्या करेगा, उसकी सेवा को मैं सदा की भाँति स्वीकार करूँगा।'[1] इस प्रकार के उपदेश ग्रहण के पश्चात् श्री विष्णु स्वामी ने सम्बंधरूपा मधुरभाव तथा ज्ञानयुक्त भक्ति के अवलम्ब से श्रीकृष्ण की आराधना का संदेश अपने जनों को दिया था। किन्तु मधुर उपासना की विमल मन्दाकिनी में वेग आचार्य बिल्वमंगल के समय से ही आया। आचार्य वल्लभ इन्हीं विष्णु स्वामी के मतानुयायी थे। 'सम्प्रदाय प्रदीप' में कहा गया है कि बिल्वमंगल आचार्य ने स्वप्न में वल्लभाचार्य को विष्णु स्वामी की शरण में आने का उपदेश दिया था जबकि वे उपदेश की कामना से साकांक्ष चित्त हो रहे थे।[2] अस्तु भागवतादि से प्रभावित होते हुए आचार्य वल्लभ ने इसी संप्रदाय का अनुसरण कर अपने पुष्टि मार्ग का प्रचार किया था।

पूर्ववर्ती समस्त वैष्णव संप्रदायों में कृष्णभक्ति की रसमयी मधुर उपासना का सबसे प्राचीन प्रचारक निम्बार्क सम्प्रदाय है। निम्बार्क संप्रदाय के अतिरिक्त जितने भी वैष्णव सम्प्रदायों का उल्लेख ऊपर किया गया, उन सब में प्रारम्भ से कृष्ण की भक्ति का प्रसार होता दृष्टिगोचर नहीं होता। इनमें शताब्दियों के उपरान्त किसी न किसी महापुरुष के उत्पन्न हो जाने से ही कृष्ण भक्ति का रसमय स्रोत फूटता सा दिखलायी देता है। निम्बार्क संप्रदाय की प्राचीनता के सम्बंध में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किन्तु यह बात सभी को मान्य है कि स्पष्ट रूप में श्रीकृष्ण की रसमयी साधना भी निम्बार्काचार्य की न प्रवर्तित की। इस निम्बार्क सम्प्रदाय को सनक संप्रदाय के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है तथा ब्रह्मा जी के मानस पुत्र सनकादि को इसका आचार्य माना जाता है।

निम्बार्क संप्रदाय के वैष्णवों के मत में श्रीकृष्ण को इष्टदेव के रूप में देखा गया है। उनका कथन है कि श्रीकृष्ण अपने भक्त जनों की अभिलाषा पूर्ण करने के हेतु ही मन मोहन रूप में सामने आते हैं, ब्रह्मा शिव इत्यादि इन्हीं के चरण कमल की निरंतर वन्दना करते हैं। अस्तु जीव की एकमात्र गति श्रीकृष्ण ही हैं। ये श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, कमल के समान नेत्र वाले वे प्रभु समस्त दोषों से बहुत दूर अगणित गुणों की राशि हैं। इन्हीं का ध्यान करना चाहिए, साथ ही उनके वामांग में निरंतर विराजने वाली अनुपम शोभा

१ 'संप्रदाय प्रदीप' का तृतीय प्रकरण देखना चाहिए।
२ 'संप्रदाय प्रदीप पृ०१४ ३० (भागवत् संप्रदाय' के पृ० १६७ पर उद्धृत)

से युक्त तथा सहस्रों सखियों से सर्वदा सेवित राधा का ध्यान भी अनिवार्य रूप से करना चाहिये ।[1]

निम्बार्क संप्रदाय के लोगों ने आह्लादिनी शक्ति स्वरूपा श्रीराधा के साथ ही श्रीकृष्ण को अपना उपास्य देवता स्वीकार किया है और श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा को भी उपासना के क्षेत्र में उतनी ही प्रधानता दी है । इस प्रकार की उपासना में निश्चित रूप से काम की निवृत्ति हो जाती है । श्रीकृष्णयुक्त राधा की उपासना के परिणाम स्वरूप स्त्रियों के प्रति होने वाला काम अदृश्य हो जाता है और साधक माधुर्य के क्षेत्र में शनैः-शनैः प्रवेश कर जाता है । अज्ञान के गहन-अंधकार के विनाश के हेतु निरंतर युगल स्वरूप की उपासना अपेक्षित है—सनकादि मुनीश्वरों ने समस्त तत्वों के मर्मज्ञ श्री नारद जी को यही बतलाया था ।[2] श्री नारद जी से उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् श्री निम्बार्क ने इस स्वरूप की उपासना का संदेश दिया और राधा-कृष्ण को प्रधानता प्रदान की ।[3] सिद्धान्त की दृष्टि से तो श्रीराधा-माधव, उनकी

---

१ स्वभावतोऽपास्त समस्तदोष-
मशेष कल्याण गुणैक राशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्य-
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥४॥
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमाना मनुरूपसौभगाम् ।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम् ॥५॥
—वेदान्त कामधेनु दशश्लो०

२ उपासनीयं नितरां जनैः सदा,
प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं,
श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ॥
— वेदान्तरत्न मंजूषा, द्वितीय कोष्ठ, श्लो० ६

3 'Nimbark gives almost an exclusive prominence to Krishna and his mistress Radha attended on by thousands of her female companions.
—Collected work of R G Bhandarkar vol. IV
The Nimbark system—page 93

केलि-क्रीड़ा और विलास-स्थल तथा वृन्दावन आदि सभी नित्य, शाश्वत और एक-रस हैं। युगल का केलि-विलास श्री वृन्दावन धाम में अनादिकाल से अनवरत रूप में चलता आया है और अनन्त काल तक चलता रहेगा, किन्तु लोक में इस पावन मधुर रस का प्रचार करने का श्रेय सबसे पहले श्री निम्बार्क भगवान को ही है। जैसे विष्णुपदी गंगा की स्थिति तो बहुत पहले से ही थी, किन्तु इस धरा धाम पर उसे अवतीर्ण करने का सौभाग्य भगीरथ को ही प्रदान किया जाता है, उसी प्रकार माधुर्योपासना की परम-पवित्र सुर सरिता में संसार को अवगाहन कराने वाले आद्याचार्य श्री निम्बार्क भगवान ही हैं।[१]

निम्बार्कीय उपासना के क्षेत्र में बिना श्रीराधिका जी के कोई भी उपासक श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करना तो दूर रहा, सान्निध्य भी प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिये ही श्री निम्बार्काचार्य जी ने कहा था कि अन्य लोगों से आराधना करने में कठिन परम प्रेम-प्रवाह से श्रीकृष्ण की आराधना करके उन्हें वशीभूत कर लेने से राधा नाम को प्राप्त करने वाली, राधे! अपने नाम के कीर्तन से समस्त विद्यमान कृष्ण रूप हरि में मुझ प्रपन्न को प्रेम प्रदान करो।[२] हे राधे! तुमने पतंग की भाँति अपने पीछे दौड़ाते हुये मुकुन्द को प्रेम रूपी डोरे से बाँध लिया है। वे कृष्ण तुम्हारे साथ क्रीड़ा करते हुये प्रेम का अनुसरण कर विद्यमान रहते हैं, अतः मेरे ऊपर उनकी कृपा कराओ।[३] इस प्रकार मुकुन्द के अनुराग से रोमांचित अंग वाली, शरीर में स्वेदबिन्दु से

---

१ सर्वेश्वर—वृन्दावनांक, पृष्ठ १०९ से उद्धृत।

२ दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे त्वं,
महाप्रेमपूरेण राधाभिधाऽभूः।
स्वयं नाम कीर्त्या हरौ प्रेम यच्छ,
प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम् ॥३॥
—श्री निम्बार्ककृत राधाष्टक स्तोत्रम्।

३ मुकुन्दस्त्वया प्रेमडोरेण बद्धः।
पतंगो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन्,
कृपा वर्तते कारयातो मयीष्टिम् ॥४॥
—राधाष्टक

युक्त परम प्रेम की वर्षा करनेवाली तथा कृपा-कटाक्ष से देखने वाली राधिका की उपासना के बिना कृष्ण के प्रति मधुर रस की साधना नितांत असंभव है। श्रीमन्निम्बार्काचार्य जी ने अपने राधाष्टक स्तोत्र के अन्तिम श्लोक में इस बात की चर्चा की है कि दामोदर की परमप्रिया राधिका के इस अष्टक के सहारे ही उपासना के क्षेत्र में उपासक युगल सेवा में तत्पर होकर सखी भाव से उन दोनों के सामन्य का रसास्वाद कर निवास कर सकता है।[१] वृषभानु पुत्री राधिका जी के परम प्रियतम शयन से उठे हुये युगलरूप (राधा कृष्ण दोनों) सर्वेश्वर, सुखकारी रसिकेश्वरेश्वर, परस्पर केलि रस के चिन्हों से युक्त वृन्दिवासी सखियों से घिरे हुये सुरत काम से शोभायमान, सुरत-सार, समुद्र के चिन्हों को अपने कपोल तथा नेत्रों से धारण करने वाले, रति आदि समस्त प्रकार के आनंद को देने वाले, काम से युक्त पुष्पपुंज, युगल स्वरूप (राधाकृष्ण) की ही उपासना श्री निम्बार्काचार्य जी करते हैं।[२] इस प्रकार की प्रत्यक्ष रसोपासना का स्पष्ट संकेत पूर्ववर्ती वैष्णव सम्प्रदायों में सनक संप्रदाय (निम्बार्क सम्प्रदाय) को छोड़कर और किसी में नहीं मिला। इस मधुर उपासना का पूरा-पूरा प्रभाव परवर्ती वैष्णवाचार्यों पर पड़ा फलत

---

१ इदं त्वष्टकं राधिकाया प्रियाया
पठेयुः सदैवं हि दामोदरस्य।
सुतिष्ठन्ति वृन्दावने कृष्णधाम्नि
सखीमूर्तयो युग्मसेवानुकूला ॥९॥
—वही राधाष्टक

२ प्रातर्नमामि शयनोत्थित युगमरूपं,
सर्वेश्वरं सुखकरं रसिकेशभूपम्।
अन्योन्य केलि रस चिह्नसखीवृत्तौघ
सच्चावृतं सुरतकाम मनोहरं च ॥३॥
प्रातश्मरे सुरतसार पयोधिचिह्नं
गण्डस्थलेन नयनेन च सन्दधानौ।
रत्यादिदोषकुशलौ समुपेत कामौ,
श्रीराधिकावर पुरन्दर पुष्प पुञ्जौ ॥४॥
—श्री निम्बार्काचार्य पीठ-स्थान (सलेमाबाद) किशनगढ़ राजस्थान से प्राप्त।
—श्री निम्बार्ककृत प्रात स्म० स्तो०

वल्लभ चैतन्य, राधा वल्लभ तथा हरिदासी संप्रदाय की रसमयी मन्दाकिनी ब्रज में प्रवाहित हो चली।

परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्य—

राधा कृष्ण की इस रसमयी भक्ति ने भक्तों के हृदय को द्रवित कर, प्रेम रस में डुबो दिया। साधक को इस प्रेममयी साधना की चरम सीमा (माधुर्यभाव) में पहुँचने पर उस प्रेम के देवता की प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है और तब वह संसार के समस्त दुःखों से छूट जाता है।[1] इस बात को ध्यान में रखते हुए आचार्य वल्लभ ने भी श्रीराधा कृष्ण को अपना इष्टदेवता माना था। जिस पुष्टि भक्ति की प्रधानता आचार्य वल्लभ के सम्प्रदाय में है, उसके अनन्य से जीव को परमात्मा के साथ वार्तालाप गायन तथा रमणादि करने की योग्यता मिल जाती है तथा भगवदीय शक्ति उसमें स्फुरित हो उठती है। यह शुद्ध पुष्टि भक्ति गोपांगनाओं को ही प्राप्त थी अन्य को नहीं। यह बात प्रायः सभी वल्लभ सम्प्रदायी मानते हैं। यमुना की उपवन वीथियों में विहार करने वाले, व्रजनागर, गोपांगनाओं में आसक्त रहने वाले वृन्दावन के इन्द्र ग्वालिनियों के प्राणनायक कामधपर यमुना के नाविक गोपी रूपी समुद्र में विहार करने वाले राधा के अधरपान करने में रत व्रजस्त्रियों के निरन्तर प्रिय गोपियों के नेत्रों के तारे, जीवन के आनन्द के रसिक अलक्षित कुंज कुटीर में रहने वाले राधा के सर्वस्व-सम्पुट अत्यन्त गूढ़ रस के पंडित गोपियों के चित्त को आनंदित करने में चन्द्रमा के तुल्य क्रीड़ा तांडव के पंडित, कंदर्प कोटि लावण्य नवीन मधुर स्नेह वाले राधिका रतिलम्पट तथा रास के उल्लास में मदोन्मत्त श्रीकृष्ण इनके इष्टदेव हैं।[2] किन्तु अकेले नहीं साथ में राधा भी हों तब। निम्बार्क संप्रदाय की भांति ही वल्लभाचार्य जी ने राधा को

---

1 Devotion to Radha Krishna melts the heart and deepens into flaming love. Then the Lord of love reveals his blissful nature to him and frees him from the sorrows of Samsara

—The Philosophy of Bhadabheda
By—P N Srinivasachari. Page 161

२ विशेष जानकारी के लिए श्री वल्लभाचार्य का श्रीकृष्णप्रेमामृतम् नामक ग्रंथ देखना चाहिये।

अपनी सांप्रदायिक उपासना के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रधानता दी है और राधा के साथ ही कृष्ण को अपना इष्टदेवता माना है अकेले कृष्ण को नहीं, इसमें भी राधा-कृष्ण, युगल की एकांत-झांकी ही वल्लभाचार्य जी को परम प्रिय थी। कालिंदी के तट पर विचरण करने वाली, नवीन, मनोहर, उरोज-युगल वाली गोपकन्या राधा को एकांत में देखकर हठात् उस मृगाक्षी के सुदृढ़ नीवी ग्रन्थि को शिथिल करने वाले श्री के नायक में ही वल्लभाचार्य, निरंतर रति की कामना करते हैं।[1]

अपने इन रसस्वरूप आराध्यदेव राधा-कृष्ण की जिस उपासना का प्रसार आचार्य वल्लभ ने किया वह भगवान निम्बार्काचार्य के प्रभाव से किसी प्रकार अछूती नहीं थी। इस उपासना-पद्धति में भी साधक को राधिका की षोडशवर्षीय सहचरी के रूप में मित्र को देखना पड़ता है अन्यथा युगल मूर्ति का दर्शन भी असंभव है। आचार्य वल्लभ की शुद्ध पुष्टि ही मधुर साधना का प्रतीक है। इस शुद्ध पुष्टिभक्ति में तीन अवस्थाएं हैं—स्नेह आसक्ति तथा व्यसन। व्यसन की स्थिति में जब साधक पहुंच जाता है, तो उसकी दशा मदिरा के नशे में चूर व्यक्ति की सी हो जाती है। वह अपने आप को भी भूल जाता है और अपने ही आनंद में तन्मय हो जाता है। इस पुष्टिभक्ति में उपासक को प्रत्येक दिशा से अपने उपास्यदेव रसस्वरूप ही जान पड़ते हैं, किन्तु यह विषय इन्द्रियों से परे है। इसे तो अन्त साधना के बल से ही जाना जा सकता है और यह रसस्वरूप उपास्यदेव मधुररसमय साधना से ही प्रकट होता है।

पुष्टि भक्ति की इस मधुरमयी स्थिति तक पहुंचना भावना से ही संभव होता है। भावना के अभाव से प्रभु का स्मरण हो नहीं सकता। जिस प्रकार एक योगी अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध कर देता है, उसी प्रकार यहां भक्त को अपने भगवान में समस्त इन्द्रियों तथा चित्त को लगाना होता है। यह भावना श्री हरिराय जी के अनुसार तीन प्रकार की विख्यात है—

१—स्वरूप भावना,
२—लीला भावना,
३—भाव भावना।

स्वरूप भावना के द्वारा भगवान का हृदय में प्रत्यक्ष अथवा ध्यान के

---

१ श्रीमद्वल्लभाचार्य के परिवृढाष्टक का प्रथम श्लो० देखिये।

द्वारा प्रवेश होता है। लीला भावना से भक्त भगवान् के लीलामय रूप को प्राप्त कर लेता है और भावभावना से तो अन्तःकरण भगवत्-काम से युक्त हो जाता है। इस दशा में भक्त के सारे व्यापार अपने आराध्यदेव के प्रति ही होते हैं, उसे देह की सुधि तक नहीं रहती तथा लौकिकता का पूर्ण-रूप से विनाश हो जाता है।

संसार में स्थित अगणित विषयों में 'काम' का प्राबल्य सर्वविदित है। ऐसा कोई जीवधारी न होगा, जो इसके प्रभाव से बचा हो। 'गोपियाँ' यह बात जानती थीं, इसीलिये उन्होंने निष्काम कृष्ण की उपासना कर अपने लौकिक काम का ध्वंस कर डाला था। गोपियों की उपासना अलौकिक थी—वल्लभाचार्य ने इसी साधना की ओर साधकों का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया था। सत्य है कि यदि गोपियों का काम लौकिक होता, तो उसके पूर्ण होने पर सृष्टि उत्पन्न होती। किन्तु ऐसा न होकर उस कामनापूर्ण भक्ति से वे सब सांसारिक बन्धनों से छूट गई थीं। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भागवत की सुबोधिनी टीका के रास प्रकरण में इसे स्वयं कहा है।[1] इसी अलौकिक कामनापूर्ण रसमयी साधना से आचार्य वल्लभ ने प्रकाशमान कृष्ण के प्रेमामृत रूपी सर्वोत्कृष्ट रस से परिपूर्ण समुद्र में अवगाहन किया था। वल्लभाचार्य के पश्चात् आचार्य विट्ठलेश्वर ने इस रसमयी साधना को अधिक विकास प्रदान किया। उन्होंने तो स्पष्ट रूप से अपने इष्टदेव श्याम सुन्दर से कहा—हे श्याम-सुन्दर! शिखण्डशेखर! प्रकाशमान मुस्कान वाले! राधिका रसिक! कृपानिधे! मुझे आप अपनी प्रिया (राधा) की चरण-किंकरी बनाओ। हे विभो! हे व्रज महेन्द्रनंदन! हे मोहन अपने दाँतों के नीचे तिनका दबाकर मैं प्रार्थना करता हूँ कि जन्म जन्म में तुम्हारी परम प्रिया राधा ही मेरी स्वामिनी हों।[2]

---

१ क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामात्ति तास्तथा॥
कामेन पूरितः कामः निष्कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्।
काममात्रेण पूर्णास्तु निष्कामः स्यात् न संशय॥
—भा० की सु० टी० रासप्रकरण

२ श्याम सुन्दर शिखण्डशेखर स्मेरहास्य मुरली मनोहर,
राधिका रसिक मां कृपानिधे स्वप्रिया चरण किंकरी कुरु॥२॥
संनिपात्य दशने तृणं विभो प्रार्थये व्रजमहेन्द्रनंदन।

इस संप्रदाय की यह मान्यता है कि बिना राधा की उपासना के माधुर्य भक्ति परिपक्व नहीं होती। श्री विट्ठलेश्वर निरंतर यही कामना करते हैं कि प्रियतम के प्रेम के सगम से उत्पन्न राधे के हास्ययुक्त नेत्रजल से ही उनका स्नान होवे अन्य जल से नहीं। राधे के ताम्बूल चर्वण से ही वे अपनी क्षुधा-शांति की अभिलाषा करते हैं। उनका यह विश्वास है कि भगवान की बाहु मालिनी छवि के मुस्कानयुक्त अवलोकन रूपी अमृत से ही उनकी पिपासा शान्त होगी। इसी प्रकार श्रीविट्ठलेश्वर की दृष्टि म राधा के चरणों के प्रति प्रणति ही उनका निवास स्थान उनके प्रति अत्यंत दीन भाव उनकी सम्पदा और स्वामिनी जी के प्रति उनका विरह ताप-दुख ही उनका जाप है। श्री राधा के प्रति भी विट्ठलेश्वर का जो गूढ़ ध्यान है वही उनका स्मरण है।

अखिल निगमों के निगूढ़ रहस्य श्रीराधा रूपी धन, को इस संप्रदाय के मधुर रस की भक्ति का साधक निरंतर स्मरण करता रहता है। उसके हृदय में यमुना के पुलिन की ओर सायंकालोपरांत धीरे धीरे मधुर गति से गमन करती हुई राधा के सुन्दर नूपुर चरण सर्वदा निनाद करते हैं और तभी अमंद प्रेम में सराबोर किसलय से निर्मित केलिशय्या से प्रातः काल उठकर, कमल के समान अलस भाव कपोलवाली तथा सुमनोहर राधा अपने घर का जाती हुई वशीभूत मुख—कमल पर विराजित रस को अपने उस भक्त का प्रदान भी करती है। जब साधक उस मधुरस में सराबोर होकर अपनी स्वामिनी श्रीराधा से चरणदास्य माँगता है, तो प्रियतम के द्वारा आँखों से संकेतित नवनिकुंजों म नाना प्रकार के पुष्पों से अतिशय रुचिर केलि शय्या बनाकर गुंजायमान भ्रमरों से युक्त मंद वायु से सेवित तथा दिन में भी क्रीड़ा करने वाली राधा उसे अपना चरणदास्य प्रदान करती है।

इस सम्प्रदाय मे भी रसिकभक्त राधा की उपासना इसीलिए करता है कि उसे श्रीकृष्ण के सान्निध्य का सुख मिले। वह कहता है कि हे राधे! जब एकांत म यदुपति से तुम्हारा मिलन हो तो तत्क्षण ही मुझे बुलाना चाव तथा प्रसन्नता से चन्द्रावली के कथन पर तुम्हारे चरणों म मैं लग जाऊँ। हे शशिमुखी! मैं तभी अपने को कृतार्थ समझूँगी (यहाँ साधक अपने आप

अस्तु मोहन तवातिवल्लभा जाम जम्मनि मधीश्वरी प्रिया ॥४॥
—राधा प्रार्थना चतुः श्लोकी श्लो० २, ४

को राधा की सेवा करने वाली सखियों में से ही एक—किशोरावस्था की तरुणी के रूप में समझता है) जब युगल क्रीड़ा को सम्पन्न करने के बाद मुझे भेजने (राधा के पहुँचाने में) की क्रिया में भी स्मरण करें।

यहाँ साधक यह भी कामना करता है कि हे स्वामिनी, कभी दिन में यमुना में चंचल कटाक्षों से मनोहर आप, वक्ष-पर्यन्त पैठकर स्नान करने के उपरांत अपने भीगे हुए वस्त्रों को धोने के हेतु स्मरण करेंगी। हे राधे ! अनेक प्रकार की रति के श्रम से उत्पन्न श्रमकण से आकुल कपोल वाले हरि को देखकर यदि क्षण भर के लिए भी व्यजन-सेवा के हेतु मुझे स्मरण करें तो मैं अपने को धन्य समझूँगी। इस प्रकार मधुर भक्ति के प्रवाह में बहते हुए साधक पुनः कहता है कि हे स्वामिनी, दिन में स्नान करने के बहाने यमुना तट पर जाने के लिये प्राप्तेय के योग्य अनेक प्रकार की वस्तुओं को गुप्त रूप से लेकर अपने पहिनने योग्य वस्त्रों को सँभालने के लिए यदि आप मुझे स्मरण करें तो मैं कृतार्थ होऊँगी। और अपने प्राणेश के द्वारा कुङ्कुमयुक्त हस्त खींचने से जो श्याम फट जाने वाली अपनी अति प्रिय चोली (कंचुकी) को देने के लिए आप मुझे यदि एक बार भी प्रेम से स्मरण करें तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। मधुर रस के उपासक को इस उपर्युक्त भाव के अभाव में किशोरी भाव दुर्लभ होता है और किशोरी भाव के अभाव में श्रीकृष्ण (जो राधा के परम प्रियतम हैं) का स्वप्न दर्शन भी असंभव है। किशोरी के रूप में राधा किशोरी से ही अधिक प्रेम रखने वाला साधक कृष्ण के मधुर रस का आस्वादक बन सकता है अन्यथा नहीं। यहाँ पर साधक को किशोरी रूप की भावना करते हुए ही निरंतर यह अभिलाषा रखनी चाहिए कि कब श्रीराधे सुन्दर प्रसूनों की बनी हुई शय्या पर विराजमान होंगी, उनके प्रियतम उन्हें अपने मुख के चर्वित ताम्बूल को उन्हें देने के लिए प्रस्तुत होंगे और तब उस समय वे अपने मुखगत ताम्बूल को देने के लिए उसे (साधक को) स्मरण करेंगी। जब रस में सराबोर साधक को इतने से भी संतोष नहीं होता, तब वह कहता है कि केलि से उत्पन्न श्रम के जल बिन्दुओं से व्याप्त मुख-कमल की शोभा वाली तथा चोये हुये चित्र वाली राधे, आप निकुंज की पुष्प निर्मित शय्या से उठकर आती हुई अपनी स्वाभाविक कृपा पूर्वक केलि में दलित माला को देने के लिए यदि आप तत्पर होंगी, तो उससे बढ़कर और मेरा सौभाग्य क्या है ? और हे स्वामिनी ! ऐसा कब होगा, जब रात्रि में निकुंज गृह में प्रियतम के साथ सुकोमल शय्या पर प्रियतम के द्वारा

विराजमान आप के चरण कमल को मैं अपने केश समूह से प्रसन्नतापूर्वक पोंछूंगी।[1]

विक्रम की १६वीं शताब्दि में अपनी मधुर भक्ति का प्रसार करने वाले स्वामी हितहरिवंश, स्वामी वल्लभाचार्य तथा महाप्रभु चैतन्यदेव की भाँति ही प्रसिद्ध हुये। जिस माधुर्यमयी उपासना के सम्बन्ध से उन्होंने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को प्रसन्न किया था, वह उनकी दृष्टि में वेदों का सार स्वरूप थी। उन्होंने एक नूतन संप्रदाय को जन्म दिया और उसे राधावल्लभ संप्रदाय के नाम से विख्यात किया। इस संप्रदाय के प्रवर्तक व विश्वास है कि बिना राधा-माधव के भक्त जनों की कृपा के जीवनोद्धार असंभव है। इतना ही नहीं वरन् इष्टदेव के प्रति प्रेम भी उन्हीं की कृपा से मिलता है। जिस मधुर तत्व का प्रकाश स्वामी हितहरिवंश ने किया उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस नित्य नूतन प्रेम तत्व की व्याख्या करने के हेतु ही हितहरिवंश जी ने राधा-कृष्ण की नित्य विहार लीला का वर्णन किया है। कृष्ण के प्रेम की एकमात्र अधिकारिणी राधा की अनुकम्पा के बिना साधक उपासना की किसी भी भूमि पर नहीं पहुँच सकता। अस्तु सर्वप्रथम वह यह कामना करता है कि स्वर्ग-नरक जहाँ भी वह जन्म ले वहाँ भी उसके हृदय में निरन्तर प्रिया प्रियतम, सहचरि तथा वृन्दावन का ध्यान बना रहे। इस ध्यान से ही उपासना करने वाले की निष्ठा दृढ़ होती है। इस निष्ठा के साथ वह परम चतुर किशोरी के रूप में भावना करता है और प्रेम की देवी राधा की परिचर्या करते हुए उनके सामीप्य की कामना करता है। जब उपासना करने वाला श्रीराधा के रसयुक्त नैकट्य को प्राप्त कर लेता है और राधा जी का विश्वासपात्र बन जाता है, तभी वे अपनी उस सहचरि रूप भक्त को कृपापूर्वक आलिंगन देती हैं और उसके हित (प्रेम) के लिए सब कुछ करने को तत्पर हो जाती हैं।

मधुर उपासना करने वाले भक्त सर्वप्रथम राधा के चरणों में अनुराग करते हुये, उनके उस अद्भुत रूप की झाँकी की कामना करते हैं जिसमें प्रेम रस, सौन्दर्य, लावण्य और केलि की मधुरिमा विद्यमान है। राधा के प्रति साधक में इस प्रकार के अनुराग से कृष्ण प्रसन्न होते हैं और बदले में कृपा पूर्वक अपनी प्रियतमा का प्रिय जान कर उसे आलिंगन, चुम्बन, वनमाला

---

१ श्री विट्ठलेश्वर कृत स्वामिनी स्तोत्र के आधार पर

तथा अपना चर्वित ताम्बूल तक प्रदान कर देते हैं। अस्तु, साधक यहाँ राधा को ही अपनी पति मान कर चलते हैं।

इस संप्रदाय में मधुररस का आस्वादन करने के लिए सखी भाव को प्रधान माना गया है, सतत् साधना करने वाला भक्त राधा की कृपा होने पर ही सखी भाव को प्राप्त करता है।

इस माधुर्य रस का आस्वाद करने के हेतु स्वयं कृष्ण राधा से उनकी सखी बनने की प्रार्थना करते हैं। श्रीराधा की जिस रूप-माधुरी का गान कवि मस्तुत करते हैं वह अंगों में मृदुलता मुस्कान में माधुर्य, नेत्रों में दीर्घता, उरोजों मे पीनता नितम्ब दय मे स्थूलता, कटि में क्षीणता, भ्रूलता में कुटिलता और अधर में रक्तिमा को निरंतर धारण किये रहती है। ऐसी सौन्दर्य-माधुर्य का भण्डार राधा के चन्द्र-मुख की सुधा को कृष्ण चकोर की भाँति पीते हैं तथा उनके कमल सदृश चरणों पर भ्रमर की भाँति मँडराते हैं। जिस प्रकार कृष्ण उनकी इस रूप-छटा को निरंतर देखने के हेतु लालायित रहते हैं उसी प्रकार उनके भक्त भी अपने काव्य रूपी दर्पण में उसे निरंतर देखते हैं।

इस संप्रदाय के भक्त कवियों ने अन्य मधुर रस के उपासकों की भाँति ही भगवान कृष्ण तथा भगवती राधा के एकांत कुंजविहार का भी वैसा ही वर्णन प्रस्तुत किया है, जैसा कि प्रकट सौन्दर्य का। इस वर्णन में भक्त की अंतरंग सेवा की भावना छिपी होती है। वमन के इस सुख में वह परम संतोष पाता है। इसके अतिरिक्त उसे मुक्ति भी प्यारी नहीं होती संसार के ऐश्वर्य की तो बात ही क्या है? राधावल्लभ संप्रदाय के संस्थापक ने 'राधा सुधानिधि' नामक ग्रंथ में इसी लिये बार-बार उस अन्तरंग सेवा की अभिलाषा प्रकट की है, जिससे वह राधा कृष्ण की मधुर केलि-रस मंदाकिनी मे अवगाहन कर अमृतपान कर सके। गोस्वामी हितहरिवंश इसी दृष्टि से कभी तो रतिश्रम से थके हुये राधा-माधव के ऊपर पंखा करने की कामना करते हैं, कभी राधा के सीत्कार-श्रवण को चाहते हैं, कभी राधा के मस्तक पर कस्तूरी के द्वारा तिलक लगाने की प्रार्थना करते हैं, कभी केश पाश को बाँधने की इच्छा करते हैं, कभी रतिरण से टूटी हुई माला को पिरोने की बात कहने लगते हैं और कभी पुन उनके नेत्रों में अंजन लगाने की अभिलाषा करते हैं। इस प्रकार वे प्रतिक्षण नूतन रहने वाले मधुर रस के आनन्द की कामना करते हैं। राधा की भक्ति में तो यह भक्त इतना तन्मय है कि यदि राधा कृपा करके मधुर

रसास्वाद के हेतु उसे अपने प्रियतम (कृष्ण) को भी सौंप दें, तो भी वह अपनी स्वामिनी श्रीराधाजी का विस्मरण नहीं करेगा। उस समय कृष्ण के साथ आलिंगित होने पर भी राधा के ही रसयुक्त चरण-कमल के रस का अनुभव करेगा। यथा—

यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रति लाम्पट्य पदवीं
गतं ते स्वप्रेष्ठं तदपि मम निष्ठं शृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मित सहचरैर्जात पुलकं—
समाश्लिष्याम्युच्चैरथच रसये त्वत्पदरसम् ॥

—राधा सुधानिधि श्लो० ८०

परम पावन प्रेम-लीला की एकमात्र उत्पत्ति-स्थान श्रीराधा में भक्तों की निरन्तर ऐसी ही प्रीति होती है। सहचरि भाव की प्रधानता होने के कारण ही उपासक निरन्तर युगल-केलि-दर्शन करने की कामना व्यक्त करता है। यहाँ सहचरि को स्वयं रति की कामना उत्पन्न नहीं होती वरन् राधा-माधव की रति-केलि-दर्शन की भावना ही होती है।

राधावल्लभ संप्रदाय में राधा कृष्ण को नित्य माना गया है। यहाँ व्रज भी नित्य है, सहचरि भी नित्य है, आनंद भी नित्य है, विहार भी नित्य है और शृंगार भी नित्य है। इस नित्य विहार को सहचरिभाव का साधक देखकर तथा कुंजविहारी की सेवा में प्रस्तुत रह कर अपने को धन्य मानता है। यथा—

नित्य किशोरी, नित्य किशोर,
नित वृन्दावन नित निशि भोर।
नित्य सहचरी नित्य विनोद,
नित आनंद बरसत चहुँ ओर।
नित्य विहार निवाहि सिंगार
पल-पल पावत सुख को सार।
नित्य सखिन कै यही अहार,
नित्य सुरत रत करत विहार ॥

—ध्रुवदास, बयालीस लीला

इस नित्य विहार के उपासक को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं:—

१—सबसे प्रेम करना

२—निष्काम होना
३—वृन्दावन में निवास करना,
४—राधा-माधव का निरंतर ध्यान करना तथा मुख से नाम-कीर्तन गुणगान,
५—रसिकों का सत्संग करना,
६—मन को युगल प्रेम में सराबोर रखना,
७—निरन्तर श्रीकृष्ण राधिका की झाँकी देखने की कामना करना।
८—मधुर पदों से राधा-माधव-यशगान सुनना,
९—सखीभाव की भावना करना,
१०—निरंतर अपने आराध्य श्याम-श्यामा के विहार-सुख के साधन जुटाना आदि।

उपर्युक्त बातों का सतत् पालन करते हुये रसोपासक किसी न किसी दिन साधना की उस भूमि पर पहुँच जाता है, जहाँ सब कुछ श्याम श्यामा मय है। इस रस समुद्र का रस सर्वोपरि है, इसी का सेवन ललिता आदिक सखियाँ सर्वदा करती रहती हैं।[1] लौकिक अभिलाषाओं को यहाँ साधना करने वाले को समाप्त कर देना पड़ता है, तभी उसके हृदय में वैराग्य की भावना उमड़ती है इसी वैराग्य भावना से प्रेम का अंकुर प्रियतम की समीपता पाने के लिये हृदय में उत्पन्न होता है और तब रसासक्ति। इसी रसासक्ति के वशीभूत हैं श्याम-श्यामा। इस रस की धारा प्रवाहित होते ही इतनी वेगवती हो जाती है कि किसी के संभाले नहीं संभलती। राधा-माधव इसमें अपने को भूल जाते हैं। भगवान शंकर ने जिस प्रकार गंगा के तीव्र प्रवाह को रोक कर अपनी जटा में उन्हें बाँध लिया था उसी प्रकार नित्य सहचरियाँ श्यामा-श्याम के इस मधुर प्रेम रस के प्रवाह को अपनी आँखों में धारण किये रहती हैं। सखीरस-साधना की भाँति ही मधुर रस का प्रेमी साधना करके रस की एक बूँद उन सहचरियों से प्रसाद रूप में पाता है और फिर इसी रस के सहारे सहचरी-भावना का हृदय में अनुभव करते हुये इष्टदेव के नित्य विहार सुख का पान करता है। जिस प्रकार राधिका जी इस नित्य विहार के सुख के वश में रहती हैं उसी प्रकार श्याम सुन्दर भी। समस्त विधिनिषेध

---

१ सर्वोपरि है मधुर रस युगल किशोर विलास
ललितादिक सेवत तिन्हीं मिटत न कबहुँ हुलास।
—ध्रुवदास कृत भजनाष्टक

जहाँ मर्यादाहीन हो जाते हैं और श्याम-श्यामा इच्छानुकूल परस्पर रति लीला में आनन्द-विभोर हो जाते हैं। यहाँ लतायें भी श्यामा-श्याम की कला को देखकर लज्जा का अनुभव करती हैं।[1] लतायें ही नहीं जब कोमल पुष्पों से युक्त लताओं के मध्य में राधा माधव रति केलि में मग्न हो जाते हैं, तब वहाँ की बल्लरियाँ संकुचित होकर उस रति रस से विवश हो जाती हैं।[2] वृन्दावन के मध्य में इस रस का समुद्र विद्यमान है, उसमें निरंतर आनन्द-लहरें उठती रहती हैं। काम के देवता स्वयं अपने समस्त दलबल के साथ इसी वृन्दावन के कुंज-महल को दिन रात बनाते रहते हैं।[3] इस कुंज में प्यारे जो-जो चाहते हैं, वही-वही राधा करती हैं और राधा जो-जो चाहती हैं, कृष्ण भी वही करते हैं। राधा अपने प्रियतम के नेत्रों में बस जाना चाहती हैं और प्रियतम अपनी प्यारी की आँखों के तारे। प्रियतम उन्हें प्राणों से प्यारे हैं और प्रियतम को वे। इस प्रकार जैसे जल से तरंग मिली रहती है उसी प्रकार राधा-कृष्ण एक हैं, उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता।[4] इस प्रकार नेम से

---

१ नवल-नवल सुख चैन ऐन जामे आपुबस।
निगम लोक मर्याद भंजि क्रीडंत रंग रस।
सुरत प्रसंग निशंक करत जोइ-जोइ भावत मन।
ललित अंग चलि संग माइ लज्जित पुलोक पन॥
अद्भुत बिहार हरिवंशहित निरखि ताहि सेवक जियत।
निसदिन, सुमत पावत रसिक सु नित नित लीला रस पियत॥
—सेवक वाणी रस रीति प्रकरण, ७

२ कोमल फूली लतनि में करत केलि रस माहिं
तहं तहं की बल्ली सबै सकुचि विवश झुकाहिं।
—ध्रुवदास कृत रंग विनोद

३ अति कमनीय विराजत मंदिर नवल निकुंज,
सेवत सतत प्रीति जुत दिन मीनध्वज पुंज॥६७॥
—हित चौरासी, पृष्ठ ४१

४ जोई-जोई प्यारी करै सोई मोहि भावै
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे।
मोकों तौ भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारो भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे॥१॥

नैन, हृदय से हृदय, मुख से मुख मिलाये श्रीराधा-माधव रूप के समुद्र में मधुर रस का पान करते हुए संध्या-सबेरे का ध्यान भूल जाते हैं। रात भर जागकर भी वे रस विहार में कभी तृप्त नहीं होते। इस मधुर रस की कोई उपमा नहीं प्राप्त होती। इसी रस की प्राप्ति के हेतु कुंजबिहारी सतत् राधा को अपने समक्ष देखना चाहते हैं। राधा उनके इस भाव को जानती हैं, अस्तु, वे स्वप्न क्षण मात्र के लिये भी प्रियतम की ओट नहीं होतीं और उन्हीं के प्रेम रंग में सर्वदा रँगी रहती हैं। परम चतुरा उन राधा के हाव भाव प्रतिक्षण उनकी शोभा को परिवर्तित करते रहते हैं। इन्हीं राधा के रूप के वन में कृष्ण के नैन सदा भले रह कर रस-लीन रहते हैं।[1] १. । रसामृतसार का वर्णन स्वामी हितहरिवंश ने किया है जिससे राधा के कोमल चरण-कमलों में उनकी प्रीति बढ़े और रसिकों की भी। यथार्थ में रसिक वही है, जिसके हृदय में प्रतिक्षण राधा माधव के प्रति प्रेम बढ़ता रहता है। हितहरिवंश जी कहते हैं कि राधा के मुख-कमल के इसी प्रेम रूपी मधुर रस का पान करने के लिये श्याम सुन्दर के नैन बराबर लगे रहते हैं। ओट होते ही पल भर शत कल्प के तुल्य जान पड़ता है। माधव की आँखें श्रीराधिका के मूर्ति पर कंज, कुचों में अंजन तथा कुचों के मध्य में मृगमद होकर भी तृप्त नहीं होतीं और निरंतर उनकी प्यारी राधा जी के नाभि रूप सर की मछली बनने के लिये

मेरे तन मन प्रानहु ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोंसों हारे
ज श्री हितहरिवंश हंस हंसनी सांवल-गौर
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे ॥२॥

—हित चौरासी

१ अलबेली सुकुमारी मननि के भाये रहै,
जब लगि प्रीतम के प्रान रहे तन में।
यह जिय जानि प्यारी रंचकौ न होत न्यारो
तिनही के प्रेमरंग रँग रही मन में।
परम प्रवीन गोरी हाव भाव में किशोरी
नये-नये छवि के तरंग उठें छिन में।
हित ध्रुव प्रीतम के नैन-मीन रसलीन
डोलियो करत दिन प्रति रूपवन में ॥

—ध्रुवदास कृत आनंद दसा विनोद लीला, पृ० २२१

व्याकुल रहती है।[१] राधा भी श्रीकृष्ण के साथ प्रेम के इस मधुर रस का आस्वाद करके अपने को भूल जाती है। वे अपने शरीर को नहीं सँभाल पाती, दूसरी सखियों से अपने उस मधुर मिलन की बात छिपाना चाहती है, किन्तु छिपा नहीं पातीं। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं, मोतियों की लड़ियाँ टूट गई हैं, नेत्र अलसाये हुये से हैं ओष्ठ की लालिमा फीकी पड़ गई है और वक्षःस्थल पर श्रीकृष्ण द्वारा किया गया नखक्षत विद्यमान है। सखियाँ उनकी इस दशा को जान जाती हैं और कहती हैं कि आज मोहन ने विविध प्रकार से अपनी थाती को सँभाल लिया है। राधा ये बातें सुनकर मंद-मंद मुस्कान बिखेरती हुई घर की ओर चली जाती हैं।[२] स्वामी हितहरिवंश द्वारा आस्वादित यह रस उनकी वाणियों से फूट पड़ता है।

इस अलौकिक मधुर रस के आस्वाद का कोई समय नहीं होता। रस सिद्ध उपासक दिन रात इसका आस्वादन करता है और रसहीन कोटि कल्पों तक तपस्या करके भी इसे प्राप्त नहीं कर पाता। श्रीकृष्ण इसे

---

१ कहा कहौं इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया बदन अम्बुज रस अटके अनत न जात,
जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात,
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात,
श्रुति पर कंज दृगंजन कुच बिच मृगमद ह्वै न समात,
हितहरिवंस नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात ॥६०॥

—हित चौरासी पृष्ठ ४८

२ मोहन लाल के रसमाती।
बधू गुपत गोवति कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती ॥१॥
देखि सम्हार पीत पट ऊपर कहाँ चूनरी राती।
टूटी लर लटकत मोतिन की नख बिधु अंकित छाती ॥२॥
अधर बिंब खंडित, मषि मंडित गंड चलति अरुसाती।
अरुन नैन घूमत आलस जुत कुसुम गलित लट पाती ॥३॥
आज रहसि मोहन सब लूटी विविध आपुनी थाती।
ऐ श्री हितहरिवंश वचन सुनि भामिनि भवन चली
मुसकाती ॥४॥

—हित चौरासी पृ० २१

पाने की दृष्टि से नित्यनिकुंज में एक बार पहुँचे, वहाँ बरसात होने लगी। सघन कुंज के द्वार पर प्यारी के साथ खड़े-खड़े उन दोनों के सारे वस्त्र भीग कर शरीर से चिपक गये किन्तु रसदान के हेतु दोनों वहाँ से हटे नहीं। श्री ललिता भी उनके सौंदर्य रस में भीगकर दोनों को वर्षा से बचाने का प्रयत्न करती हैं।[1] किसी प्रकार वर्षा बन्द हुई वायुमंडल स्वच्छ हुआ। नवल नागरी और नवल नागर किशोर—दोनों ने कुंज के मध्य में पहुँच कर कमल के कोमल दल से शय्या को रचा। दोनों उस पर विराजमान हुए। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो स्वर्ण में नील मणि को जड़ दिया गया हो। राधा, प्रियतम के नीवी बन्ध मोचन करने वाले हाथों को बार-बार पकड़ती हैं, प्रियतम के द्वारा उरोजों के स्पर्श से वे मान करने लगती हैं तथा श्रीकृष्ण पर रोष प्रकट करती हैं। नित्य निकुंज के इस विहार में माधुर्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। ललिता आदि उस रस को अपने नैनों से पान कर रही हैं।[2] इसे भी हितहरिवंश ने देखा था और रसिकों के लिये गाया था।

---

1 दोऊजन भीजत अटके लालन,
सघन कुंज के द्वारे ठाड़े अम्बर लपटे लालन।
ललिता ललित रूप रस भीजी बूँद बचावत लालन॥
जय श्रीहितहरिवंश परस्पर
प्रीतम मिलवत रति रत लालन ॥२१॥
—स्फुट वाणी, पृष्ठ १२

२ नवल नागरि नवल नागर किशोर मिलि
कुंज कोमल कमलदलनि शिय्या रची।
गौर श्यामल अंग रुचिर तापर मिले,
सरस मणिनील मनौं मृदुल कंचन खची॥
सुरत नीवीनिबंध हेत प्रिय मानिनी,
प्रिया की भुजनि में कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष,
हुंकार गर्व दृग भंगि भामिनि लची॥
कोक कोकिल रमत रहसि हरिवंशहित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।

उपर्युक्त अभिलाषाओं को अपने हृदय में रखकर अपनी समस्त चेष्टायें अपने प्रियतम इष्टदेव के प्रति करने वाला अनन्यसम्प्रदाय का विख्यात रसोपासक-भक्त होता है।

वृन्दावन की सुरम्य भूमि पर मधुर भक्ति का प्रसार करने वाला माध्वपरंपरान्तर्गत गौडीय संप्रदाय है, जिसके प्रवर्तक थे बंगाल के परम रसोपासक श्रीकृष्ण चैतन्य। इन पर निम्बार्क संप्रदाय के कवि जयदेव (गीतगोविन्दकार) का पूर्ण प्रभाव था। जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति के ही सुललित पदों का गायन करते हुये सम्पूर्ण बंगाल में कृष्ण और राधा की भक्ति रूपिणी परम मधुर रस धारा प्रवाहित कर दी थी इन्होंने। निम्बार्क संप्रदाय की भाँति इस संप्रदाय ने भी राधा कृष्ण के सौन्दर्यमय रस स्वरूप की ही उपासना की है। भक्तिरस परिपूर्ण हृदयों को जीतने के लिए चैतन्य ने विशुद्ध प्रेम से सराबोर गीतों के कीर्तन का प्रचार किया था। इस प्रकार उन्होंने मधुर भावना के समुद्र में एक तूफान पैदा कर समस्त भक्तों के हृदय जीत लिये। इस संप्रदाय के भक्तों का विश्वास है कि भाव जब अपनी चरम स्थिति में पहुँच जाता है, तब वह महाभाव की संज्ञा प्राप्त करता है। श्री राधा इसी भाव की साकार मूर्ति हैं। सारांशतः रसमयी उपासना की वे कारण हैं। इसलिए सर्वप्रथम इस संप्रदाय का साधक श्रीराधा की शरण ग्रहण कर उनकी कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। भक्तों के हेतु कृष्ण की प्रसन्नता का मूल कारण श्रीराधा ही हैं। श्रीकृष्ण-प्रेम का लक्ष्य भी राधा ही हैं। अतः राधा की प्रसन्नता ही कृष्ण की प्रसन्नता है—ऐसा समझकर चैतन्य संप्रदाय का भक्त उपासना में तल्लीन होता है। प्रेम की देवी होने के कारण ही भक्तों ने उनसे (राधा से) प्रेम किया था।[1]

प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन,
चषक पिवत मकरंद सुख रासि अतर सची ॥३॥
—१० हित चौरासी, पृष्ठ ४१

1 " When love attains to the highest pitch it constitutes itself into Radha who is the most lovable of all and full of all qualities. She was the object of the highest love of Krishna

—Collected work of shri R. G Bhandarkar
System of chaitanya Page No 120
(Edition—1929 Poona)

महाभाव स्वरूपा राधा के सौन्दर्य रस-सागर में अपने मन को डुबाकर माधव स्वरूप उन्हीं राधा के हेतु साधक इस संप्रदाय में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। श्रीकृष्ण उस भक्त के लिये राधा रूपी पद्मिनी के राजहंस हैं, अस्तु वह राधा की रति का साधक का ही निरंतर अपने हृदय में धारण करता है। बिना महाभाव स्वरूपिणी राधा की भक्ति के भक्त इस भावस्थिति तक पहुँच नहीं सकता। इसलिये सर्वप्रथम वह परम आह्लादिनी रसस्वरूप राधा का स्मरण करता है और सभी प्रकार की अनुनय विनय भी उन्हीं से करता है। भक्त का यहाँ कथन होता है कि हे राधे! इस निकुंज में मुझसे कुछ परिचर्या करा लीजिये। मेरे द्वारा ही अपने पादसम्वाहन एवं केश बन्धन कराइये। हे राधे! आप दया करुणा की सागर हैं, अपने प्रियतम द्वारा प्राप्त चर्वित ताम्बूल को थोड़ा सा मुझे भी दीजिए। हे देवी! ऐसी कृपा कीजिए, जिससे मैं भी आपकी नर्म सहचरियों के साथ सर्वदा रसास्वादन कर सकूँ। हे प्यारी! जब आप अभिसार आदि चतुर प्रकारों की शिक्षा मुझे देंगी, जिससे मैं भी आपको साथ लेकर श्रीकृष्ण से मायका संगम करा सकूँ। इस प्रकार प्रार्थना करते हुए इस संप्रदाय का भक्त भी श्रीराधा से सर्वप्रथम दासी बनने की इच्छा प्रकट करता है और तब राधा कृष्ण की रसमयी लीला को देखने का अधिकारी होता है। 'संकल्प कल्पद्रुम' में भक्त का कथन है कि हे वृन्दावनेश्वरी! मैं आपकी दासी अर्थात् प्रियतम के साथ समस्त सखियों से घिरी हुई आपकी सेवा कर आनंद प्राप्त करूँगा। अनेक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर आपको अभिसार कराऊँगा। आपके हाथ को पकड़कर जब श्री हरि कुसुम-शय्या को अलंकृत करने के हेतु आपसे कहेंगे, तब उस आनंद का मैं पात्र बनूँगा और जब आप मदभर अर्द्धविकसित शब्दों से कहेंगी 'माधव, मैं सती हूँ, मुझे छोड़िए' तब मैं श्रीकृष्ण का तिरस्कार आपके सामने आकर करूँगा। जब इतने से भी उस भक्त को संतोष नहीं होता, तब वह पुनः कहता है कि हे राधे! श्रीकृष्ण के आलिंगन से जब आपकी अलकावली फैल जायेगी, वेणी खुल जायेगी, नीवी बंधन टूट जायगा उस समय उस झाँकी को देखकर मैं अपना जन्म सार्थक समझूँगा, कुंज के रन्ध्रों से आपकी लीला के दर्शन करूँगा और रसिकों के आनंद के हेतु कविता के कुसुमों से आपको विभूषित करूँगा। रास के समय हे राधेश्वरी! मैं स्वतः वीणा वादन करूँगा। मर्मर्मित सुले में जब आप अपने प्रियतम के साथ झूलेंगी, तब मैं आपको झुलाऊँगा और गायन करूँगा। इस प्रकार युगल मधुर रस के आश्रित मेत्रापात्र के विभूषणों से,

अधरामृत पान से किंचित हास्य रस से, विशाल भुज-संचालन से दृढ़ आलिंगन तथा चुम्बन के दर्शन से भक्त राधा कृष्ण—युगल की उपासना करता है, साथ ही उनकी उस अवस्था का भी स्मरण करता है जिसमें नेत्र दीर्घ, अपांग कुटिल, कपोल तथा वक्ष स्थल स्थूल तथा अंग-प्रत्यंग माधुर्य से परिपूर्ण हो जाते हैं। इस गोपी भाव के मधुर साधक का विश्वास है कि जब उसके इष्टदेव से उनका संपर्क होगा तो अधर-मधुपान से रसना, शीतल क्रोड के संसर्ग से स्पर्शेन्द्रिय परम सौन्दर्य से युक्त शरीर से नेत्र, सुगंध-समूह से नासिका तथा रसमय शब्दों से कर्ण आनन्दित होंगे।

जिस प्रेम का अवलम्ब लेकर मधुर उपासक श्रीकृष्ण की उपासना करता है, वह उस रूप में अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकता। वृन्दावन की उस पवित्र स्थली में निवास करने वाली कुछ गोपियाँ ही भावानुसार उसका (प्रेम रस) पान करती हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'प्रेमसम्पुट' नामक ग्रंथ में कृष्ण रूप सखी के (कृष्ण ही सखी के वेश में) पूछने पर श्रीराधा ने उनसे कहा—

> प्रेमाहि काम इव भाति बहि: कदापि—
> सेमामित प्रियतम सुखमेव विन्देत ।
> प्रेमेव कुत्रचिद्वेत्यत एव काम
> कृष्णस्तु तत् परिचिनोति यतात् कलावान् ।।

—प्रेम सं० श्लोक १८ पृष्ठ २६

यह प्रेम ही कभी-कभी काम के समान बाहर प्रकाशित हो जाता है और प्यारे श्रीकृष्ण इससे अपार आनंद प्राप्त करते हैं, परन्तु कभी-कभी यही काम किसी जन में प्रेम के समान दृष्टिगोचर होता है—कलावान् श्रीकृष्ण ही इसे जानते हैं। चैतन्य संप्रदाय की मधुर उपासना का प्राण यही प्रेम है। शीघ्र ही अपने प्रियतम के पास जाने की कामना करने वाली स्त्री का चित्त स्वभावतः ही प्रियतम के सुख से निष्ठ होता है, अस्तु उस सुख के हेतु जो काम जाग्रत होता है उसे प्रेम ही कहते हैं काम नहीं। मधुर भाव से ही श्रीकृष्ण की उपासना को सर्वश्रेष्ठ चैतन्य संप्रदाय में क्यों माना गया—इस संबन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है कि श्री नन्दनंदन प्रेम के समुद्र हैं। गुण रूपी रत्नों के भण्डार एवं अतिशय सौन्दर्यशाली होकर भी अंगनागण को गौरवमय

बनाने के हेतु ही अपने प्रेम को काम के समान प्रदर्शित करते हैं।[1] इसीलिए इसे ही गोपी भाव के साथ मधुर उपासना का आधार माना गया है। इस संप्रदाय के अनुसार प्रेम वही है, जिसके द्वारा प्रियतम का दोष भी गुण के समान प्रतीत हो, प्रियतम यदि शत् शत् कष्ट दें, वे भी अमृत के समान प्रतीत हों और अपने प्रियतम का अल्प-मात्र कष्ट भी सहन नहीं किया जा सके। अपने हेतु त्याग होने पर भी उनको छोड़ने की सामर्थ्य न हो तथा अपने प्रियतम में महिमा न होने पर भी पग-पग पर उनकी महान् महिमा का अनुभव होता रहे।

हिन्दी में इस संप्रदाय के रसिक भक्तों के द्वारा रचित जो भी रचनायें या पद प्राप्त होते हैं, उन सब का आधार आचार्य रूप सनातनादि कृत मधुरभक्ति रस शास्त्र ही है। परस्पर कंधे पर हाथ रखे हुए वृन्दावन में विहार करने वाले राधा-माधव के मिलन की आशा को अपने उर में धारण किये हुये उसी लालच से भक्त निरंतर अपनी साधना में तल्लीन रहता है तथा राधा की प्रियतम सहचरी ललिता विशाखा आदि से निरंतर इस फलवती आशा और लोभ को हृदय में बनाये रखने की प्रार्थना करता है। उस भक्त की यह धारणा है कि इन प्रिय सहचरियों की कृपा से मेरी यह उत्कण्ठा अवश्य सफल होगी। अपनी इष्टदेवी राधा से उनके कृपायुक्त अनुराग की आकांक्षा के साथ उनसे प्रार्थना करता है। भक्तों का यह अखंड विश्वास है कि यदि श्याम सुन्दर अपनी प्यारी के साथ उस उत्कण्ठा रूपी बेल पर अपने अनुराग रस की वर्षा नहीं करते तो वह बेल पनप नहीं सकती।[2]

---

१ विशेष विवरण के लिये 'प्रेम सम्पुट' नामक विश्वनाथ चक्रवर्ती का ग्रंथ देखना चाहिये।

२ वृन्दावन बिहरहिं सदा मेलें परस्पर बाँह
लालच तिनके मिलन को उपजि परो जिय माँहि ॥४॥
अहो विशाखा सहचरी, तुम सब रस को मूल,
यह उत्कण्ठा बेलि क्यों नव निज फूले फूल ॥८॥
हो ललितादिक तुम सब मिलि सींचो रस तोय,
यह उत्कण्ठा माधुरी बेग सफल क्यों होय ॥९॥
श्री वृन्दावन स्वामिनी करि सुदृष्टि इहि ओर
बदि करो अनुराग की कृपा कटाक्ष कोर ॥१०॥

इस संप्रदाय के साधक को बिना रस स्वरूप अपने इष्टदेव राधा माधव के दर्शन के कुछ नहीं सुहाता। उनके प्रेम में मस्त यह उपासक अपनी आँखों को फाड़े प्रत्येक वन, पर्वत, नगर तथा नदियों की खाक छानता हुआ अपने राधा-माधव को ढूँढ़ता घूमता है। संसार के सारे सुखों का त्याग कर उनके संयोग की आशा पर ही श्वास लेता रहता है। बिना प्रियतम के इस रसिक भक्त कवि को कालिन्दी करवत् चन्द्रमा अग्निवत्, पवन पाषाणवत् शय्या सूर्यवत् (तपाने वाली), भोजन और जल विषवत् और वसन बाणवत् प्रतीत होता है। यथा —

गिरि वन पुर वीथिन सबै रहौं निहार-निहार,
कोऊ कहूँ नहि पाइये, वा मुख की उनिहार ।।२७।।
वा मुख की आशा लगी तबी श्वास सब लोग ।
अब स्वासा हू छूटेगी जो न बनै संजोग ।।२८।।
कालिन्दी कर वत लगे पावक लगै शशि भाय ।
जो कबहूँ उन मुखन की परै सुरति जिय आय ।।१८।।
पवन लगै पाहन मनों सेज लगै सम भान ।
भोजन जल ऐसो लगे, गरल कियौ मनु पान ।।१९।।
*—माधुरी वाणी

अपने आराध्यदेव प्रियतम के सान्निध्य के अभाव में भक्त की यह व्याकुलता उसके अनन्य प्रेम का प्रतीक है। यथार्थ में भक्त वही है जो अपने भगवान के बिना एक क्षण भी न रह सके और उनके लिये संसार के समस्त सुखों का परित्याग कर दे। जब पुकारते-पुकारते, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पर्याप्त समय व्यतीत हो जाता है तो उसकी वेदना बढ़ती ही जाती है। कुछ उपाय न देखकर वह अपने देवता को सौगंध दिला देता है और कहने लगता है—

एक बार तो आय के नैनन ही मिलि जाउ ।
सौंह तुम्हें जो साँवरे नैकु दरस दिखराउ ।।

यह उत्कंठा की लता बनी बेल सुरसाल ।
तेल दामिनी श्यामघन जो बरसे नहिं आय ।।११।।
—मा० वा० पृ० १२

* श्री माधुरी जी श्रीरूपगोस्वामी जी के प्रिय शिष्य थे।

ऊरध स्वांस समीर सों सीतल ह्वै गई देह।
तन मन डूबो जात है इन नैनन के मेह॥
अहो प्रानपति प्राण यह नैनन में रहि जाय।
पलक एक सों पाइहों जो पहुँचोगे धाय॥

—माधुरी बानी

अपने प्यारे के सौन्दर्य-माधुर्य रस के आस्वाद के बिना यहाँ साधक हृदय बार-बार उन्हीं को पुकार रहा है। नैनों की बरसात से तन मन दोनों डूब गये हैं और प्राण भी शरीर से निकल कर नैनों में आ गये हैं, पलक खोलो और प्राण गये इसीलिए वह शीघ्र ही मिलना चाहता है।

प्राणों से युक्त अपने नेत्रों से वह राधेश्याम का नित्य निकुंज में नवल विहार देखना चाहता है, अपने पैरों से अपने प्रियतम के साथ घूमना चाहता है और सकितिक भाषा में प्रियतम द्वारा कहे हुये रसरंग की वार्ता का आस्वाद करना चाहता है। किन्तु संयोग होगा, तभी वह ऐसा कर सकेगा और संयोग तभी होगा जब उसके प्रियतम अपने विशाल कमल रूपी नेत्रों से कृपापूर्वक उसकी ओर देखेंगे। जब वे उसे प्रेम सहित अपना सामीप्य प्रदान करेंगे तभी वह अपने भाव (सखी भाव) में तन्मय होकर अपने प्रियतम की सेवा का अधिकारी हो सकेगा। रूप सनातन की परम्परानुसार रसिक भक्त अपने युगल सरकार के मस्तक पर चंदन लगाने में, नैनों में अंजन लगाने में, शय्या रचने आदि में अपने को सौभाग्यशाली मानता है। यथा—

बार-बार आँचल गही विह्वल बस विकल विहाल,
कब लिपटाऊँ लाल के पौरि अरगजा माल॥९०॥
कब आँजहुगो करन सों सोभन कमल विशाल,
ता छिनु छबि ऐसी फबी जनु कुरंग परि जाल॥९१॥
कब देखौं यह भाँति सों जुड़े नैन सों नैन,
भरस परस मुसकाति मन समझ गूढ़ कछु सैन॥११७॥
कब इन कान परहिंगे प्राणन को सुख देन
कछु मसेवोहि लाल के लोभ लपेटे बैन॥११८॥

—माधुरी बानी

कुंज सेवा के साथ-साथ मधुर रस साधना करने वाला अपने प्रियतम के उस रूप की सुधि पाने को भी उत्सुक है जिसमें वे अपनी प्रिया जी के साथ ही साथ तन्मय होते हैं। जब इतने से भी उसे संतोष नहीं होता तो वह

भगवान की लीला क्रीड़ा में भी भाग लेने के लिए तड़प उठता है। किन्तु भगवान के साथ केलि करना तो सबके बस की बात नहीं होती। साधक भी इस कठिनाई को जानता है, किन्तु हिम्मत नहीं हारता। होली के त्यौहार पर वह अपने प्रियतम के साथ होली खेलना चाहता है। वह यहाँ तक प्रस्तुत हो जाता है कि यदि प्रियतम के साथ उसे होली मनाने को न मिली तो वह अपने शरीर को ही होली बना देगा। किन्तु ऐसे तो कार्य चल नहीं सकता, वह पुन. विचार करता है और कहता है कि यदि मैं इस होली का खेल ही बन जाऊँ तब तो प्रियतम मुझे ही होली का खेल समझकर अवश्य मेरे साथ खेलेंगे। इसी प्रकार कभी वह गुलाल बनकर प्रियतम के नेत्रों में पड़ जाना चाहता है, कभी प्रिया की पिचकारी बनना चाहता है कभी केसर का रंग बनना चाहता है, कभी उस फुलवारी का फूल होना चाहता है जिसमें प्रियतम प्यारी के साथ विहार करते हैं। उपासक का यह विश्वास है कि उसके युगल इष्टदेव के हाथ में इस प्रकार वह फूल बनकर पहुँच सकेगा और तब उसे भी उनके स्पर्श का सुख अनुभूत होगा। भक्त उपासना की चरम सीमा को उस समय पार कर जाता है जब वह नवनिकुंज शय्या ही बनने की कामना प्रकट करता है। वह कभी शय्या बनना चाहता है, कभी प्रियतम और प्यारी के मार्ग की धूल बनना चाहता है कभी कंठ की माला होकर उनके गले से लिपट जाना चाहता और कभी अंजन बनकर उनके नेत्रों में समा जाना चाहता है। यथा—

> हो-हो कहत पुकारि हौं, अहो *स्याम* सुनि लेउ।
> होरी संग न खेलि हौं तौ होरी है देउ ॥९७॥
> वा होरीके खेल को खेल कहूँ ह्वै जाउँ।
> *कै सीसों ह्वै पुहुन को अंग-अंग लपटाउँ* ॥९९॥
> कै गुलाल ह्वै के भाल में परौं लोचननि आय।
> कै पिचकारी प्रिया की छूवे कौन उपाय ॥१००॥
> कै केसर के रंग में कीजे आय प्रवेश।
> तब क्यों हू कछु पाइये वा सुख को लवलेश ॥१०१॥
> कै फुलवारी फूलिये तिन फूलन में जाय।
> जिन फूलन के भावते भूषन करें बनाय ॥१०२॥
> कै सोजें वा सेज पै सेज सोइ ह्वै जाउँ।
> कै क्यों हूँ ह्वै मधुकरी मुख सुगन्धि लपटाउँ ॥१०३॥

पिय प्यारी जहँ पग धरें होंहु तहाँ की धूरि ।
जो समझे नहिं प्राणपति, रहौं ठौर सब पूरि ॥१०४॥
कै उर में ह्वै माधुरी माल कंठ लपटाउँ ।
कै अंजन ह्वै दोउनि के नैनन माँझ समाऊँ ॥१०५॥

—माधुरी वाणी

किन्तु ये सब तो बड़े कठिन मनोरथ हैं, पूरे कैसे हुँयि ? इस संबंध में भक्त का विश्वास है, यदि दीन दुखी जानकर श्री लाड़िली जी कृपा कर दें तभी यह पूर्ण हो सकेगा । दूसरा कोई पूरा नहीं कर सकता । वे कृपा अवश्य करेंगी । यथा—

कठिन मनोरथ मन उठे को पूरनि कर आनि ।
कृपा करेंगी लाड़िली दीन दुखी मोहि जानि ॥१०७॥

—माधुरी वाणी

इतनी कृपा से भी भक्त का काम नहीं चलता ऐसा समझकर वह साधक श्रीराधिका जी से निरंतर नैनों में बस जाने की प्रार्थना करता है[1] क्योंकि वह जानता है कि जब तक नैन राधामय नहीं हुँयि तब तक रस धाम की रसमयी छवि देखने को न मिलेगी ।

इस प्रकार साधना की भूमि पर शनैः-शनैः बढ़ता हुआ भक्त निरंतर अपने प्यारे स्वामी तथा स्वामिनी का मधुर गुणगान करता रहता है । यथार्थ में यह गुणगान भी तो उसके वश का नहीं है । वह तो बहुत प्रयास करता है कि यह गोप्य रहस्य किसी पर प्रकट न हो किन्तु वह विवश है, उसकी रसना पर गोप्य रसिक रस के नायक का निवास जो हो गया है ! यहाँ भक्त की कविता का प्रत्येक अक्षर राधा-कृष्ण मय होकर उसके अन्तस्तल के भावों को प्रकट कर देता है । श्याम के रंग में पुष्पकोष रंग कर वह श्याममय हो गया है, हर समय उसे नवनिकुंज में विहार-संलग्न में दम्पति किशोर ही दिखाई देते हैं, वह आनंदविभोर हो जाता है, रस समाये नहीं समाता उसे वह सबको देना चाहता है उसका कथन है—

---

१ हौ निकुंज नागरि कुँवरि, अबनेही घनश्याम ।
नैनन में निज दिन रहौ, अहो नैन अभिराम ॥३७॥

—माधुरी वाणी, पृ० ४

चलो किन देखन कुंज कुटी ।
सुन्दर श्याम मदन मोहन जँह मनमथ फौज लुटी ।
नंदनन्दन वृषभानु नन्दिनी नेकु न चाह छुटी ।।
सुरति सेज पै सरति अंगना मुक्तामाल टुटी ।
उरज छबी कंचुकि चुरकुट भई कटितट ग्रंथि छुटी ।
चतुर सिरोमनि सूर नंदसुत लीनी अधर घुटी ।।३८।।

—वाणी श्रीसूरदास मदन मोहन जी[1]

भक्ति का यही सर्वश्रेष्ठ रूप है और यही सर्वश्रेष्ठ रस है किन्तु पात्र बन कर ही इसे साधक प्राप्त कर सकता है। किशोरी भावना की यहाँ उसी प्रकार आवश्यकता है, जैसे अन्य रसोपासक वैष्णव संप्रदायों में है। इस स्थिति में पहुँच जाने पर स्वप्नों का संसार भक्त को अपने सामने साकार होता दिखाई देता है। इसी सरस माधुरी को निरंतर देखकर साधना करने वाला रसानंद पाता है। प्रेम-माधुर्य से उसका मन रूप-माधुरी से उसके नेत्र और रति माधुर्य से उसका तन-मन आदि सब कुछ छके रहते हैं। ललितादिक सखियों की कृपा से इस संप्रदाय के साधक को यह अवसर प्राप्त हो जाता है। यथा—

प्रेम माधुरी मन छक्यो रूप माधुरी नैन,
नैन माधुरी मन छक्यो छके कहत मुख बैन ।।३०५।।
ललितादिक सब सहचरी, कीनो परम सहाय,
सरस माधुरी जुगल को निरखि सदा सुख पाय ।।३०२।।

—माधुरी वाणी, पृष्ठ ४९।

स्वामी हरिदास हरिदासी संप्रदाय के प्रवर्तक थे और निम्बार्क साधना-पद्धति के समर्थक थे। ये निम्बार्क परम्परा की छियसठवीं पीढ़ी के संत थे जिसका उल्लेख 'अष्टादश सिद्धान्त के पद' नामक ग्रंथ में किया गया है। इस संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि अनेक प्रकार की विषय रूपी तरंगों से युक्त विशाल भँवर रूप दुःख से व्याप्त तथा बुद्धि के विनाश रूपी विकाल से आच्छादित तृष्णा रूपी नदी से राधा-माधव की मधुर भक्ति ही पार लगाती है। इसलिये कोमल मन को निरंतर हंस बन कर कमल

---

१ श्री सूरदास मदन मोहन महाप्रभु चैतन्य के पार्षदप्रवर श्रीसनातन स्वामी के शिष्य थे।

दास की भाँति श्रीकृष्ण के चरण-कमल की सेवा करना चाहिये। इस स्वामी हरिदास का अपने प्रियतम के प्रति अनुराग वृक्ष स्वरूप है, प्रियतम की रहस्य-केलि उस वृक्ष के जड़, पत्र, फल तथा पुष्पादि हैं इस वृक्ष का सेवन एक निर्भीक सखी के रूप में इस संप्रदाय का साधक करता है। यहाँ की मान्यता है कि श्रीकृष्ण के मुख रूपी चंद्र का अमृतपान तभी हो सकेगा, जब उनके सौन्दर्य आदि गुणों के पान में मन तल्लीन हो जायेगा और श्रीराधा कुंजबिहारी के रहस्य क्रीड़ा में जो नित्य रस है, उसे किंचित मात्र भी प्राप्त कर पायेगा। वृन्दावन में परस्पर कंधे पर हाथ रख कर विहार करने वाले मंद मुस्कान से युक्त श्रीराधा कुंजबिहारी ही इस संप्रदाय के इष्टदेव हैं। इस संप्रदाय में भी श्रीराधा जी की ही सर्वप्रथम प्रधानता है। निकुंज बिहारी परम प्रियतम कृष्ण से आलिंगित, सुरत रस से सुशोभित कोटियों कामदेव को पराजित करने वाली, बायें कपोल पर वाम भुजा को रखने वाली तथा श्रीकृष्ण के नाभि-कमल में अपनी नाभि को मिलाने वाली छवि-पुंज श्रीराधा को यहाँ का साधक निरंतर अपने हृदय में धारण करता है।

जिन श्रीराधा कुंजबिहारी को इस संप्रदाय में उपास्य माना गया है वे नित्य आनंद की मूर्ति हैं तथा रसिकों के द्वारा आराधित हैं। राधा माधव युगल के मंत्र जाप से ही इष्टदेव का रूप प्रकट होता है। सखीभाव की इसमें प्रधानता है। बिना कृपा श्री ललिता जी के इस भाव को उपासक प्राप्त नहीं कर सकता—ऐसी धारणा इन भक्तों की है। अस्तु, मधुर उपासक निरंतर अनन्य प्रेम के द्वारा साधना के इस क्षेत्र में आगे बढ़ता रहता है। हरिदासी संप्रदाय के उपासक, स्वामी हरिदास जी को श्रीललिता सखी का अवतार मानते हैं। उनका विश्वास है कि श्रीललिता जी (हरिदास) ने जिस प्रकार की उपासना किशोर वयवाले राधा कृष्ण जी की है वह अत्यंत कठिन है तथा प्राप्त करने में सिंहनी के क्षीर के समान है। श्रीराधा की प्रियतम ललिता जी का अत्यंत विश्वास पात्र सखी समाज ही उपासना की इस भूमि पर पहुँच पाता है। भगवतरसिक का कथन है—

आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना युगल मंत्र को जाप।।
युगल मंत्र का जाप वेद रसिकन की बानी।
श्री वृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महारानी।।

प्रेम देवता मिले बिना सिधि होय न कारज ।
'भगवत' सब सुखदान प्रगट भये रसिकाचारज ।।

और भी—

संप्रदाय नवधा भगति, वेद सुरसरि नीर ।
ललिता सखी उपासना ज्यों सिंहिन की खीर ।।
ज्यों सिंहिन की खीर रहै कुन्दन के बासन ।
कै यच्चा के पेट और घट करे विनाशन ।।
भगवत नित्य विहार परै सब ही कै परदा ।
रहै निरंतर पास रसिकवर सखी संप्रदा ।।

इस संप्रदाय में मधुर उपासना के द्वारा निरंतर कुंजबिहारी की कुंज लीला के दर्शन से परमानंद प्राप्त करना ही सबसे बड़ा मोक्ष माना गया है। स्वामी हरिदास जी नियमित रूप से युगल मंत्र को जपते हुये कुंजबिहारी राधा माधव की नित्य केलि रस का आस्वाद करते थे तथा अपनी वाणी में उसे रूप प्रदान करते थे। प्रियतम कुंजबिहारी के क्षण भर ओट होने से वे तड़प उठते थे। व्यास जी ने इसीलिये कहा था—

'ऐसो रसिक भयो नहिं व्हैहै
भुव मण्डल आकाश ।।

सुरति केलि में तन्मय राधाकृष्ण की उपासना ही स्वामी जी की मधुर उपासना का सर्वोच्च रूप था। उन्हीं से वे प्रेम करते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में उस प्रेम के समक्ष कहे जाने वाले सारे प्रेम फीके पड़ जाते हैं, यह प्रेम मंजीठ के रंग के समान है, जो छूट नहीं सकता। रस रसिक होकर साधक इसी को अपनाता है और सारे संसार के बन्धन को त्याग देता है। यथा—

हित तो कीजै कमल नयन सों
जाहित में आगे और हित लागे फीको।
कै हित कीजे साधु संगति सों,
ज्यों कलमष जाय जी को।
हरि को हित ऐसो जैसो रंग मजीठ संसार हित,
रंग कसूम दिन दुती को।

कहि श्री हरिदास हित कीजे विहारी जू सों और
निवाहु जानि जी की ।।

—अष्टादश सिद्धान्त पद ७

जिस प्रकार कामी पुरुष को कामिनी लोभी पुरुष को द्रव्य प्रिय होता है उसी प्रकार इस संप्रदाय के उपासक को श्यामा श्याम प्यारे लगते हैं। ये श्यामा-श्याम मधुर भक्त की आँखों के काजल हैं, इसके सहारे वह उनकी केलि दर्शन करता है। भगवत रसिक ने कहा है—

कामी के प्रिय कामिनी लोभी के प्रिय दाम,
ऐसेहि भगवत रसिक के प्रिय श्री श्यामा-श्याम।
प्रिय श्री श्यामा-श्याम भये नैनन को कजरा
केलि विलोकत रहें और नहिं आवे नजरा ''''।।

इस प्रकार राधा-माधव की कुञ्ज-लीला के अनन्य उपासक इस संप्रदाय के रसिक भक्त हैं। वे नित्य प्रति क्षण क्षण में नवीनता को धारण करने वाली प्रिया-प्रियतम की केलि के दर्शन करते रहते हैं तथा उनके वस्त्र को देखकर पान बसन, सुगंधित द्रव्य एवं दर्पण आदि लेकर सेवा में तत्पर रहते हैं, साथ ही उनके प्रेम के प्रसाद को पाने की आकांक्षा भी करते हैं। यथा—

हैं हम रसिक अनन्य प्रिया पिय कुञ्जमहल के वासी,
नई नई केलि विलोकें छिन-छिन रति विपरीति उपासी।
बीरी वसन सुगन्ध आरसी लए से करत खवासी,
इन प्रसाद प्रेम से हँसि-हँसि कहि-कहि भगवत दासी।।

रसिक बिहारी की उपासना में तल्लीन साधक मन बुद्धि चित्त, तन, धन तथा यौवन का सब कुछ अपने इष्टदेव का समर्पित कर एकांत वास करता है। स्वामी जी भी एकांत वास करते थे, और उनके हृदय में निरंतर उनके इष्टदेव का निवास रहता था। उन्हीं की कृपा से वे सर्व रसों के सार स्वरूप मधुर रस की वर्षा में भीगते रहते थे। उनके इष्टदेव की कुञ्ज-केलि के समीप पक्षी भ्रमर तक तो पहुँच नहीं सकते थे, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है। इसी कुञ्ज के अन्तरंग में श्यामा-श्याम निरंतर विहार में रत रहते हुए, अपने रसिक भक्तों का हित करते रहते हैं। वे यहां राधा के साथ क्रीड़ा करते प्रेम रस में सराबोर हो जाते हैं। इस प्रकार प्रिया की आँखों के तारे बनकर वे निरंतर यहीं विराजमान रहते हैं। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को

अपनी ओर आकर्षित किये रहता है उसी प्रकार राधा कृष्ण को आकर्षित किये रहती हैं। वे प्रेम में मतवाले होकर राधा का शृंगार करते हैं, उनके बाल सँवारते हैं वेणी गुहते हैं और तब उसी रंग में रँग जाते हैं।[1] इसी नित्य केलि को स्वामी हरिदास जी ने रसिकों के हेतु अपने काव्य का विषय बनाया और इसी का प्रसार किया। एक ही कुंज में नित्य विहार का रस लेने वाले दोनों परस्पर प्रीत में सने हैं, इनके प्रेम की पीर का अनुभव दूसरा नहीं कर सकता। वे ही दोनों एक दूसरे की पीर का अनुभव करते हैं परस्पर मान छुड़ाते हैं तथा प्रार्थना करते हैं।[2] श्रीकृष्ण अपनी प्रिया को आनंदित करने के लिये नृत्य करते हैं, उनके नृत्य पर कोयल अलाप देती है, पपीहा स्वर देता है और मेघ मानो गर्जन कर मृदंग बजाता है। प्रिया तब प्रसन्न होती हैं और उन्हें अपने वक्षस्थल पर खींच लेती हैं।[3] इस प्रकार स्वामी हरिदास के शब्दों में राधा-माधव के नित्य विहार कुंज में होते रहते हैं। उनकी दृष्टि में राधे के मुख रूपी चन्द्रमा को देखकर ही कृष्ण के हृदयरूपी सरोवर में मनोरथ रूप

---

१ बैनी गूँथ कहा कोऊ जानें मेरी सी तेरी सौं।
बिच बिच फूल सेत पियराते मोर को करि सकेरी सौं।
बैठे रसिक सँवारन बारन कोमल कर ककही सौं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी र कायर नकही सौं।
—केलिमा० पद सं० ७०

२ प्यारी हम तुम दोऊ एक कुंज के सखा रहें क्यों बने।
यहाँ न कोऊ मेरो न तेरो हितु जो यह पीरजाने।
हौं तेरी बसीठ तु मेरो सो मेरे बोच और न सने
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी कहत प्रीति बने।
—केलिमा० पद ७९

३ नाचत मोरनि संग स्याम मुदित स्यामहिं रिझावत।
तैसी ये कोकिला अलापत पपीहा देति सुर,
तैसोई मेघ गरज मृदंग बजावत······ ······।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी रीझि राधे हँस
कंठ लगावत।
—केलिमा० ९९

कुमुदनी खिलती है। यहाँ संसार का सारा सौन्दर्य अपनी गति को भूल जाता है—वे प्रिया के पैर पकड़ते हैं, विनतें करते हैं और उन्हें मनाते हैं।[1] राधा का मान टूटता है शरीर से शरीर, मन से मन चित्त से चित्त मिलकर एकाकार हो जाते हैं, कुण्डल में उसकी बाली समा जाती है। किन्तु दूसरे ही क्षण एक दूसरे को न देखकर दोनों व्याकुल हो जाते हैं उन्हें अपनी संयोग स्थिति में रसमग्न होने के कारण विस्मरण हो जाता है राधा इस क्षणिक वियोग को नहीं सह पातीं और प्रियतम को पुकारने लगती हैं।[2] इसी प्रकार कृष्ण अपनी प्रिया की दृष्टि से छिपते ही व्याकुल हो जाते हैं। संयोग में विरह की यह भावना प्रेम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। एकाकार होने में चूंकि एक दूसरे को देख न पावैं—इसका अनुभव कर कृष्ण व्याकुल हैं।[3] प्रेम का यह रूप संसार में दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। हरिदास ने इसे अपनी आँखों से देखा और आत्म विभोर होकर गाया। अतः इस निकुंजविहार की झाँकी देखने के लिए तथा इष्टदेव राधा-माधव की उपासना के लिए उपासना करने वाले को इस संप्रदाय के अनुसार निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिये:—

---

१ प्यारी तेरो बदन चंद देखें मेरे दृगे सरोवर ते कमोदनी फूली।
मन के मनोरथ तरंग अपार, सौन्दर्यता तहाँ मति भूली।।
तेरे कोप ग्राह ग्रसे लिये जात, छुड़यो न छूटत रही बुद्धिबल गह भूली।।

श्री हरिदास के स्वामी स्यामा चरन बंसी
गहि काढ़ि रह लटपटाय गहि मुख भूली।।

—केलिमा० पद सं० २७

२ देह मिली अरु मन मिले मिले चित्त एक रूप।
कहो अंदेसो या मिलन को, प्रीतम कहाँ अनूप।।
या रस के मन मास पर्यो निमुख न लेत उसास।
निसि दिन पीवत माधुरी पीवत पियासत प्यास।।
—सिद्धान्तरत्नाकरान्तर्गत स्वामी रसिकदेव जी कृत रससार,
दो० सं० १९-२०

३ ऐसी बीच होत जो बीच हो तौ बीच मिलें,
तन सौं तन समाइ क्यों तौं देखौं कहा हो प्यारी——।।
—केलि मा० पद सं० १५

१—रसिकों का सत्संग करना।

२—नित्य निकुंजविहार का इष्ट रखना।

३—नित्य विहार का श्रवण।

४—गुरु चरणों में अनुराग।

५—निकुंज विहार का गान।

६—सखीभाव की भावना।

७—तन मन से राधा-माधव के सुख-हेतु प्रयत्न करना।

८—उनके विहार-सुख को देखकर आनन्दित होना।

९—प्रत्येक क्षण उनकी सेवा के लिये तत्पर रहना (स्नान करना वस्त्राभूषण पहिनाना पुष्पमाला धारण कराना भोजन, जलादि देना, बीरी देना, शय्या का निर्माण कराना, झूला झुलाना जल विहार कराना आदि। स्वामी हरिदास जी के इस सम्प्रदाय की उपासना प्रणाली के अनुकूल होकर सखी भाव से साधक विहार के मध्य भी युगल के श्रम को निवारण करने का अधिकारी होता है। स्वयं श्याम सुन्दर भी सौन्दर्य-माधुर्य की राशि स्वरूपा श्रीराधिका जी की सेवा की कभी-कभी सखी रूप से आकांक्षा करते हैं, श्री विहारिनदेव जी कहते हैं—

> मानन मन समभात है अपने तन सुख हेत।
> बिहारिन दास प्रसन्न ह्वै सेवत मोहिं समेत॥ १२०॥
> —रस साखी विहारिनदेव जी कृत

इस प्रकार सखीभाव के अवलम्ब से वे भी श्री प्रिया जी की सेवा में रहते हुये आनंदित होते हैं। विहार के मध्य में उपस्थित सखियाँ के नयनों के संकेत से सारा कार्य संपादित कर देती हैं और मधुर रस का आस्वाद करती हैं। इन सखियों के अतिरिक्त कोई भी वहाँ पहुँच नहीं सकता। इस रस के आस्वाद में रोम-रोम पुलकित हो जाता है नेत्रों से आनंदाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। जिस प्रकार जल के बिना जल के जीव आकुल हो जाते हैं, उसी प्रकार राधा माधव नित्य विहार के बिना व्याकुल हो जाते हैं और उसी प्रकार उपासना पद्धति को अपनाने वाला साधक भी बिना राधा-माधव की झाँकी के व्याकुल हो जाता है। अस्तु 'सब सारनि को सार सुनि सब तत्वन को तत्व' जानकर ही रसिकों ने उसे अपनाया है।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध से ब्रजभाषा में राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन सर्वप्रथम निम्बार्कसंप्रदायाचार्य श्रीभट्टदेव ने किया। इस परंपरा की चौदहवीं शती में हुये इन्हीं के शिष्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी ने इसे आगे बढ़ाया, फिर तो ब्रजभाषा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला में तन्मय होकर स्वयं नृत्य करने लगी और माधुर्य की समस्त कलाओं को उसने रूप प्रदान किया।

सांप्रदायिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि माधुर्योपासकों की एक बहुत बड़ी संख्या कृष्णभक्ति के वैष्णव संप्रदायों में है। यदि इस दृष्टि से यहाँ उनका विवेचन प्रस्तुत किया जाय, तो ऐसा अनुमान है कि प्रबंध का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अस्तु श्रीरामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन के अनुसार प्रमुख मधुर उपासक कवियों का वर्णन ही यहाँ श्रेयस्कर होगा।

आचार्य शुक्ल ने वि० सं० १३७५ से १७०० तक भक्तिकाल, सं० १७०० से १९०० तक रीतिकाल तथा सं० १९०० से लगभग २०१० तक आधुनिक काल माना है। उपर्युक्त समय में होने वाले जिन प्रमुख मधुररसोपासक कवियों का विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है, उनमें कुछ का ही उल्लेख शुक्ल जी ने अपने इतिहास में संक्षिप्त परिचय के साथ किया है।

भक्तिकाल में वि० सं० १६०० से १७०० तक होने वाले प्रमुख मधुर रसोपासक संत एवं भक्त-कवि—

क्र०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	सम्प्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१	श्री श्रीभट्टदेवाचार्य जी	१५२५ १५९०	निम्बार्क संप्रदाय	निम्बार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण भक्त हिन्दी कवि	डा० नारायणदत्त जी शर्मा	२२८	२०१५
२	श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी	१५२०-१५५५	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीयुगलशतक की भूमिका	श्रीव्रजवल्लभशरण जी वेदान्ताचार्य	११	२००९
३	श्रीकुम्भनदास जी	१५२५ १६४०	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९१	२००९
४	श्रीसूरदास जी	१५३५ १६४	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९१	२००९
५	श्रीस्वामी हरिदास जी	१५३७ १६३२	निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत हरिदासी संप्रदाय के प्रवर्तक	निजमत सिद्धांत "मध्यखंड"	महन्त श्रीकिशोर दास जी	५४	१९७१
६	श्रीविठलविपुल देव जी	१५३२ १६३२	हरिदासी संप्रदाय	निजमतसिद्धांत "मध्यखंड"	महन्त श्रीकिशोर दास जी	५	१९७१
७	श्री परशुराम देवाचार्य जी	१५५०-१६६९	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीयुगलशतक की भूमिका	श्रीव्रजवल्लभशरण जी वेदान्ताचार्य	११	२००९

८	श्रीपरमानन्द दास जी	१५५०-१६४१	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९९	२००९
९	श्रीमाधवदास जी	१५५० १६००	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मितल	११९	२०१९
१०	श्रीकृष्णदास जी (अधिकारी)	१५५३-१६३६	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९९	२००५
११	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी	१५५९ १६०९	राधा वल्लभ संप्रदाय के आदि प्रवर्तक	राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	९६	२०१४
१२	श्रीरामराय जी गोस्वामी	१५६०-	माध्व गौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१८५	२०१९
१३	श्रीभक्तिमती मीराबाई	१५६० १६०७	स्वतंत्र संप्रदाय	भक्तमालांक 'वृन्दावन'	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	१०१	२०१७
१४	श्रीबिहारिनदेव जी	१५६१ १६५९	हरिदासी संप्रदाय	निजमत सिद्धांत 'अवसान खंड'	महन्त श्रीकिशोर दास जी	१०१	१९७२
१५	श्रीगोविन्द स्वामी	१५६२ १६४२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९६	२००६
१६	श्रीहरिराम जी व्यास	१५६७-१६५५	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	भक्तकवि व्यासजी	श्रीवासुदेव गोस्वामी	४०	२००९
१७	श्रीनन्ददास जी	१५७०-१६४०	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९९	२००९
१८	श्रीध्यानगोपाल जी	१५७२	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१११	२०१९

क्र०सं०	नाम	समय (वि० सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१९	श्रीछीतस्वामी	१५७१-१६४२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	११	२००६
२०	श्रीचतुर्भुजदास जी	१५७५ १६४२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	९९	२००६
२१	श्रीसेवक जी (श्रीदामोदरदास जी)	१५७७-१६१०	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	३४९	२०१४
२२	श्रीगदाधर भट्ट जी	१५८० १६१०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१५७	२०१९
२३	श्रीनरोत्तमदास जी	१५८ १६६८	माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	५५	२०१९
२४	श्रीरूपरसिकदेवजी	१५८७-	निम्बार्क संप्रदाय	बृहदुत्सवमणिमाल की भूमिका	श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	८	२०१८
२५	श्रीसूरदास मदनमोहन जी	१५९० १६२०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१५०	२०१९
२६	श्रीरसखान जी	१५९० १६७५	वल्लभ संप्रदाय	श्रीकन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	श्रीभवानीशंकर जी याज्ञिक	११५	२०१०
२७	श्रीनागरीदास जी	१६०० १६७०	हरिदासी संप्रदाय	निजमत् सिद्धान्त 'मध्यमान खंड'[1]	महन्त श्रीकिशोर दास जी	९४	१९७२

२८	श्रीसरसदेव जी	१६११ १६८१	हरिदासी संप्रदाय	निम्बमत सिद्धान्त 'ब्रजधाम खंड'	महन्त श्रीकिशोर दास जी	१०५	१९७२
२९	श्रीनेहीनागरी दास जी	१६२० १६६०	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरणजी	४२९	२०१४
३०	श्रीध्रुवदास जी	१६३०-१७००	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	४२७	२०१४
३१	श्रीनरहरिदेव जी	१६४० १७४१	हरिदासी संप्रदाय	निम्बमत सिद्धान्त 'ब्रजधाम खंड'	महन्त श्रीकिशोर दास जी	१२०	१९७२
३२	श्रीगोस्वामी हरिराम जी	१६४७-१७७२	वल्लभ संप्रदाय	अष्टछाप-परिचय	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	७९	२००९
३३	श्रीकल्याण पुजारी	१६६० १७००	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिता चरण गोस्वामी	४७३	२०१४
३४	श्रीमाधुरी जी	१६७५ १७१०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्री प्रभुदयाल जी मीतल	१९७	२०११
३५	श्रीचतुर्भुजदास जी	१६८८ १६९०	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	४१०	२०१४
३६	श्रीरसिकदेव जी	१६९२ १७५८	हरिदासी संप्रदाय	निम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरणजी	३११	१९९७

रीतिकाल में वि० सं० १७०० से १९०० तक होने वाले प्रमुख मधुर रसोपासक संत एवं भक्त कवि—

क्रम सं०	नाम	समय (वि०सं०)	सम्प्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१	श्रीचन्द्रसखी जी	१७०० १७६०	राधावल्लभ संप्रदाय	चन्द्रसखी की जीवनी और पदावली	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	४७	२०१४
२	श्रीरूपसखी जी	१७२५	हरिदासी संप्रदाय	श्रीरूपसखीजी की वाणी	श्रीरूपसखी जी	हस्तलिखित	
३	श्रीमन्मथरसिक जी	१७२५	माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२२१	२०१९
४	श्रीललितकिशोरी देव जी	१७३३ १८२३	हरिदासी संप्रदाय	अष्टाचार्यों रस सूचना (श्रीभगवत रसिक की वाणी के अन्तर्गत)	श्रीसहचरिशरण देव जी	११६	१९७१
५	श्रीपीताम्बरदेव जी	१७३५	हरिदासी संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	२९७	१९९०
६	श्रीहितरूपलाल जी	१७३८ १८०१	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	४८४	२०१४
७	श्रीवृन्दावनचन्द्र जी	१७४०-१८१०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२६९	२०१९

८	श्रीप्रियादास जी	१७४० १८००	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२४३	२०१९
९	श्रीरसिकदास जी	१७४३ १७८३	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	५००	२०१४
१०	श्रीघनानन्द जी	१७४६-१७९६	निम्बार्क संप्रदाय	ब्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगी हरि	१७३	२०११
११	श्रीवृन्दावन देवाचार्य	१७५४ १७९७	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीवृन्दावनांक 'जू ग्रन्थ'	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	४९१	२०१४
१२	श्रीअनन्य अली जी	१७५५ १७९०	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	४९१	२०१४
१३	श्रीनागरीदास जी (कृष्णगढ़ नरेश)	१७५६ १८२२	निम्बार्क संप्रदाय	भक्त-परिचय (गीताप्रेस)	सं० श्रीहनुमान प्रसाद पोद्दार	५७८	२००८
१४	श्रीमनोहर दास जी	१७५७-	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२३५	२०१९
१५	श्रीवंशी अली जी	१७६४ १८२२	विष्णु स्वामी संप्रदाय	विष्णु स्वामी जी और उनका संप्रदाय	श्रीगोविन्ददास जी 'विनीत'	४४६	२०१८
१६	श्रीचाचाहित वृन्दावनदास जी	१७६५ १८४४	राधावल्लभ संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल	१२७	२०१४
१७	वृन्दावनदास जी	१७७५ १८४०	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२५०	२०१९

रीतिकाल में वि० सं० १७०० से १९०० तक होने वाले प्रमुख मधुर रसोपासक सत एव भक्त कवि—

क०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	सम्प्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१	श्रीचन्द्रसखी जी	१७०० १७९०	राधावल्लभ संप्रदाय	चन्द्रसखी की जीवनी और पदावली	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	४७	२०१४
२	श्रीरूपसखी जी	१७२५	हरिदासी संप्रदाय	श्रीरूपसखीजी की वाणी	श्रीरूपसखी जी		हस्तलिखित
३	श्रीवल्लभरसिक जी	१७२५	माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२२१	२०१९
४	श्रीललितकिशोरी देव जी	१७३३ १८२३	हरिदासी संप्रदाय	अष्टाचार्यों रसज सूचना (श्रीभगवत रसिक की वाणी के अन्तर्गत)	श्रीसहचरिशरण देव जी	१३६	१९७१
५	श्रीपीताम्बरदेव जी	१७३५	हरिदासी संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	२९७	१९९७
६	श्रीहितरूपलाल जी	१७३८ १८०१	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	४८४	२०१४
७	श्रीवृन्दावनचन्द्र जी	१७४० १८१०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२८९	२०१९

८	श्रीप्रियादास जी	१७४० १८००	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२४३	२०१२
९	श्रीरसिकदास जी	१७४१ १७५१	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	५००	२०१४
१०	श्रीघनानन्द जी	१७४६-१७९६	निम्बार्क संप्रदाय	ब्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगी हरि	१७३	२०१३
११	श्रीवृन्दावन देवाचार्य	१७५४ १७९७	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीवृन्दावनांक '[illegible]'	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	४९१	२०१४
१२	श्रीअनन्य अली जी	१७६६-१७९०	राधावल्लभ संप्रदाय	राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	५९१	२०१४
१३	श्रीनागरीदास जी (कृष्णगढ़ नरेश)	१७५६ १८२२	निम्बार्क संप्रदाय	भक्त-चरितांक (गीताप्रेस)	सं० श्रीहनुमान प्रसाद पोद्दार	५७८	२००८
१४	श्रीमनोहर दास जी	१७५७-	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२३५	२०१९
१५	श्रीवंशी अली जी	१७६४ १८२२	विष्णु स्वामी संप्रदाय	विष्णु स्वामी और उनका संप्रदाय	श्रीगोविन्ददास जी 'वैष्णव'	४७१	२०१८
१६	श्रीचाचाहित वृन्दावनदास जी	१७६५ १८४४	राधावल्लभ संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्री राम चन्द्र शुक्ल	३२७	२०१४
१७	वृन्दावनदास जी	१७७५ १८५०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२८०	२०१९

क्र०सं०	नाम	समय(वि०सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१८	श्रीललितमोहनी देव जी	१७८०–१८५८	हरिदासी संप्रदाय	अष्टाचार्योंसम सूचना (श्रीभगवत रसिक की वाणी के अन्तर्गत)	श्रीसहचरिशरण देव जी	१११	१९७१
१९	श्रीरामहरि जी	१७९० १८४०	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२८९	२०१९
२०	श्रीमहन्त किशोर दास जी	१७९१	हरिदासी संप्रदाय	'श्रीवृन्दावनांक' वृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२८९	२०११
२१	श्रीभगवतरसिक देवजी	१७९५ १८५०	हरिदासी संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल	१२९	२०१४
२२	श्रीगोविन्ददेव जी	१८००–१८१४	निम्बार्क संप्रदाय	'श्रीवृन्दावनांक' वृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२९४	२०११
२३	श्रीगोविन्दशरण देव जी	१८१४ १८४१	निम्बार्क संप्रदाय	'श्रीवृन्दावनांक' वृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२२४	२०११
२४	श्रीव्रजनिधि (सवाई) श्रीप्रतापसिंह जी	१८२१ १८६०	स्वतंत्र संप्रदाय	व्रजनिधि ग्रंथावली	सं० श्रीहरि नारायण जी	४०	१९९०
२५	श्रीसहचरिशरण देव जी	१८३०–१८९४	हरिदासी संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क संप्रदाय	श्रीबिहारी शरण जी	४११	१९९७
२६	श्रीहठीजी	१८३७	राधावल्लभ संप्रदाय	व्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगी हरि	२११	२०११

२७	श्रीसर्वेश्वरशरण देवाचार्य	१८४१ १८७०	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीवृन्दावनांक" वृन्दावन	सं० श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	२२४	२०११
२८	श्रीललितकिशोरीदासजी	१८४२	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	५२१	२०१४
२९	श्रीरसिकगोविन्द जी	१८५० १८९०	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारी शरण जी	४८७	१९९७
३०	श्रीकृष्णदास जी	१८५१	निम्बार्क संप्रदाय	माधुर्य लहरी	सं० श्रीकेशवदेवजी	६	२००६
३१	श्रीव्रजजीवन दास जी	१८६१	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	५२२	२०१४
३२	श्रीहरिदेव जी	१८६२ १९१९	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३१५	२०१९
३३	श्रीनन्दकिशोर जी	१८७० १९१२	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३१९	२०१९
३४	श्रीललितकिशोरी	१८८२ १९३०	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	अभिलाष-माधुरी	श्रीललितकिशोरी	२	१९८८
३५	श्रीपरसू जी	१८८४ १९४०	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और व्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	३२८	२०१९
३६	श्रीललित माधुरी जी	१८८५ १९४२	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	अभिलाष-माधुरी	श्रीललितकिशोरी	११	१९८८
३७	श्रीनारायण स्वामी	१८८५ १९९७	स्वतंत्र संप्रदाय	व्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगी हरि	२५९	२०१४

क्र०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	संप्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
३८	श्रीसहचरिसुख जी (सुख सखी)	सत्रहवीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण	४१७	२०१४
३९	श्रीरसिकमोहन दास	सत्रहवीं शती	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१८८	२०११
४०	श्रीकिशोरीदासजी	अठारहवीं शती	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	२१४	२०११
४१	श्रीव्रजगोपाल जी (प्रियासखी)	अठारहवीं शती	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१०४	२०११
४२	श्रीअलबेलीअलि जी	अठारवीं शती	विष्णु स्वामी संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्रीराम चन्द्र शुक्ल	१२०	२०१४

... से २०२० तक होने वाले प्रमुख मधुर रसोपासक सत एवं भक्त कवि —

क०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	सम्प्रदाय	आधारित प्रमाण	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
१	श्रीसुदर्शनदास जी	१९०१ १९७९	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	६९०	१९९७
२	श्रीभारतेन्दुहरिश्चंद्र	१९०७-१९४१	वल्लभ संप्रदाय	ब्रजमाधुरी सार	श्रीवियोगीहरि	११५	२०११
३	श्रीयुगलित जी	१९११ १९७५	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क संप्रदाय	श्रीबिहारीशरण जी	६५४	१९९७
४	श्रीराधाचरण गोस्वामी	१९१५ १९८२	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१४१	२०११
५	श्रीनवनीत चतुर्वेदी	१९१५ १९८९	वल्लभ संप्रदाय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य श्रीराम चंद्र शुक्ल	५१४	२०१४
६	श्रीपरमहंसदास जी	१९१९-१९९४	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७१२	१९९७
७	श्रीमाधवदास जी	१९१९ २००१	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीसर्वेश्वर वर्ष ८ अंक १०	श्रीजयरामदेव जी	११	२०१७
८	श्रीराजगोवर्धन दास जी	१९२०-१९९१	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७११	१९९७

क्र०सं०	नाम	समय (वि०सं०)	संप्रदाय	आधारित ग्रन्थ	रचयिता	पृ०सं०	संस्करण (वि०सं०)
९	श्रीगोवर्धनेश भट्टाचार्य	१९२१	वल्लभ संप्रदाय	ध्यानमंजूषा	प्रका०—विद्या विभाग कांकरोली		१९९९
१०	श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर	१९२३-१९८९	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१२०	२०१९
११	श्रीबांकेप्रिया	१९३२-१९९९	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१२७	२०१९
१२	श्रीराधिकादास जी	१९३३-१९८९	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७२६	१९९७
१३	श्रीकृष्णानन्ददास जी	१९४०-१९९८	माध्वगौडेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१३१	२०१९
१४	श्रीमुरलीधर जी गोस्वामी	१९४७-१९८९	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७०६	१९९७
१५	श्रीभोलानाथ जी (श्रीहितभोरी सखी)	१९४७-१९८९	राधावल्लभ संप्रदाय	श्रीहितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिताचरण जी	५२६	२०१४
१६	श्रीकुंजबिहारीदास जी	१९५६	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७७३	१९९७
१७	श्रीशीतलदास जी	१९वीं शती	हरिदासी संप्रदाय	श्रीस्वामी हरिदास	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	१४१	२०१७

१८	श्रीकिशोरीलाल जी गोस्वामी	१९वीं शती	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क-माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	१९८	१९९७
१९	श्रीप्रीतमदास जी	२०वीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	साहित्य रत्नावली	श्रीकिशोरीशरण जी अलि	७६	२००७
२०	श्रीमनोहरलाल जी गोस्वामी	२ वीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	साहित्य रत्नावली	श्रीकिशोरीशरण जी अलि	७८	२००७
२१	श्रीहरिदासजी	२०वीं शती	राधावल्लभ संप्रदाय	साहित्य रत्नावली	श्रीकिशोरीशरण जी अलि	८१	२००७
२२	श्रीकिशोरीदास जी	२०वीं शती	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	१६४	१९९७
२३	श्रीव्रजवल्लभ शरण जी	वर्तमान	निम्बार्क संप्रदाय	श्रीनिम्बार्क माधुरी	श्रीबिहारीशरण जी	७४८	१९९७
७४	श्रीयमुना वल्लभ जी	वर्तमान	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	११४	२०१९
२५	श्रीरामदास जी शास्त्री	वर्तमान	माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय	चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्रीप्रभुदयाल जी मीतल	११७	२०१९

अष्टछाप के भक्त तथा अन्य भक्तों में माधुर्य (१६०० १७०० वि० तक) –

परम रम्य वृन्दावन के निकुंज में वृषभानुनंदिनी के साथ विहार करने वाले नंदनंदन इन रसिक भक्तों के प्राण हैं। इनके प्रेम के प्रवाह में बहते हुए वे एक क्षण भी उन्हें विस्मृत नहीं करते।[1] इसका एकमात्र कारण है— प्रिया-प्रियतम के परम मधुर रस का आस्वाद निरंतर करना। वे भक्त यह कामना करते हैं कि यह आनंद तथा उनके कृत्यों को आह्लादित करता रहे और वे प्रत्येक क्षण युगलकिशोर का विलास तथा हुलास देखते रहें।[2] इन रसिकों का यह विश्वास है कि राधा-कृष्ण का यह नित्य विलास ही समस्त पापों को क्षार कर भवसागर से पार उतार देगा। रसिकों की उपासना का सर्वस्व ही माधुर्य है। इस माधुर्य का अवलम्ब रखने वाला ही निरंतर राधा-कृष्ण का सामीप्य प्राप्त कर उनकी कुंज-लीला का दर्शन करता है। अत्यंत सौभाग्यशाली साधक श्रीराधा की कृपा प्राप्त करने के उपरांत सखी स्वरूप से इस विहार का माधुर्यपान करता है। अपनी लीलाविंशति के सिद्धान्त माधुरी नाम के प्रकरण में यों कर रसिक देवाचार्य ने कहा भी है— धन्य भाग हैं उनकी। रसिक रसीले जू की रहसि निहारें दिन रजनी, तातें यह सुख जु है सु इनिके आश्रय बिना अति दुर्लभ है। दुर्लभ याही को है कि या पर श्री नित्यदासी जू नित करि कृपा करें। तातें प्रथम इनिकी आश्रय

---

१ देखें श्री वृन्दावनविपिन विलास।

कहीं युगल निधि नवल मूरति करत निरंतर वास।
प्रेम प्रवाह रसिक जन ध्यावें कबहुँ न छाँड़त पास।
कहा कहौं भाग की श्रीभट राधाकृष्ण रस वास।

—श्रीभट्ट देवाचार्य कृत युगल शतक पृष्ठ ५४

२ यह सुख रहौ सदा उर मेरे।

श्यामा स्याम सहज रँग भीने की सखी। साँझ सबेरे।
बिलसनि हुलसनि हिय के हित की निरखत रहुँ नित नेरे।
श्रीहरिप्रिया और अभिलाष न लालन कहुँ बहुतेरे।

—श्रीहरिव्यासदेवाचार्य कृत महावाणी ब० १७०

सेइ जब इनकी कृपा होइ तब सखी स्वरूप की प्राप्ति हो और श्रीमधिम वृन्दावन में नित्य विहार की सेवन करें अरु निरंतर रूप माधुरी को पान करें। इस प्रकार इस मधुर प्रणाली से भक्त जब अपने भगवान को प्यार करने लगता है, तो समस्त सुखों के एकमात्र कारण उसके प्रियतम कुंज बिहारी भी उसे प्यार करने लगते हैं। वृन्दावन के मनोहर कुंज में भामिनी राधा के वश में हुए श्याम सुन्दर निरंतर भक्तों के हेतु रस-सरिता की धारा बहाते रहते हैं और भक्त भी निरंतर उस रस की मधुरिमा का अनुभव करते हुये कभी तृप्त नहीं होते।[1] राधा वही करती है जो प्रियतम कृष्ण चाहते हैं और प्रियतम कृष्ण वही करते हैं जिसे राधा चाहती है। दोनों एक दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकते, क्योंकि दोनों एक दूसरे के प्राणस्वरूप हैं।[2] इस झाँकी का दर्शन रसिक संप्रदाय के सान्निध्य से मधुर रसोपासक पाता है तथा यह कामना करता है कि जो जो लीला उसके युगलकिशोर करेंगे, उन्हें वह जीते-मरते किसी प्रकार भी सखियों के साथ अवश्य देखेगा और सेवा का अधिकार पायेगा।[3] जब तक भक्त को अपने भगवान

१—सुनहु रसिक श्री वृन्दावन को जस।
कुंज केलि भामिनी मनोहर परबस भये जाहिं अपने बस।
यह बन नित्य नवीन कुसुमवर द्रुम रस दिव्य सजत सलितायस।
श्रीबीठलविपुल विनोद बिहारी को नाम लियो चाहत रसना रस।
—वाणी बीठलविपुल देव पद सं० ११

२—प्यारी जू प्यारे को भावे जो चहत करें,
करें सोई प्यारे जो भावे प्यारी को सदा।
तन सों तन मन सों मन प्राण-प्राण मिले लियो,
जीवित न बिना देखें कोऊ कबहुँ एकदा।
प्यारी को नाव कें प्यारो भयो महापनी,
प्यारी हू प्यारे को भावे नित सम्पदा।
जय जय श्री रामराय श्री मर्मज मंजरी के साथ,
धरि धरि पाइ कुसल रसिक प्रभ सम्प्रदा।।
—आदिवाणी पद-१ (गो० रामराय कृत)

३—जीवत मरत मैं सेऊँगो राधावल्लभ।
लागु लीला स्याम देहुँ होय के अनुरूप।।

के चरण युगल प्राप्त नहीं होते उसका हृदय विरह की अग्नि से दग्ध होता रहता है। उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता कभी वह जल में डूबने की बात सोचता है, तो कभी अग्नि की प्रज्वलित लपटों में अपने उस शरीर को भस्म करने की बात सोचता है, जिसे प्रियतम का सान्निध्य नहीं मिला। और जब कभी उसे अपने प्यारे के दर्शन हो जाते हैं, फिर तो वह और भी विकल हो जाता है उसे कोई दिशा ऐसी नहीं दिखाई देती जहां उसके प्यारे श्यामसुन्दर की झांकी न मिले। वह कहता है कि बिना प्रभु के देखे भी चैन नहीं पड़ता और जब दिखाई देते हैं तो आस-पास, इधर उधर, चारों तरफ। इस स्थिति में उसका अपने भगवान के साथ निरंतर रहने का दृढ़ निश्चय हो जाता है।[1] कितनी कठिन साधना है बिलकुल ठीक तलवार की धार की तरह तीखी, जब जरा सी चूक हुई और सब कुछ बेकार हो गया। इसलिए मदन मोहन का यह पथविलास रसिक भक्तों के लिए ही सार स्वरूप है, अन्य जन इसे देखकर केवल मात्र आश्चर्य कर सकते हैं और रसिक जन तो प्रतिक्षण आनंद के साथ इस रस-माधुर्य का पान ही करते हैं।[2]

राधा-कृष्ण का प्रेम-तत्त्व अत्यंत रहस्यमय, दुर्लभ, दुर्घट तथा दुर्गम है उसका आदि मध्य और अंत कल्पना के परे है। रसिक उसे प्रत्यक्ष करते

जहाँ जो जो लीला करें युगल किशोर,
सखिन के संग सदा होऊँ मैं विभोर..... ॥

—नरोत्तम दास कृत प्रार्थना २७

१ हौं कहा करौंरी कितहि जाउं।
जित देखौं तित ही देखौ मैरी नंदनन्दन बिन कतहू ठाउँ।
बिन देखेहू न रहू भी परै तबोरी कहि कैसे रास को जाउ।
सूरदास मदनमोहन मेरे मन यहै भावति हौंगे इनिही सों हिल-
मिलि रहाऊँ॥

—वाणी सूरदास मदनमोहन, २१

२ श्री वृन्दाविपिन विलास सार है।
धीर गंभीर धीर कोलाहल बानी गुन वादो विचार है।
रसिकन कौं रसखान दान सुख औरनि कों अद्भुत अपार है।
श्री ब्यास सुवन पथ बस नागरीदास ताही सों वानी हिय हार है॥

—नागरी दास जी की वाणी पद सं० १०

है। जिस प्रकार गजराज समुद्र को झकझोर कर अपनी तृषा को शांत करता है उसी प्रकार के भक्त रस-समुद्र से अपनी रसोपासना की लालसा-प्यास को शांत करते हैं। उस रस का एक बार आस्वाद हो जाने पर संसार के सभी रस बेकार हो जाते हैं। और तब भक्त हर समय रसमत्त रह कर अपने प्रभु को सर्वस्व अर्पण कर देता है। उसके लिए वही घड़ी, वही पल, वही क्षण सौभाग्यशाली होता है, जब उसे उसके प्यारे मिल जाते हैं, इतना ही नहीं उसे वे भी प्यारे जान पड़ते हैं, जिन्होंने उसे यहाँ तक पहुँचाने में अपना योगदान दिया है। राधा-माधव के इस मधुर रस के पीने वाले का जीवन ही तो जीवन है। जिसने इसे पी लिया वह प्रफुल्लित हो जाता है, उसे शरीर की सुधि भूल जाती है और वह नाचने लगता है। इस रस का पान करने वाला ही वास्तविक रसिकों का प्यारा है और मदनमोहन उसी को अपनी कुंज सेवा का अधिकार भी दे देते हैं। भक्त कवि व्यास जी का कथन है—

कोई रसिक स्याम रस पीवैगी,
पीवैगी सोई जीवैगी।
पीवैगी सोई फूलैगी,
तन-मन देख न भूलैगी।
पीवैगी सोई नाचैगी
साधु-संग मिलि राचैगी।
पाचैगी सो जानैगी,
कहनै कौन पत्यानैगी।
व्यासदास जिय भावैगी,
तब अग अवनासी पावगी ॥२२३॥

—भक्त कवि व्यास, पृष्ठ २१२

विश्वास कोई नहीं करेगा। करेगा भी कैसे! विश्वास करने योग्य कोई पात्र हो तो विश्वास किया जाए। यह तो अनुभव की वस्तु है, जिसने अनुभव किया उसी ने जाना है। संसार से वैराग्य और रसिकों का संपर्क दोनों ही बातें अत्यंत कठिन हैं और फिर उससे भी कठिन है—वृन्दावन-वास। जिसने ब्रज को पवित्र करने वाली कालिन्दी के मनोहर कूल पर अपना निवास बनाया हो और प्रेम या मधुर उपासना के द्वारा कुंज-केलि के मधुर रस का आस्वादन निश्चय किया हो वही इस रस को जान सकेगा। इसी की

प्रशंसा निरंतर रसिक जन करते हैं। इस रस का पान करने वाला निश्चय ही उस हंस के समान है, जो मानसरोवर में मुक्ताओं को चुगता है। श्री राधिका जी की परम प्रिय सखी ललिता आदि इस सर्वोपरि रस का निरंतर पान कुंज के मध्य में करती हैं।[1] रसिकजन निम्नलिखित प्रणाली से इसे प्राप्त कर राधा-माधव का सामीप्य प्राप्त करते हैं —

> प्रथमहिं मंजन कीजिए, सौरभ अंग लगाइ।
> ता पीछे रचि-पचि करे सुन्दर तिलक बनाइ।
> तिय के तन को भाव धरि सेवाहित शृंगार।
> युगल महल की टहल को तब पावे अधिकार।
>
> —ध्रुवदास कृत भजन सतलीला (बयालीस लीला) पृ० १८

अष्टछाप के कवियों की दृष्टि में, यह वृन्दावन, उसमें निरंतर विद्यमान रहने वाले श्री राधिका-कृष्ण उनका रास एवं कुंजविहार आदि सब कुछ नित्य है। समस्त संसार को इस रस का आस्वाद कराने के हेतु ही साक्षात् ब्रह्म ने मदन मोहन का रूप अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा के साथ धारण किया है और शीतल मंद सुगन्ध नित्य वायु से परिपूरित नित्य निकुंज में अपने उस नित्य विहार का दर्शन एवं रस का प्रसारण किया है[2] जिसे गोपीभाव से युक्त होकर ही साधक प्राप्त कर पाता है[3] इस भाव को प्राप्त

---

१ सर्वोपरि है मधुर रस युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवति तिनहिं मिटत न कबहु हुलास॥
—बयालीस लीला पृष्ठ ६१

२ नित्यधाम वृन्दावन स्याम, नित्य रूप राधा व्रजधाम।
नित्य रास जल नित्य विहार नित्य मान खण्डिताभिसार॥
ब्रह्मरूप येई करतार करन हरन त्रिभुवन येई सार।
नित्य कुंज-सुख नित्य हिंडोर नित्यहिं त्रिविध-समीर झकोर॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) १७९१

३ जो कोई भरता भाव हृदय धरि ध्यावै,
नारि पुरुष कोउ होइ श्रुति ऋचा गति सो पावै।
तिनके पद रज जो कोई वृन्दावन भू माहिं
परसै सोऊ गोपिका गति पावै संशय नाहिं॥
सूर सागर (वें० प्रे०) १६४

करने के उपरांत ही सुन्दर श्याम कमल दल लोचन अपनी प्यारी 'वृषभानु किशोरी' के साथ उस साधक के हृदय में निवास करने लगते हैं, जो एक दीर्घ काल से इसकी कामना में रत था। इनके दर्शन प्राप्त होने पर साधक उस सौन्दर्य-माधुर्य को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है।[1] अष्टछाप के कवियों ने भी श्याम सुन्दर की उपासना को रसमय करने की दृष्टि से ही अपनी प्रणाली में राधिका जी की उपासना को प्राथमिकता दी है। वे जानते हैं कि श्रीकृष्ण का प्रेम राधा जी की कृपा से ही प्राप्त होता है—

रूप रासि सुख रासि राधिका सील महागुण रासी।
कृष्ण चरण ते पावहिं स्यामा जे तुव चरण उपासी॥
—सूर सागर (ना० प्र० स०) ११७१

भक्तों के लिये श्यामा के चरण मधुर रस के स्रोत हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण का रूप मकरंद है, उसी प्रकार परम उज्ज्वल रस का यह स्रोत मकरंद है।[2] इस उज्ज्वल रस के स्वभाव तथा शोभा में एक विचित्र बाँकापन है। इसके प्रभाव से पत्थर पानी और पानी पत्थर हो जाता है।[3] भक्तों का तो यहाँ तक कथन है कि इस रस को साक्षात् कमला ने निरंतर अपने प्रियतम की सेवा करने पर भी नहीं प्राप्त कर पाया था। यथार्थ में इसका स्पर्श तथा अनुभव करने वाला रसिक ही इसके तत्व को समझ पाता है। जिस प्रकार भ्रमर की अपेक्षा कमल को कोई पहचान नहीं सकता, उसी

---

१ बसो मेरे नैननि में यह जोरी।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन, संग वृषभानु किशोरी॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल पीताम्बर झकझोरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कों का बरनौं मति थोरी॥
—सूर सागर, (ना० प्र० स०) १२०७।१८२१

२ जसोई कृष्ण मकरंद रूप बिरूप उदारा।
तैसोई उज्जल रस मकरंद तिन कर परिवारा॥११॥
—सिद्धांत पंचाध्यायी (नंद ग्रं०) पृ० ४२

३ उज्जल रस को यह सुभाव बाँकी छवि पावै।
बंक बहनि पुनि कहनि बंक अति रसहि बढ़ावै॥७१॥
—नंद ग्रं० रासपंचाध्यायी पृष्ठ १०

प्रकार रसिक के बिना रस तत्त्व को कौन जान सकता है ?[1] रस में सराबोर भक्त के हृदय में भगवान श्रीकृष्ण की वह त्रिभंगी मुद्रा जम कर इस प्रकार से बैठ जाती है कि फिर प्रयत्न करने पर भी उसे हटाया नहीं जा सकता। यह प्रभाव रँगीले प्रेम का ही है कि तमाम सुन्दर निकाले से नहीं निकलते। हरि के भक्तों का सत्संग और उनकी रसमयी लीला का गान करने वाला रसिक ही इस एकांत मधुर भक्ति को प्राप्त करता है। यथा—

हरि दासन को संग करे हरि लीला गावे।
परमकांत एकांत भगति रस तो भल पावे ॥११८॥

—न प्र राम पंचाध्यायी पृष्ठ १७

वृन्दावन के इस मधुर रस का रंग चढ़ते ही साधना करने वाले का सारा अभिमान दूर हो जाता है समस्त सांसारिक विषय पीछे छूट जाते हैं और सखी भाव उत्पन्न हो जाता है। उसके हृदय में रस की तरंगें उठने लगती हैं मन का कलुष दूर चला जाता है और साधक के लौकिक काम का नाश होकर मधुर प्रेम का प्राबल्य होता है।

लगौ जो श्री वृन्दावन रँग।
देह अभिमान सबै मिटि जैहै अरु विषयन कौ संग।
सखीभाव सहज होय सजनी पुरुष भाव होय भंग।
श्री राधावर सेवत सुमिरत उपजत लहर तरंग।
मन को मैल सबै छुटि जैहे मनसा होय अपंग।
परमानन्द स्वामी गुन गावत मिटि गये कोटि अनंग ॥८१७॥

—परमानन्द सागर पृ० २१४

इसके प्रकट होते ही रसिक भक्त अपने युगल सरकार पर अपना तन मन न्योछावर करने लगता है। और यह कहता है कि कुंज के रन्ध्रों से कब ऐसा होगा जब मैं बार-बार राधा-माधव की रस-लीला को देख सकूंगा। इसके साथ ही साथ वह अपनी सेवा-भावना को भी प्रकट कर देता है, दर्शन करने पर उसे अपने इष्टदेव की प्रत्येक चेष्टा रसमय दीख पड़ने लगती है

---

१ रस परसे बिनु तत्व न जाने।
रसि बिनु रसकहिं को पहिचाने॥

—रूप मंजरी (नंद प्र) पृ ११७

और फिर समस्त मर्यादाओं की चिन्ता न करते हुये यह रस स्वरूप नंद नन्दन के मधुर प्रेम में तन्मय हो जाता है—

रसिक सिरोमनि नंद नंदन ।
रसमय रूप अनूप विराजित गोपवधू उर सीतल चंदन ।
नैननि में रस चितवनि में रस बातनि में रस ठगत मनुजपसु ।
गावनि में रस सिसकनि में रस बेनु मधुर रस प्रगट पावन धस ।
जिहि रस मत्त फिरत मुनि-मधुकर सो रस सेवित ब्रज वृन्दावन ।
स्याम धाम रस रसिक उपासित प्रेम प्रवाह सुपरमानंद मन ।।४५।।

—परमानन्द सागर पृ० ४२१

हरि के नैनों की चितवन, रसमयी बातन और मुरली के गायन की रसमयी झाँकी को कौन अपलक नहीं देखना चाहता ? मुनिजन भी तो उसी को देखने की लालसा में रसमत्त रहकर दिन रात वृन्दावन का सेवन करते रहते हैं। यही वृन्दावन तो रस रूप का धाम है। राधाकृष्ण दोनों एक दूसरे के हेतु रस-रूप होकर यमुना के पुलिन पर निरंतर त्रिविध समीर का सुख लेते हुए परस्पर कंधे पर हाथ रख कर विचरण करते हैं। उनका चमचमाता हुआ कुंडल और पीताम्बर तथा मुरली की मधुर ध्वनि समस्त गोपीजनों को क्यों नहीं मोहित करती ? वे तो मोहन हैं ही इसीलिये सभी को वे मोहित कर लेते हैं। चतुर्भुजदास भी इस आनंद को निरंतर लूटते हैं। यथा—

विहरत लाल विहारी दोउ श्री यमुना के तीरे-तीरे ।
त्रिविध समीर सुमन घन बरसत बसनि पर बुन्द धीरें धीरें ।
केकी कंठ पीताम्बर ओढ़े कुंडल छवि मन हीरें-हीरें ।
मुरली धुनि सुनि धाई ब्रज जुवती आपुन हैं हरि नीरे-नीरे ।
मनो मत्त गजराज विराजत धरनि धरत पग धीरें धीरें ।
'चतुर्भुज दास' आनंद सब निरखत लोचन हैं अति
सीरें-सीरें ।।२१०।।

—चतुर्भुज दास पद संग्रह, पृष्ठ ११४

यहीं प्रियतम इष्टदेव को रसिक भक्त अपनी प्रीति से अपने वश में कर लेता है। एक क्षण भी वह उसका विरह सहन नहीं कर पाता क्योंकि मधुर रस के रंग में वह रंगा हुआ होता है। इस रंग में रँगा हुआ रँगीला रसिक बार-बार परमात्मा से यही कहता है—

अहो विधना ! तोपर अचरा पसारि माँगौं,
जनमु-जनमु दीजै याही ब्रज बसिबो ।
अहीर की जाति समीप नंद-घर,
घरी घरी घनस्याम हेरि हेरि हँसिबो ।
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिन में,
झकझोरनि अंग अंग को परसिबो ।
'छीत स्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल,
सरद-रैनि रस-रास को बिलसिबो ।। ११७ ।।

—छीत स्वामी पद संग्रह, पृष्ठ ५१

रस रास में विलास प्राप्त करना महान कल्पना है। अंग प्रत्यंग का स्पर्श, वह भी संसार के सञ्चालक के साथ ? बड़ा कठिन कार्य है। किन्तु सरल है उनके लिए जिन्होंने अपने आप को सौंप दिया है उस रसिक शिरोमणि के चरणों में। वे रसिक अपने प्राण प्यारे के मुख-कमल पर, उनके पीत वासन पर और उनके वेणुवादन पर अपने को बलिहार कर देते हैं। वे सतत अपने प्रियतम से यही कहते हैं कि आप अपनी अमृतमयी मुस्कान से मेरे नेत्रों की तपन को मिटा दीजिये तथा शरीर की विरहाग्नि को शांत कीजिए। हे प्यारे ! बड़े भाग्य से मैंने तुम्हारे जैसा प्रियतम पाया है। कितना माधुर्य है इस 'प्रियतम' शब्द में ! शब्द के कानों में पड़ते ही रति जागे बढ़ जाती है, समस्त संसार का त्याग नाग की केंचुल के समान हो जाता है। यथा—

प्रीतम सूचक शब्द सुनत जब अति रति बाढ़ै ।
होत सहज सब त्याग नाग जिमि कंचुकि छाँड़ै ।।१२।।

—शि० पं० पृ० ४०

ऐसे प्रीतम मन मोहन से किसका मन नहीं उलझता ? फिर रसिकों की तो बात ही क्या है, वे तो निरंतर उस छवि का पान ही किया करते हैं। नव निकुंज में खड़े हुए रसिक शेखर से जिसका मन लग गया उसे कौन छुड़ा सकता है ? वह तो प्रीत के फंदे में ऐसा जकड़ जाता है कि फिर छूटता नहीं। ठीक भी है, प्रेम के घेरे को तो इतना सुदृढ़ होना ही चाहिए। प्रेम के उस पवित्र घेरे में आकर रसिक अपने प्यारे का सौन्दर्य और उनकी मुस्कान के माधुर्य का ही पान करता है, निरन्तर नाम के सिवा फिर उसे कोई नहीं भाता। यथा —

अटकि रह्यौ मोहन सौं मन मेरौ ।
छूटत नेकु न छुड़ायौ सजनी ! चहुँ दिसि प्रेम रह्यौ करि घेरौ ।
नख सिख अंग रंगीली मानिक मुसकनि मंद महा रस भेरौ ।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिनु भावत नाहिन कोउ अनेरौ ।।२३८।।

कुंभनदास पद संग्रह, ८९

रीतिकालिक कृष्ण भक्तों में माधुर्य (१७००-१९००)

इस युग के मधुर रसोपासक भक्त कवियों ने सखीभाव से युक्त होकर निकुंज में विहार करने वाले राधा-कृष्ण युगल को अपना इष्टदेव बनाया था और सिद्ध सखियों की भावना कर युगल किशोर की सेवा का अधिकार प्राप्त किया था । १२वीं शती से लेकर १७वीं शती तक तो भक्ति का प्रवाह ही तेजी से गतिमान हो चला था, इसलिए भक्तिपरक रचनाओं का होना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं थी । किन्तु इस रीति युग में (जब कि कवि गण लौकिक शृंगार की धारा को अपने आश्रयदाताओं की तुष्टि के हेतु प्रवाहित कर रहे हों) साधना की इस रस प्रणाली के अवलम्ब से भक्ति के मार्ग को प्रशस्त कर राधा-कृष्ण की अलौकिक लीला की अभिव्यंजना करना बहुत बड़ी बात थी । हिन्दी कृष्ण काव्य की पवित्र मन्दाकिनी को इस युग के मधुर रसोपासकों ने निस्सन्देह कलुषित होने से बचाया है और काव्य की कला को सार्थकता प्रदान की है । इन भक्त कवियों की दृष्टि में मापक कला वही थी, जो निरंतर स्थूल से सूक्ष्म की ओर चले । जिस कला की भोग में विश्रांति है, उसे इन रसिकों ने कला नहीं समझा । यही कारण है कि इनकी कविता में शृंगार भक्ति का माधुर्य होकर चमत्कृत हो उठा । उसने संतोष भी दिया और शांति भी । यहाँ एक बात यह स्मरण रखने योग्य है कि इन कवियों का समूह रीतिकाल के शृंगारी कवियों की शाही चमचमाहट से बहुत दूर एकांत में निवास करने वाला था । इन रसिक भक्तों ने अपना केन्द्र वृन्दावन को बनाया था और वहीं की रज में पड़े रह कर वे निरंतर अपने प्रियतम इष्टदेव राधा माधव की याद में तल्लीन रहा करते थे, तथा उनकी कुंजलीला का गान करते थे । इन माधुर्योपासक रसिक भक्तों की यह धारणा नितांत रूप से सत्य है कि राधा-कृष्ण के प्रेम का माधुर्य वही लूट सकता है, जिसने कनक और कामिनी का त्याग कर संसार के विषयों से विरक्ति ले ली हो । गोपियों ने संसार का त्याग करके ही अपने प्यारे मदन

मोहन को प्राप्त किया था।[1] अपने सुख की तनिक भी चिंता न करते हुये गोपियों की भाँति रसिक भक्त अपने प्रियतम इष्टदेव के सुख में ही अपना सबसे बड़ा सुख मानता है।[2] और उस रस के वशीभूत हो निशि दिन उस माधुरी का पिया करता है।[3] प्रेम के इस बाँके पथ में जब साधक के मयन मग्न हो जाते हैं और प्रबल मनन तभी उसे यह छवि देखने को मिलती है। वह प्रियतम की इस छवि में अपने शरीर मन तथा प्राण को एकाकार कर देता है। हरि की दिव्य केलि के रंग में रँगा हुआ व्यक्ति ही उस परम प्रेम को पाता है जो रसिकों के लिए अपेक्षित है।[4] भगवान राधा-कृष्ण का नित्य विहार ही संसार में प्रचलित समस्त उपासनाओं का मुकुट और समस्त सुखों का सार है।[5] किन्तु मिलता है साँवरे की ओट से।[6] उस साँवरे से रसिक भक्त माँगता भी यही है कि वह निरंतर उनकी झाँकी देखते हुये इस महा

१—ज्यों लगि कनक कामिनी भाव सो या प्रेम को भेद न पावें।
काम भोग तजि गोपी राँची आनंद में पिय के संग नाँची ॥१४॥
—रस सार (सिद्धान्तरत्नाकर) पृष्ठ १४

२—प्रिया प्रियतम को निज सुख चाहैं
अपनो सुख नहीं मन मोचाहैं ॥४०॥
—सिद्धांत रत्नाकर रसिकदेव कृत रससार पृ. १४

३—ता रस के मन बस पर्‌यो निसुख न लेत उसास।
निशि दिन पीवत माधुरी पीवत निवाहत प्यास ॥२०॥
—सिद्धान्त रत्नाकर रसिकदेव जी कृत रससार पृ. ११

४—नित्य केलि रंगनि रँगे परम प्रेम उपजात।
लाल किसोर अनन्य कू और न कछू सुहात॥
—सिद्धान्त सरोवर १४८ ॥ सिद्धान्त रत्नाकर पृष्ठ ८७

५—नित्य विहार अपार तें उदित सबै मत होत।
ज्यों रवि तें प्रतिबिंब सब [illegible] तें होत ॥१८७८॥
—सिद्धान्त सरोवर, सिद्धान्त रत्नाकर पृष्ठ ४४

नित्य निकुंज विहार रस सकल सुखन को सार।
किशोरदास भी हरिदास पर परति होत निरधार ॥११२॥
—सिद्धान्त सरोवर, सिद्धान्त रत्नाकर पृष्ठ ११

६—भई निज साँवरे [illegible] ॥८ ॥ सि० सा० पृ. १२

केलि के रस का पान करता रहे। राधा-कृष्ण युगल की रूप-माधुरी का निरंतर पान करते हुए भक्त मिलकर इस रस को पीता है। उसके प्यारे इष्टदेव उसे प्रत्येक चेष्टा में रसमय ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी बात भी रस की है और बात भी दृष्टि भी रस की है और रीति भी उनकी प्रीति भी रस की है तथा उमंग भी रस की—यहाँ तक कि समस्त सखियाँ उसे रसमयी दृष्टिगत होती हैं।[1] इस महा मधुर रस के आनन्द का ग्रहण उनके मन में अत्यत विचार करने के उपरान्त सांसारिक विषयों को त्याग कर किया है। वह निरंतर गौर-स्याम का स्मरण करता है। ऐसे रसिक के हृदय में नित्य निकुंजेश्वरी सर्वदा निवास करती हैं और वह स्वयं भी राधा के भाव के अन्दर निरंतर रहता है। केलि-युगल के दर्शन तथा रसास्वाद की चाह भक्त को इस स्थिति में पहुँचा देती है कि वह निरंतर कुंज महल में कनक केलि के समान लिपटी हुई गौर श्याम की झाँकी देख सके। यह झाँकी ही उसकी सबसे बड़ी निधि है। नेत्रों से युगल का रूप, रसना से युगल का नाम, श्रवण से युगल की कीर्ति आठोयाम सुनने की वह (भक्त) चाह करता है। यथा—

कुंज महल में बैठक रासे कुंज महल में केलि।
गौर स्याम लपटे रहैं मानो कनक की बेलि।
नैन विहारी रूप निरखि रसन विहारी नाम।
श्रवन विहारी सुयश सुनि निस दिन आठों याम।

---

१ रस में रस पिये कुंज बिहारी।
रस की बात घात पुनि रस की रस ही सों रस दृष्टि निहारी।
रस की रीति प्रीति पुनि रस की रस की रस को उमगनि सहज
पियारी।
रस की सखी रसिक हरिदासी रसमयी ललित प्रिये उ
हारी ॥११॥ ललितकिशोरी
—अष्टायाम बानी पृष्ठ ८२१ (हस्तलिखित प्रति)

ना काहू सों रूसनो ना काहू सो रंग ।
ललित मोहिनी दास कौं अद्भुत केलि अभंग ॥
—अष्टाचार्य वाणी पृष्ठ ८८२ ९१
(हस्तलिखित प्रति)

भक्तों का तो यहाँ तक विश्वास है कि वे श्याम सुन्दर अपनी प्रियतमा श्रीराधिका जी के साथ नेत्रों के सुन्दर मार्ग से प्रवेश कर काया रूपी कुञ्ज के मन रूपी निकुञ्ज में नित्य विलसते हैं। यथा—

काया कुञ्ज निकुञ्ज मन नैन द्वार अभिराम ।
भगवत हृदय सरोज सुख विलसत स्यामा स्याम ॥५॥
—भगवन्मुदितवाणी० नवरत्न दो० पृष्ठ २८

प्रिया प्रियतम का यह स्वच्छंद विचरण समस्त रसिकों के मन को रस पान करने वाले भ्रमर के समान मतवाला बना देता है। उनका यह माधुर्य भक्तों के प्राणों का आधार है। वृन्दाविपिन विहारी रसिकवर नागर वृषभानुनंदिनी की अनुपम प्रीति के साथ रास-रसासव में मत्त विहार करते हुए अपने उज्ज्वल रस-सागर में सब को डुबा देते हैं—

श्री राधा रमण रसिकवर नागर वृन्दाविपिन विहारी ।
आनंदघन व्रजराज लाडिले मिलि वृषभानु दुलारी ।
कीरति कुंवरि कुंवर जसुमति के ललितादिक सुखकारी ।
रास रसासव मत्त परस्पर अनुपम प्रीतम प्यारी ।
नवल किशोर किशोरी सोहन भौंह नैन चखु चारो ।
गौर स्याम तन वसन आभरन अंग-अंग उनहारी ।
उज्ज्वल सागर सब विधि आगर प्रेमामृत विस्तारी ॥

---

१ मन तें भली कोमी चीर ।
महामधुर रस पान कीनो घ'धि चिवमा नीर ।
गौर स्याम हित चित दोनों आनि यह निज वीर ।
ललित केलि के रंग रस में बढ्यो सुमर सुधीर ॥
—अष्टा० वा० पृ ८८९, ललित किशोरी (हस्तलिखित प्रति)
(नोट—प्रबंध लेखक को अष्टाचार्यों की वाणी की हस्तलिखित प्रति श्रीहरिदास संप्रदायानुयायी भक्त प्रवर श्री राधामोहनदास जी से प्राप्त हुई है।)

निसि-बासर अनुराग रगमगे सत्व सात्विक संचारी" ""।
छिन-छिन नव-नव महा माधुरी परिजन प्राण अधारी।
धन-गन गुन गभीर अपरिमित शोभा संपति धारी।
श्री गोपाल भट्ट प्रभु सर्वस धन परम मनोहर बलिहारी॥

—मनोहर दास की राधारमण रस सागर पृ० १

निस्संदेह राधा-माधव के इस निशि-बासर अनुराग में रंगे हुए समस्त वन, मग, द्रुम तथा बेलि आदि सच्चिदानन्दमय हो जाते हैं और भक्तों के हृदय इस महामधुर के आस्वाद हेतु मधुप बन जाते हैं। इस माधुर्य को उत्पन्न करने वाली जो प्रीति है उसका तो कहना ही कठिन है—इसे तो वही जान सकता है जिसके मन यह पड़ गई हो। यथा—

कहा कहौं, कैसी कहौं जैसी है यह रीति।
तब ही कोऊ जानि है गरे परेगी प्रीति॥

इस प्रीति के वशीभूत हो कर रूप प्रेम तथा रस के सार रूप वृन्दावन में राधा-कृष्ण विहार करते हैं। इस विविध प्रकार के विलास का आनंद सखी जन ही उठा सकते हैं। यथा—

विलसत विविध विलास विहारी।
या सुख की सखि है अधिकारी॥

—रसिकदासकृत अद्भुत कथा*

इस विहार की गति अद्भुत है। निरंतर आनंद का स्रोत इसमें उमड़ता रहता है, और मात्रा भी उन्हीं को है जिनके नेत्रों की ज्योति है—वे रसमय युगल। मधुर प्रेम में पगे भक्तों के चरण-कमल का सामीप्य पाने की लालसा इस उपासना-पद्धति पर चलने वालों को होती है। यथा—

मधुर प्रेम में जे पगे हित चरननि दृढ़ आस।
तिन के चरण-सरोज में अनन्यअली को वास॥ ६॥

—वाणाष्टक ९

सांसारिक जनों के लिए तो यह मार्ग अत्यंत कठिन है और इस पद्धति से प्राप्त होने वाला रस नितांत दुर्लभ। इसे प्राप्त करने के लिए ललित त्रिभंगी को हृदय में धारण करना ही पड़ेगा। इतना ही नहीं, जब मस्तक

---

* श्रीहितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य पर उद्धृत।

को हाथ पर ले लिया जायगा (सर्वस्व त्याग), नैनों से अविरल आंसुओं की धार बहने लगेगी, धैर्य छूट जायगा संसार के विषयों से चित्त विरक्त हो जायगा और इसी रसासव को एकमात्र पाने की भावना रहेगी, तभी इसे पाया जा सकेगा अन्यथा नहीं। यथा—

बिन सिर प्रेमी रहै निरंतर सिर सौंटे पिय पावे।
नैननि नीर धीर सखि जीवे छिन-छिन गुण गन गावे।
जगत तें सदा उदास आस इक रस रस आसव भावे।
(श्री) रूपलालहित ललित त्रिभंगी हितचित और न आवे*॥

सखी भाव के बिना यह रस अत्यंत दूर रहता है। सर्वप्रथम गुरु-मुख से इसे श्रवण कर भावुक भक्तों का सत्संग अपेक्षित है तत्पश्चात् रस पद्धति के गौरंग मंत्र का चित्त में धारण और फिर युगल की प्रेम-लीला का गान, यही विधि है इसे पाने की।

यह रस दूरि बिनु सखिभाउ।
गुरु-मुख लहि रस भेद भावक भक्त सग उपाउ।
रस पद्धति गौरंग मंत्र उपास धरि चित चाव।
वृन्दावन हित रूप लीला प्रेम गह्यो गाव॥ १९॥
—रसिक पथचंद्रिका पद भाग, बाबा वृन्दावन दास

जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति की आज्ञा के अधीन रहती है उसी प्रकार दम्पति (इष्टदेव राधा-कृष्ण) की सेवा में रसिक भक्त तल्लीन रहता है। यथा—

पतिव्रता जैसे रहै पति आज्ञा आधीन।
ऐसे रसिक अनन्य रहैं, दम्पति सेवा लीन॥ ५॥
—विवेक-पत्रिका बेली बाबा वृन्दावन दास

जब अनन्य भावुक जनों के नेत्र उस माधुर्य रस सिन्धु दम्पति के यहां मीन बन होकर विचरने लगते हैं, तभी यह तल्लीनता संभव है। प्रीतम के कंधे में बाँह रख कर कुंज में नित्य रस बरसाने वाली छवि ही इस तल्लीनता का एकमात्र आधार है। रसामृत की सरसाने वाली इस युगल छवि की ललित लीलाओं का स्वाद जो पा गया है, उसकी जिह्वा फिर और कुछ नहीं गाती। महा मधुर रस पान से छका हुआ मन, विवश दशा, रोमांचित शरीर और

* श्रीहितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य पृ० ४५७ पर उद्धृत।

रूपरस के प्यासे नैनों को लिए हम अनन्य रसिकों के लिये राधा-माधव युगल के सिवाय और कौन (दूसरा) उपास्य हो सकता है ?

या रस को स्वाद जो आवै ।
रसना फिर न और कछु गावै ॥ ९५ ॥
महा मधुर रस पान छकै मन ।
बिवस दशा अति रोमांचित तन ॥ १९१ ॥
विवस दशा गति कही न परई ।
दरस प्यास नैननि जल भरई ॥ १९६ ॥
जीवन एक युगल रस जाके ।
मन में और ठौर नहिं ताके ॥ २०३ ॥

—घनानंद भावना प्रकाश

ऐसे उपास्य देव के प्रति रसिक भक्त का कथन है कि वह उनकी शय्या बनायेगा, उन्हें रसरीति से विहार-शयन पर लायेगा उनके मुख-कमल की प्रेममयी लालिमा की शोभा देखेगा, प्रिया प्रियतम की केलि में सहायक रूप से रहेगा और होते ही भैरवी सुनायेगा और युगल के अलसाते शरीर को सहारा देगा—इस प्रकार अपने रँगीले श्याम-श्यामा को अपने हृदय में बसाकर चातक के समान रस भरे आनंद का पान करेगा ।[1]

प्रेम के इस आनन्द से परिपूर्ण सरोवर में प्रवेश करते ही हृदय में

१—राधा मदन गोपाल को हौं सेज बनाऊँ ।
लाल बिहारिन को तहाँ रस रीतिन ल्याऊँ ।
युगल बदन मद मदन की लाली लखि पाऊँ ।
औसर ऐंचि रहैं प्रिया हौं कछुक दुराऊँ ।
या विधि मन भायो करौं जागि रैन बिताऊँ ।
भई भोर अनुराग सौं भैरवी सुनाऊँ ।
निरखि अलसनी अंगनि को सुख सहित सम्हराऊँ ।
नित नूतन रस रीति को चित चौंप बढ़ाऊँ ।
सहज रँगीलो जोट कौं हिय बीच बसाऊँ ।
चित चातक आनंदघने रस बरस रमाऊँ ॥

—घनानंद पदावली पृष्ठ ३४२ ४१-४४

उस प्रेम के देवता का निवास हो जाता है।[1] जिन्होंने अपने हृदय को उस युगल छवि के प्रति समर्पित कर दिया है उन्हें अन्य वस्तु की चाह फिर नहीं रहती हृदय अत्यंत निर्मल हो जाता है और उसके नेत्रों में कुञ्ज से निकलते हुये अलसाये शरीर से युक्त छवि वाले राधा-माधव समा जाते हैं। नागरीदास का कथन है—

नींद भरे तन लटपटे छके दृगनि की हेर।
नागरिया के हिय बसौ कुञ्ज भुरहरी बेर ॥१८१॥

—नागर समुच्चय सिंगार सागर पृ० २६५

पलक भर भी ये प्रिया प्रियतम नहीं बिछुड़ते और बिछुड़ते हैं, तो काम कल्प के समान व्यतीत होने लगता है। ऐसे प्रिया-प्रियतम को कौन नहीं चाहेगा जिनके साथ चन्द्रमुखी, कमल के समान कोमल राधिका जी सर्वदा विराजती हैं। भक्त तो कोटियों रमा, रति तथा वाणी को मनमोहन के साथ रहने वाली इस छवि पर न्योछावर कर चले अपनी स्वामिनी मान बैठा है। यथा—

चंद सौं आनन कंजन-सौं तन हौं लखि के बिन मोल बिकानी।
औ अरविन्द-सो आँखिन कों हठी देखत मेरिये आँखि सिरानी।
राजति है मन मोहन के संग वारौं मैं कोटि रमा रति बानी।
जीवनमूरि सबै ब्रज की ठकुरानी हमारी है राधिका रानी॥

—ब्रज माधुरी सार पृष्ठ २४१ पर उद्धृत

इन स्वामिनी के चरणों का ध्यान क्षण मात्र भी धारण करने से मधुर रसोपासक को निश्चय ही सखीभाव की प्राप्ति हो जाती है और तब वह युगल की विहार सेवा का अधिकारी बन जाता है। यथा—

दंड पल परमाणु सब को सेसहू जे ध्यावहीं।
सहचरी तन धारि निश्चै जुगल सेवा पावहीं।
जुगल नित्य बिहार सुख जो लेन कीजिय चाह है।
श्री किशोरी चरन रज बस एक मह निरबाह है॥

—श्री हरिव्यास कृत, माधुर्य लहरी, पृ० २९४

१—प्रेम सरोवर प्रेम सों पूरन परम रसाल।
नैन नीर के परसि तें बसी हिये जुग लाल॥२३॥

—प्रिया० श० २० नो० पृ० ७

भक्तों का विश्वास है कि जो राधा-माधव के आनंद का समुद्र है उसमें निरंतर माधुर्य की तरंगें उठती रहती हैं, किन्तु वे रसिकजन ही इसे जान पाते हैं, जिन पर राधा कृपा-कटाक्ष की बौछार पड़ गई हो और जो उनके गुणों का स्मरण कर नित्यविहार का गान करते हों—

राधा कृपा-कटाक्ष की लागी हिय बौछार।
राधा गुन सुमिरत कथन छिन-छिन नित्य विहार ॥[1]

—व्रज जीवन जी

यह नित्य विहार उस दिव्य कनकमय भूमि पर होता है, जो विभिन्न प्रकार के सुन्दर तरुओं तथा लताओं से आच्छादित है जिसमें स्थान-स्थान पर आनंद ही आनंद दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सुरम्य स्थल में कुंज-महल के मध्य रचित शय्या पर श्यामा-श्याम विराजते हैं, रंगदेवी आदि सहचरी उनकी सेवा करती हैं और वे अखिल रसामृतमूर्ति रस की समस्त शक्तियों को साथ लेकर वहीं विहार करते हैं —

मूर्तिमान शृंगार हरि, सब रस को आधार।
रसपोषक सब शक्ति लै व्रज में करत विहार ॥ ५ ॥

—श्रीमन्नारायणदेवाचार्यकृत, भावामृत गंगा, प्रथम भाग

इस विहार में प्यारी प्रिय के अधीन हो जाती है और प्रिय प्यारी के। दोनों परस्पर वशीभूत होकर रसलीन हो जाते हैं —

श्री राधा माधव रँगे सुरति रंग रस लीन ॥
प्यारी पिय के प्रेम बस, प्रिय प्यारी आधीन ॥

—प्रियासखी कृत हरिलीला पृ० १

इस दम्पति रस के आस्वाद करने वाले को विधि-निषेध से ऊपर उठकर चित्त को रसमग्न करना पड़ता है। रसिकों का आश्रय वांछनीय है, क्योंकि इसे करने पर ही भावना सिद्ध होती है और रसानुभव होता है:—

जो जन दम्पति रस को चाहै।
सो धन विधि निषेध रस की पहिले चित तें नाखै ॥
करे मित्रता रसिक वृन्द सों तबै रसिक अपनावै।
व्रजनिधि जब ह्वै सिद्धि भावना रस पानेत कहावै।

राधा-माधव युगल का यह मधुर रस यथार्थ में उस पारस के समान है,

---

१ हितहरिवंश गो० सम्प्र० और सा० पृष्ठ ४२१ पर उद्धृत

जिसका स्पर्श होते ही लोहा स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है, इसीलिये तो रसिक बार-बार इसी रस की उपासना करते हुये कहते हैं कि वृन्दावन के मध्य आनंद का दान करने वाले श्रीराधा-कृष्ण के इस मधुर रस को जिन्होंने नहीं पाया उनकी जननी बाँझ ही रही—

गौर श्याम सुखदान हैं श्री वृन्दावन माँझ।
जे या रस माँहि जानहीं तिनकी जननी बाँझ ॥ ७४ ॥
—व्रजनिधि ग्रंथावली-प्रीति लता पृ० १०

आधुनिक कृष्ण भक्तों में माधुर्य (१९वीं २०वीं शती)—

साँवरेगोरे-दम्पति जिनके हृदय के प्राण हैं ऐसे नेही उपासक इस युग में बहुत थोड़े रह गये हैं। रसमयी उपासना का यह सुमिरन, यह प्रेम और यह नेम उन लोगों के लिये है भी नहीं, जो आज के इस ऐश्वर्य प्रधान युग में वासना का लक्ष्य बन चुके हैं। फिर भी मधुर रस की इस कठिन उपासना पद्धति से अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने वाले जिन भक्त कवियों ने अपनी परंपरा का निर्वाह इस युग में किया है, वह उनके लिये गौरव का विषय है। वल्लभ, चैतन्य, हरिदास तथा हरिवंश ने जिस रस धारा की गति में वेग उत्पन्न किया, वह न तो कहीं रुका और न रुक सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रवाह में वह शक्ति विद्यमान है, जो बीच में पड़ने वाले झाड़-झंखाड़ तथा पर्वतीय चट्टानों तक को आत्मसात् करने में पूर्ण समर्थ है। वृन्दावन को केन्द्र रखने वाले रसिक भक्तों की भाँति हो सकता है कि इस युग के भक्त कवियों ने अपना केन्द्र वृन्दावन न बनाया हो, किन्तु उनकी रसभावना में किसी प्रकार भी सन्देह नहीं किया जा सकता। इस युग के भक्त-कवियों का भी यही विश्वास है कि राधा-माधव युगल की रस-लीला ही महामंगल को देने वाली है तथा ऐसे आनन्द को प्रसारित करने वाली है, जो नित्य है—अखण्ड है। इन कवियों ने भी राधा की उपासना को सर्वप्रधान माना है क्योंकि वे जानते हैं कि युगल रस का माधुर्य,[1] वृन्दावन का वास और रस रूप का सौन्दर्य यहीं

१ श्री राधे मोहि अपुनों कब करिहौ ?
युगल रूप रस अमृत माधुरी कब इन नैननि भरिहौ ?
कब या दीन हीन निज जन को व्रज की वास दिवैहौ ?
'हरी चंद' कब हृदय तें सुख भरि बाह लगैहौ ॥ १ ॥
—भारतेन्दु ग्रं० भाग २ प्रेम फुलवारी, पृ० १७०

की कृपा से प्राप्त होता है। इससे भी अधिक महत्त्व इन कवियों की दृष्टि में उन सखियों का है, जो सतत् इष्टदेव दम्पति की सेवा में रत रहती हैं। व सर्वप्रथम सखियों से ही यह प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें राधेश्याम युगल का सामीप्य लाभ करायें यथा—

सखियो याद दिवावत रहियो।
समय पाइ कै सुरत हमारिहु कबहु जुगल सों कहियो।
केलि कोप अरु मान समय सजि सुख में तुम रुख सहियो।
कहियो कबौं धाइ के धाहैं, हरिचन्दहु की गहियो।

—भारतेन्दु ग्रं० भाग २ प्रेम फुलवारी पृ० २११

इस सामीप्य को प्राप्त करने के लिए इस युग के भक्त के भाव अनुकरणीय हैं। वह अपने प्यारे प्रभु से कहता है—

नैनन मैं निवसौ पुतरी ह्वै हिय मैं बसौ ह्वै प्रान।
अंग-अंग संचरहु सक्ति ह्वै ए हो मीत सुजान॥
मन में वृत्ति वासना ह्वै कै प्यारे करौ निवास।
ससि सूरज ह्वै रैन-दिना तुम हिय-नभ करहु प्रकास॥
बसन होय लिपटौ प्रतिअंगन भूषन ह्वै तन बाँधौ।
सोधौं रहै मिलि गात रोम प्रति अहो प्रानपति माधो॥
ह्वै सुहाग-सेंदुर सिर बिलसौ अधर राग ह्वै सोहौ।
फूलमाल ह्वै कंठ लगौ मम निज सुबास मन मोहौ॥
मम ह्वै पूरौ मम आँगन मैं पवन होइ तन लागौ।
ह्वै सुगंध मो घरहिं बसावहु रस ह्वै कै मन पागौ॥
श्रवनन पूरौ होइ मधुर सुर भजन ह्वै दोऊ नैन।
होइ कामना जागहु हिय में करहु नींद बनि सैन।
रहौ ध्यान में तुम ही प्यारे तुम-मय तन मम होय।
'हरीचन्द' यह भाव रहै नहिं प्यारे हम तुम दोय॥३॥

—भारतेन्दु ग्रं० भा० २ विनय प्रेमपचासी, पृ० २१८

इस सामीप्य को प्राप्त करने के उपरान्त ही साधक प्रिया प्रियतम के
स नित्य विहार का सुख उठाता है जिसकी प्रत्येक कला कल्याणमयी
, यथा—

मंगलमय सखि युगल-विहार।
बड़े प्रात ही कुंज ओट तें क्यों चुपके नहिं लेत निहार॥
मंगल सेस भवन रस मंगल जहाँ युगल मंगल की खानि।
मंगल बाहु बाहु में दीने मंगल अलि अलसौंही बानि॥
मंगल जागत आलस पागत मंगल नींद भरे युग नैन।
मंगल लपटि लपटि के पुनि-पुनि कबहुँ उठत करि कबहूँ सैन॥
मंगल परिरंभन आलिंगन मंगल तोतरे शब्द उचार।
'हरीचंद' मंगल वल्लभ-पद आदम विहरत बिना विकार॥

—भारतेन्दु ग्रं० भाग २, प्रेमाश्रु वर्षण पृ० ११४

इस मंगलमय विहार की झाँकी पाने तथा रसानुभव करने के हेतु अत्यंत लगन की आवश्यकता होती है। चलते-फिरते साधक को प्रिय-मिलन की आशा रखनी चाहिए। निरंतर रसिक संतों का सत्संग करना तथा युगल के वियोग में दिन-रात आँसू बहाना ही इन साधकों का उत्तम व्रत है। बिना सच्चे महबूब के इन रसिकों का संसार सूना ही रहता है। लगन हो तो ऐसी हो कि जिसम सर्वत्र मोहनलाल ही दिखलायी दें यथा—

नारायण तब जानिये लगन लगी या काम।
जित जित में दृष्टी परै, दीखें मोहनलाल॥ १७७॥
चलत फिरत बैठत उठत लगी रहै यह आस।
श्याम राधिका निरखिवो, वृन्दाविपिन निवास॥ १२४॥

—श्रीनारायण स्वामिकृत अनुराग रस

इस उपासना-पद्धति में दोनों का परस्पर साथ होना परमावश्यक है क्योंकि दोनों के मुख-चन्द्र के रस का पान दोनों की आँखें चकोरी बन से करती हैं, दोनों एक दूसरे के दया के पात्र हैं। दोनों एक दूसरे के चित्त को चुराते हैं। दोनों प्रेम की राशि हैं। इसलिए मधुर रसोपासकों के लिये दोनों ही उपास्य हैं। साधक इन्हीं को पाने वाले मधुर मार्ग के लिए कहता है—

कब मैं या मारग पग धरिहौं।
श्री वृन्दावन वास निरंतर राधा कृष्ण रूप लखि ररिहौं।
सुनिये लाल कृपाल दयानिधि यह निरचय दृढ़ कबहुँ कि करिहौं।
किशोरीदास, हरिव्यास कृपा बल महल टहल सेवा सुख टरिहौं॥८॥

—निम्बार्क माधुरी पृ० ६६९

बरसाने वाली के साथ प्यारे कृष्ण रस की वर्षा करते हुए, इस साधना के साधक के हृदय में प्रेम को उत्तरोत्तर परिवर्धित करते रहते हैं। उनकी भक्ति की भूमि हरी भरी हो जाती है और वे परम संतोष का अनुभव करते हुए व्यंजना करते हैं —

मोर मुकुट अलकावली, कुण्डल छवि द्युति घोर।
'मुरली' टेर सुनाय कर, हरहु सदा मन मोर।।
हरी हरत हो श्याम तुम, गोपिन हिय के हार।
'मुरली' हिय अभिलाष यह, मम उर करहु विहार।।
चाँह बिहारी की गहूँ, धरूँ बिहारी ध्यान।
निरखूँ नित्य विहार-छवि, मुरली हिय अभिमान

—निम्बार्क माधुरी पृ० ७१०

राधा-बिहारी के नित्य विहार के प्रति अनुराग को पाने के लिए इस युग में भी भक्तों ने सर्वप्रथम भामिनी भावना को प्रधानता दी है, यथा—

प्रथम भामिनी भावना, पाछे रस सिंगार।
ता पीछे गावौं सुनौं, देखौं जुगल विहार।

—ललित किशोरी (अभिलाष मा० पृ० ११)

नवीन मेघ के समान श्यामल श्रीकृष्ण और चमचमाती हुई चपला के समान राधा जिस समय कुंज में परस्पर लीला करते हुए रसिकों को स्वप्न मात्र भी देखने को मिल जाते हैं, तो फिर उनका मन-मयूर नृत्य कर मस्त हो जाता है। ऐसे युगल किशोर का विहार दर्शन ही रसिकों की संध्या, पूजा तथा पाठ है। इस विहार-सुख की उपासना के सम्बन्ध में ललितकिशोरी की अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

कदम कुंज ह्वैहौं कबै, श्री वृन्दावन माँहि।
ललित किशोरी लाड़िले, विहरेंगे तिहि छाँहि।।५३।।
कृष्ण राधिका कुंड को ह्वैहौं कबहूँ नीर।
करिहैं केलि कलोल सों, श्याम गौर शरीर।।५४।।
ब्रज धौं सेवा कुंज में, ह्वैहौं श्याम तमाल।
ललितकिशोर गहि बिरमिहैं, ललित लड़ैती लाल।।५५।।
कालीदह कम मूल की ह्वैहौं निविड़ गंभीर।
जुगुल अंग अंग लागिहौं उड़िहैं नूतन चीर।।५६।।

मंगलमय सखि जुगल-विहार ।
बड़े प्रात ही कुंज ओट तें क्यों चुपके नहिं लेत निहार ॥
मंगल सेज भवन रस मंगल तहाँ जुगल मंगल की खानि ।
मंगल बाहु बाहु मैं दीने मंगल बलि अलसौंही बानि ॥
मंगल जागत आलस पागत मंगल नींद भरे जुग नैन ।
मंगल लपटि लपटि कै पुनि-पुनि कबहुँ उठत करि कबहुँ सैन ॥
मंगल परिरंभन आलिंगन मंगल तोतरे शब्द उचार ।
'हरीचंद' मंगल वल्लभ-पद आवत बिहरत बिना बिकार ॥

—भारतेन्दु ग्रं० भाग २, प्रेमाम्बु वर्षण पृ० ११४

इस मंगलमय विहार की झाँकी पाने तथा रसानुभव करने के हेतु अत्यंत लगन की आवश्यकता होती है । चलते-फिरते साधक को प्रिय मिलन की आशा रखनी चाहिए । निरंतर रसिक संतों का सत्संग करना तथा युगल के वियोग में दिन रात आँसू बहाना ही इन साधकों का उत्तम व्रत है । बिना अपने महबूब के इन रसिकों का संसार सूना ही रहता है । लगन हो तो ऐसी हो कि जिसमें सर्वत्र मोहनलाल ही दिखलायी दें यथा—

नारायण सब जानिये लगन लगी या काम ।
जित तित मैं दृष्टी परै, दीखें मोहनलाल ॥ १७७ ॥
बसत फिरत बैठत उठत लगी रहै यह आस ।
स्याम राधिका निरखिबो, वृन्दाविपिन निवास ॥ १२४ ॥

—श्रीनारायण स्वामिकृत अनुराग रस

इस उपासना-पद्धति में दोनों का परस्पर साथ होना परमावश्यक है क्योंकि दोनों के मुख चन्द्र के रस का पान दोनों की आँखें चकोरी रूप से करती हैं, दोनों एक दूसरे के दया के पात्र हैं । दोनों एक दूसरे के चित्त को चुराते हैं । दोनों प्रेम की राशि हैं । इसलिए मधुर रसोपासकों के लिये दोनों ही उपास्य हैं । साधक इन्हीं को पाने वाले मधुर मार्ग के लिए कहता है—

कब मैं या मारग पग धरिहौं ।
श्री वृन्दावन वास निरंतर राधा कृष्ण रूप लखि भरिहौं ।
सुनिये लाल कृपाल दयानिधि यह निश्चय दृढ़ कबहुँ कि करिहौं ।
किशोरीदास, हरिव्यास कृपा बल महल टहल सेवा सुख ढरिहौं ॥८॥

—निम्बार्क माधुरी पृ० ११९

बरसाने वाली के साथ प्यारे कृष्ण रस की वर्षा करते हुए, इस साधना के साधक के हृदय में प्रेम को उत्तरोत्तर परिवर्धित करते रहते हैं। उनकी भक्ति की भूमि हरी भरी हो जाती है और वे परम संतोष का अनुभव करते हुए व्यक्त करते हैं :—

मोर मुकुट झमकावली, कुण्डल छवि युति थोर।
'मुरली' टेर सुनाय कर हरहु सदा मन मोर॥
हरी हरत हो श्याम तुम, गोपिन हिय के हार।
'मुरली' हिय अभिलाष यह, मम उर करहु विहार॥
नीह बिहारी की गहूँ, सबै बिहारी श्याम।
निरखूँ नित्य विहार-छवि, मुरली हिय अभिमान

—निम्बार्क माधुरी पृ० ७१०

राधा-बिहारी के नित्य विहार के प्रति अनुराग को पाने के लिए इस युग में भी भक्तों ने सर्वप्रथम भामिनी-भावना को प्रधानता दी है, यथा—

प्रथम भामिनी भावना, पाछे रस सिंगार।
ता पीछे भावौं सुनौं, देखौं युगल बिहार।

—ललित किशोरी (अभिलाष मा० पृ० ११)

नवीन मेघ के समान श्यामल श्रीकृष्ण और चमचमाती हुई चपला के समान राधा जिस समय कुंज में परस्पर लीला करते हुए रसिकों को क्षण मात्र भी देखने को मिल जाते हैं, तो फिर उनका मन-मयूर नृत्य कर मस्त हो जाता है। ऐसे युगल किशोर का विहार दर्शन ही रसिकों की संध्या, पूजा तथा पाठ है। इस विहार-सुख की उपासना के सम्बन्ध में ललितकिशोरी जी अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

कदम कुंज ह्वै हौं कबै, श्री वृन्दावन माँहि।
ललित किशोरी लाड़िले, बिहरेंगे तिहि छाँहि॥५३॥
कृष्ण राधिका कुंड को ह्वै हौं कबहूँ नीर।
करिहैं केलि कलोल सों, श्याम गौर शरीर॥५४॥
कब धौं सेवा कुंज में, ह्वै हौं श्याम तमाल।
लतिकाकर गहि बिरमिहैं, ललित लड़ैती लाल॥५५॥
कालीदह एक कूल का ह्वै हौं त्रिविध समीर।
युगल अंग-अंग लागिहौं उड़िहैं नूतन चीर॥५६॥

कब ह्वै हैहौं हौं मोरिनी, श्री वृन्दावन ध
नचिहौं संग अग मोरि कैं, सुन्दर स्यामा स्या
कब गह्वर की गलिन में फिरिहौं होम
जुगल चन्द मुख निरखिहौं, नागर नवल कि
कब कालिन्दी कूल की ह्वै हैहौं तरवर डारि।
ललितकिशोरी लाड़िले, झूले झूला डारि॥
कब गोवर्द्धन खोरि की ह्वै हैहौं हौं पाषा
चरन कमल धरिहैं तब, नागर छवि रसखान

—अभिलाषमाधुरी

कितना आत्मविस्मरण है और कितना अटूट साधक उपर्युक्त बातों में से एक को भी सिद्ध कर ले, तो बस का स्पर्श प्राप्त हो जायेगा। सर्वस्वसमर्पण की यही भावना निकट निस्संदेह खींच ले जाती है और फिर प्रियतम भी कि उनका भक्त समस्त तीर्थ आदि को त्याग कर उन सुन्दर ऐसे अनुरागी रसिक के लिए ही वे वैकुण्ठ को छोड़कर इस पर अपनी प्यारी आह्लादिनी के साथ नित्य नई रीति से वि रसिक भी निरंतर श्यामसुन्दर में आसक्त रहकर गोपिकाओं मे श्रीराधा की प्रीतिपूर्वक उपासना करते हुए उनकी कृपा चेष्टा करते हैं। वे ऐसी कृपा चाहते हैं, जिससे उनके हृदय मूर्ति जमकर बैठ जाय। राधा के कटाक्षों का माधुर्य तथा का लालित्य रसिकों के हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर दे— है, यथा—

ऐसी कृपा किन करहु किशोरी।
उर में गड़ै मनोहर मूरति मद हास मुख प
हियरा मैन बान सौं बेधहु हँसि-हँसि भौंह मर
पायल कर झटकावहु प्यारी झूमत निधुवन
जियरा टूक-टूक ह्वै जावै इतनी माँगत भा

'जियरा टूक-टूक ह्वै जावें' कितनी टीस है र आकुलता है हृदय में। यह सत्य है कि जिसने भी इस र उसे रसिकों के सत्संग के सिवा अन्य कुछ भी नहीं सूझता। हृदय में गुरु-चरण-कमल का स्मरण कर सहचरी के रूप

युगल-विहार देखने की कामना करता है और श्रीराधिका की प्रार्थना करते हुए उनसे उनकी कृपा की भीख माँगता है। नवल निकुंज की शोभा को देखने की लालसा तथा प्रिया प्रियतम के युगल छवि-दर्शन की अभिलाषा उसे वृन्दावन में बसा देती है और तब वह प्राणनाथ के सिवा और किसी की छाया तक को भी नहीं देखता। बरसाने वाली के साथ श्रीकृष्ण की वह विलसन उस साधक के हृदय में माधुर्य का रस-सागर आप्लावित कर देती है और वह कहने लगता है—

शोभा नवल निकुंज की, अवलोकन उर आस।
केलि युगल सखि छकि रहूँ, करि वृन्दावन वास।।
करि वृन्दावन वास, रास रस अधिक सुहावे।।
प्राणनाथ छवि छाँड़ि और पर छाँह न भावे।।
विलसन सो सुख लसित, बहुत ही मन भव लोभा।
हीयहित चित्त बसौ सदा निशदिन यह शोभा।।

—हीरा सखी कृत अनुभवरस पृ० १७८

जिसके चित्त में निशिदिन कुंजविहार की शोभा बसी रहती है वह निस्संदेह अपना सर्वस्व उस पर न्यौछावर कर देता है। शृंगार के वे मूर्तिमान रूप युगल उसके हृदय से तब हटाये नहीं हटते और परस्पर केलि से रस-धार प्रवाहित कर अपने रसिक भक्त को उस माधुर्य का पान कराते हैं, जो सखियों के यूथ में रासेश्वरी के साथ प्रकट होता है। उसका अनुभव करते हुए जय-ध्वनि के साथ गोविन्द रसिक जन कहते हैं —

श्री जै-जै सर्वेश्वर शरण सखी सदा।
रिझवति श्यामा श्याम अंग-अंग सर्वदा।
निरखति नित्य बिहार रास रस कुंज में।
रंगदेवी के वंश विदित सखि पुंज में।
सखि पुंज में दिन बिन्ति बाहिर भक्त हित नर वपु धर्यो।
निज सदाचार कर्मादि सत्संग इत्यादि सब क्रम कर्यो।
धरि जुगल तन सेवत जुगल हरिप्रिया के परिकर मुदा।
जै-जै श्री सर्वेश्वर शरण सखी सदा।

—श्री सर्वेश्वर (मा० प०) वर्ष ७, अंक २ पृ० ९
(श्री व्रजवल्लभ शरण वेदान्ताचार्य के लेख से)

साधकों का यह विश्वास अटल है कि परब्रह्म और उसकी शक्ति ने कृष्ण-राधा के रूप में रसिक भक्तों का सुख प्रदान करने के हेतु ही इस लीला

के रसमय आनंद का विस्तार किया है। इसीलिए वे राधा-कृष्ण को सर्वस्व त्याग कर ढूंढते हैं और उस रूप का ध्यान करते हैं, जिसकी विषयी जन तो कल्पना भी नहीं कर सकते। राधा कृष्ण का वह दिव्य रूप ज्योतिस्वरूप है। परम सौन्दर्यमय होकर वही दिव्य वृन्दावन में राधा-कृष्ण के रूप में चमत्कृत होता है—

सखी कोई एक ज्योति दो रूप।
बाईं ओर प्रिया छवि सोहति चम्पक कनक निरूप।
दाहिन छटा छैल अलबेलो सुन्दर स्याम स्वरूप।
दोऊ रसिक रसिक-जन-वल्लभ रसनिधि रसमय यूप।
अकथनीय रस मारग वर्शक रसिक गम्य रस भूप।
यह रस लगे रसिक के मासत त्रिविध ताप भव-कूप।
"दुर्गा" यह रस विषयि अगोचर सेवत करत अनूप।

—निम्बार्क माधुरी पृ० ६८६

इस प्रकार राधा माधव को नित्यता को सिद्ध करते हुये माधुर्योपासकों ने इस युग में भी अपनी परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखने का पूरा एवं सफल प्रयत्न किया है। उनकी धारणा है कि बिना भगवान की कृपा और गुरु के आशीर्वाद के साधक साधना का यह दुर्गम पथ पार नहीं कर पाता क्योंकि गुरु-कृपा से ही वृन्दावन-बिहारी तथा बिहारिणी में स्नेह होता है और चित्त उज्ज्वल होकर अनन्य भाव से उनके कुंज बिहार की छवि को देखता है यथा—

श्री हरिदास चरण रज बंदौं सहित सनेह।
जा बस नित्य बिहार को बाढ़त रंग अछेह।
जेहि निकुंज मन्दिर मँह युगल किशोर बिहार।
तेंहि चौखट को आश्रय "अलि मरहरि" नित उर धार।
कनक जटित मनिमय सदा सदानंद मय नित्य।
यह निकुंज मम सों लखौ जाकौ उज्ज्वल चित्त।

यह छवि उसके नेत्र-मन्दिर में ऐसी समा जाती है कि फिर उसे कुछ और नहीं सुहाता। युगल पदों का ध्यान और राधे राधे नाम यही उसकी दिनचर्या हो जाती है। ब्रह्मलोक तथा वैकुंठ से फिर उसे किसी प्रकार का सरोकार नहीं रहता और वह राधा-माधव युगल के नित्य बिहार का निरंतर रसास्वाद करता हुआ वहीं गाता रहता है—

श्री वृषभानुनन्दिनी के संग श्री ब्रजराज कुमार ।
विहरत सुभग सहेलिन लीन्हें सजि सुन्दर सिंगार ।
पीत वसन भूषण तन धारे सोभा सहज अपार ।
जेहि लखि चंद मंद मन लाजत कोटिन रति अरु मार ।
कुसुमित वल्ल लता लपटानी मुदित मधुप झंकार ।
धीर समीर तीर यमुना के सुमन सुगन्ध पसार ।
फूले फले फूल डारन मदनायुध सुखसार ।
किंसुक कुन्द कंज गुल गेंदा रयों गुलाब कचनार ।
करि पंचम सुर मोर क्वैलिया पढ़ो श्याम की ढार ।
बाजत बीन, मृदंग, झांझ डफ, बेनु, सरोद, सितार ।
गावत बाम काम मदमाती रह्यो न अंग सम्हार ।
विलसि बसंत कंथ संग सुन्दरि दीन सुमन मनहार ।
सुभग गात भेंटे पिय प्यारे विहँसि गरे भुज डार ।
जुग जुग जीवहु "रसिक किशोरी" जीवन प्राण अधार ।

—गो० किशोरीलाल जी

निम्बार्क माधुरी पृ० ७०५

तीसरा अध्याय

हिन्दी में कृष्ण भक्तों की माधुर्य उपासना का स्वरूप

भक्तों का रूप-माधुर्य

रूप ही कुछ अनिर्वचनीय होकर शरीर के माधुर्य की संज्ञा प्राप्त करता है।[1] जिस परम पुरुष रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भू लोक के उपकारार्थ अपनी योगमाया रूपिणी शक्ति का प्रकाश करते हुए तथा स्वयं को भी आश्चर्यान्वित करते हुए परम सौन्दर्ययुक्त एवं भूषण को भी भूषित करने वाले शरीर को ग्रहण किया था उसी में उनका रूप-माधुर्य है। वे अमृतमय सौन्दर्य के लावण्य-माधुर्य का भाण्डार हैं। इन्द्र नील मणि या नील कमल की जो कांति है, उससे वे आवृत हैं। पीताम्बरधारी विविध प्रकार की वनमालाओं से युक्त तथा विभिन्न प्रकार के रत्नों से मण्डित अंग वाले कृष्ण केशि के शामर हैं। उनके लम्बे-लम्बे कुंचित केश विविध गंधों से परिपूर्ण हैं और उनकी चूड़ा की सुन्दरता पुष्प-मालाओं के सौन्दर्य को तिरस्कृत करती है। उनके मस्तक पर तिलक तथा अलकावली की छटा से सौन्दर्य मूर्तिमान हो रहा है। वे लीला से अपनी उन्नत भ्रूभंगिमा के द्वारा कामिनीगणों के हृदय को मोहित करने वाले हैं।[2] उनके दोनों नेत्र घूर्णायमान तथा रक्तनील उत्पल की कांति के तुल्य हैं। गरुड़ चंचु के सदृश एवं कान्तिमान सौन्दर्यमयी नासिका से वे युक्त हैं। उनका कर्ण युगल मणि-कुण्डलों से उनका कमल-मुख कोटि चंद्रमा की कांति से और उनका कंठ विभिन्न प्रकार की मालाओं से निरंतर सुशोभित होता रहता है। त्रिभंगी से ललित, त्रैलोक्य मोहन स्निग्ध ग्रीवा तथा लावण्यों से रमणी

---

१ रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते ॥१४॥

—उज्ज्वलनीलमणि पृ० २७१

२ भ्रू भंगललाट वाटीरचितालकशोभितः,
लीलोन्नत भ्रूविलास-कामिनी चित्तमोहन ॥ ॥

—रूपगोस्वामी कृत राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका के परिशिष्ट से

उद्धृत (पंचरात्रपंचकम् पृष्ठ ४१)

मन के रमण में उत्सुक उनका वक्षःस्थल है ।[1] उनका कम्बु-लावण्य ग्रीवा से युक्त है । रमणियों के केलि में लालस, सुधा से भी सुन्दर उनका पृष्ठ तथा पार्श्व देश है । कन्दर्प-मोहन में उत्सुक, सुधाम पद्मनाभ की तरह कटिबिम्ब है । मनोहर रम्भा की भाँति उरु युगल है परम मधुर मरमोज्ज्वल सुन्दर लावण्य मय दोनों जंघाएँ हैं । रत्न-नूपुरों से विभूषित नाना रत्नों से सुशोभित कमल पुष्पों की तरह कांति वाले महा सुमधुर युग चरण-कमल हैं । वे युगचरण चक्र, अर्द्धचन्द्र, त्रिकोण, यव अम्बर, छत्र कलश शंख, गोष्पद, स्वस्तिक अंकुश, कमल, धनुष आसन चिह्नों से शोभायमान हैं । अंगुलियाँ अरुण कान्ति के तुल्य तथा नख-चन्द्रों से युक्त हैं । ये चरण युगल ही प्रेम-माधुर्य सुख के सागर हैं । इस विवरण से स्पष्ट है कि भगवान के सभी अवतारों से कृष्ण रूप में विशेष माधुर्य दृष्टिगोचर होता है । उनकी सभी चेष्टायें ललित हैं, इसलिये उन्हें ललित त्रिभंगी कहा गया है । क्योंकि—

श्रृंगार प्रचुरा चेष्टा-यत्र तं ललित विदुः ।।९८।।

—भक्ति० र० सि

पुष्प की भाँति भगवान का यह रूप माधुर्य विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार खिलता रहता है । अन्तर केवल इतना है कि यह माधुर्य शाश्वत है और पुष्प का अस्थायी । कौमार पौगंड तथा कैशोर भेद से अवस्था तीन प्रकार की होती है—पाँच वर्ष पर्यन्त कौमार दस वर्ष पर्यन्त पौगंड तथा सोलह वर्ष पर्यन्त कैशोर, तत्पश्चात् यौवनावस्था का प्रादुर्भाव होता है । वत्सल रस में कौमार अवस्था उचित है और भिन्न-भिन्न वेशादिकों के संबन्ध होने से प्रेयस में पौगण्ड अवस्था उचित है किन्तु वय में कैशोर ही श्रेष्ठ तथा उज्ज्वल है । प्रायः कैशोर में समस्त रसों के औचित्य का समावेश हो जाता है । रसिक-शिरोमणि कृष्ण के रूप-सौन्दर्य को प्रकाशित करने में उपर्युक्त अवस्थाओं की अपनी-अपनी विशेषता है किन्तु कैशोर में माधुर्य मूर्तिमान

---

१ कण्ठेन मुक्तावल्यो मुक्तामाला-विभूषित ।
त्रिभंगी ललितस्निग्ध ग्रीवस्त्रैलोक्य मोहन ।।९।।
वक्षस्थलं च लावण्ये रमणीरमणोत्सुकम् ।
मणि कौस्तुभविद्युद्भा मुक्ताहार विभूषितम् ।।१०।।

—पंचरात्रसंग्रहम् पृष्ठ ५०

होता है। इस कैशोर वय के तीन भेद "भक्ति रसामृत सिन्धु" में माने गये हैं, यथा—

आद्यं मध्यं तथा शेषं कैशोरं त्रिविधं भवेत् ॥

भ० र० सिन्धु

—दक्षिण विभाग विभाव लहरी

जिस वय में अंगों में अपूर्व उज्ज्वलता, नेत्रों में लालिमा तथा रोमावली का प्राकट्य दृष्टिगोचर हो उसे आदिकैशोर कहते हैं। इस कैशोर के रूप माधुर्य को वैजयन्ती माला, मयूर पत्रादि, उत्तम नटवर वेश, वंशी का माधुर्य तथा वस्त्रों की शोभा आदि साधन पुष्ट करते हैं। नख के अग्रभाग में तीक्ष्णता, धनुषाकार भ्रू तथा दाँतों में राग आदि इस अवस्था में रूप माधुर्य के लक्षण हैं।

जिस वय में दोनों जंघायें, दोनों बाहुओं तथा वक्षस्थल की अपूर्व शोभा हो जाती है तथा आकृति में भी माधुर्य आ जाता है उसे मध्यकैशोर कहते हैं। स्मित से परिपूर्ण मुख विलास से युक्त चंचल कटाक्ष आदि सुन्दर चेष्टाओं के माधुर्य का प्राकट्य इस वय रूप के लक्षण हैं।

जिस अवस्था में अंग प्रत्यंग पूर्ण उत्कर्षता को प्राप्त हो जाते हैं तथा त्रिवली का प्राकट्य भी हो जाता है उसे शेषकैशोर कहते हैं। विद्वानों की दृष्टि में हरि की यही नवीन यौवनावस्था है। इसी अवस्था में गोकुल देवियों के प्रेम सम्बन्धी समस्त भाव प्रकट हुए थे साथ ही प्रेम-वशीभूत अनेक मधुरस भोगोपभोगादि भी इसी अवस्था में गोपियों द्वारा किये गये थे। श्री-कृष्ण की अंग-कान्ति के चमत्कार से अलंकार भी भूषित हो जाते हैं और उनके शरीर में सौन्दर्य मूर्तिमान हो उठता है। विद्वानों की धारणा है—

भवत्सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम् ।

विभूषणं विभूष्यस्यायेन तद्रूपमुच्यते ॥ १३४ ॥

—दक्षिण विभाग, विभाव लहरी

श्रीकृष्ण के रूप में सब कुछ माधुर्य से परिपूर्ण है—उनका कलाप वय मधुर है किशोर अवस्था मधुर है क्रीड़ायें मधुर हैं एकादश इन्द्रियों की क्रियायें भी मधुर हैं, यथा दृगम्भंगी, भ्रूभंगी, वचनभंगी सब कुछ मधुर है। इसके अतिरिक्त उनकी देह मधुर है मन मधुर है भूषण मधुर है, वंशी

मधुर है, वस्त्र-पीताम्बर तथा कटि काछिनी भी मधुर है। इतना ही नहीं वंशी की ध्वनि चरण की रज, मुख का उच्छिष्ट ताम्बूल का पवन, मोर का पंख गुंजा की माला तथा वनमाला आदि सब माधुर्यमय है।[1]

भगवान श्रीकृष्ण का अवतार मधुरतमोत्तम तथा परिपूर्णतमोत्तम है क्योंकि कृष्ण निराकार से साकार रूप में मधुर तथा पूर्ण हैं। साकार से लीलावतार के रूप में मधुरतर तथा पूर्णतर हैं।

गोपाल सखा के रूप में मधुरतम तथा पूर्णतम हरि हैं और गोपीजन वल्लभ से रसिक-शिरोमणि के रूप में मधुरतमोत्तम तथा परिपूर्णतमोत्तम हैं तथ भगवान हैं। तीनों लोक में जितने भी मधुराकृतवान रूपवान गुणवान तथा सौन्दर्यवान हैं उनके मस्तक पर विराजमान होकर के ही इस कृष्ण का राज्याभिषेक हुआ है। अस्तु यह 'मधुरिमसाम्राज्यम्' का सम्राट है। सारांश यह कि इस भुवन-मोहन ललित-ललाम श्यामघन के अतिरिक्त कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें माधुर्य का पूर्ण परिपाक और सौन्दर्य की पराकाष्ठा हो। यही कारण है कि कृष्ण भक्तों ने ऐसे श्याम वर्ण किशोर श्रीकृष्ण की उपासना की है जो कालिन्दी के पुलिन पर रास विलास करते हुये अपनी तिरछी चितवन से सबको वशीभूत करता है।

यदि कृष्ण के नख-सौन्दर्य की मधुरिमा पर किंचित दृष्टिपात करें तो उनके नेत्र कमल शोभा के कारण विलास रस के कारण शीतल मद के कारण अरुण, मध्य में नील तारकायुक्त तथा अरुणयुत विलासमय प्रतीत होते हैं। अपने प्रियतम रसिक-शिरोमणि के रूप माधुर्य का वर्णन करते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है— श्री मधुराधिपति का सभी कुछ मधुर है उनके अधर, हृदय मुख, नेत्र, हास्य गति वचन चरित वस्त्र अंगभंगी चाल भ्रमण

---

१ श्याम धोर्मवपुस्य पस्यमपदारुभोरमाव्यद्भुतं ।
क्रीडायस्य मधूनि यस्य च मधून्येकारताशिनिपा: ।
माधवोयस्य विनोदनाङ्ग बचसां मद्गो मदीय मधु,
रूप मन्दाय भूयसादि च मधु व्यामोहयेद्वर्क न त ॥
— कृष्णकर्णामृत की रसिकरोधिनी टीका, पृष्ठ ७१

वेणु, चरण रज, कर-कमल, चरण, नृत्य, सख्य, खान पान, भोजन, शयन, रूप, तिलक कार्य, तैरना हरण रमण, उद्गार, शांति, गुंजा, माला यमुना, उसकी तरंगें, उसका जल कमल, गोपियाँ, उनकी लीला, उनका संयोग, वियोग, निरीक्षण, शिष्टाचार, गोप गायें, लकुटी रचना चलन, और उसका फल, अति मधुर है।[1] अभिप्राय यह है कि वे मधुरिम स्वराज्य के सम्राट हैं। जो इतना सौन्दर्य-माधुर्य से परिपूर्ण हो, उसका सान्निध्य कौन न प्राप्त करना चाहेगा ? यहीं पर रसिक भक्त अपने भगवान के लिए कहने लगता है कि 'विभो ! कब मैं आपके काले घुँघराले स्निग्ध घने केशों को समेट कर उनका जूड़ा बना कर उसके हेतु मयूर पुच्छ तथा सुमन-गुच्छ का शिरोभूषण बनाऊँगा। अपने सौन्दर्य सुधानिधि विभु के मुख पद्म के सुगन्ध के लोभ से तथा केश स्थित कुसुम के लोभ से आ आकर उनके मुख पर पड़ने वाले भ्रमर-कुल को मैं कब निवारण करूँगा ? ये भ्रमर तो बड़े नटखट है, मेरे मुख पर ही गिरे

---

1 अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ १ ॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितम् मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ २ ॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुर पादौ मधुरौ ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ३ ॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम् ।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ४ ॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं रमणं मधुरम् ।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ५ ॥
गुंजा मधुरा मालामधुरा यमुनामधुरा वीचीमधुरा ।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ६ ॥
गोपी मधुरा लीलामधुरा युक्तं मधुरं मुक्तंमधुरम् ।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ७ ॥
गोपीमधुरा गावोमधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा ।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ८ ॥
—आचार्य वल्लभ कृत मधुराष्टक,
बृहत्स्तोत्ररत्नाकर, पृ० ६१

रहते हैं कमल पर क्यों नहीं जाते उनको उड़ाने के लिए—ऐसे जो चपल बिधु श्रीकृष्ण कहेंगे—उनको कब मैं इन कानों से सुनूँगा ? आनंद रस-सरोवर की तरंग-मालाओं से तरंगित लीलायत विलास लोचन युगल के कब दर्शन करूँगा ? बिधु के नयन भी तो बिधु ही होंगे ? मधुरस अधर को वंशी वादन करते हुये कब निहारूँगा अथवा उस माधुर्यमय वदन के दर्शन कब करूँगा ?[1] एक वह वदन ही तो नयन माधुरी, अधर माधुरी, अलक माधुरी, वचन माधुरी तथा समस्त माधुरी का अंकुरित आगार है। मेरे भाग्य में कब उसके दर्शन होंगे ? और बिधु के चपल चरित, अनन्त अपार मधुररससार का मौलिकचित रूप अनुभव कर सकूँगा ? इस प्रकार के अनुभव या आनन्द को ही तो परमरसानंद कहते हैं। इसी को पाने के लिए साधक उस गौर श्याम युगल को अपने हृदय में धारण करता है जिनके अंग प्रत्यंग प्रतिक्षण उमंग से परिपूर्ण रहते हैं, जो एक दूसरे के रूप का पान करते हुए नहीं अघाते, जिनका अंग प्रत्यंग एक दूसरे के अंग में प्रतिबिम्बित होकर उनके लावण्य को बढ़ाता है और जो एक दूसरे के चन्द्र-मुख को चकोर की भाँति एकटक देखते रहते हैं।[2] जिस प्रकार इनके रूप की छवि अपार है उसी प्रकार उससे मिलने वाला परम मधुर रस भी। राधा-माधव की अद्भुत

---

१ चिकुरं बहुलं विरलं भ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम्।
अधरं मधुरं वदनं मधुरं चपलं चरितं च कदानु विभोः।
—कृष्णकर्णामृत रसिकरोचिनी टीका पृ० १८९

२ गौर-स्याम अभिराम बिराजैं।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग मुकुर मुकुर निरखत नहिं त्यागैं।
तन सौं तन बाहु ग्रीवा मिलि प्रतिबिम्बित तन उपमा लाजैं।
नैन चकोर बिलोकि बदन ससि आनंद सिंधु मगन भए भ्राजैं।
नील निचोल पीत पट के तट मोहन मुकुट मनोहर राजैं।
महा प्रेम आनंदरस बोरत दोउ तन एक रस छबि छाजैं।
माधव सहित मिलत अति प्यारी मोहन मुख मुरली सुर बाजैं।
श्रीभट अटकि परे बंधनि दृग मूरति मनहु एक ही साजैं।
—युगल शतक पृ० ४९, सहजसुख

जोड़ी नित्य इसी रस में तन्मय रहती हुई, साधकों के हेतु नित्य विहार करती है। इनके नख शिख सौन्दर्य को रसिक अपने हृदय में धारण कर प्रेम की हिलोरें लेते हैं। अपने युगल इष्टदेव के श्रीमुख को देखने की निरंतर अभिलाषा उनके हृदय में विद्यमान रहती है। उनके नैन भले ही थक जायँ किन्तु नैन नहीं थकते—मन " नहीं भरता। दोनों युगल दोनों के प्राण जीवन और सम्पत्ति हैं। वे दोनों एक ही रंग में सराबोर हो रसिकों के समक्ष अपनी दिव्य केलि करते हैं।[1] मदनमोहन की मधुर मुस्कान, अनियारी पलकें और कटीली भौंहों की शोभा को देख कर नैन चकित हो जाते हैं और जब राधा प्यारी उनके अंक में विराजती हैं तब तो रसिक आनंद विभोर होकर अपने को भूल ही जाते हैं।[2] सदा उन भक्तों की यह कामना रहती है कि यह सौन्दर्य निरंतर सामने बना रहे और वे उसके रस का पान छिक कर ही कर लें, क्योंकि यह छवि ही रसिकों का एक मात्र विश्वास है कि उनका प्राण है। इसी रूप माधुर्य का पान करने के लिए सखियाँ परस्पर एक दूसरे को उत्साहित करती हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण का हास उनके श्यामल अंग का लावण्य, उनका नख-शिख शृंगार, सुरंगपाग कुटिल अलक, कुंडल-मंडित कपोल दंत मुक्ताओं की कांति सुन्दर पीताम्बर वक्षस्थल पर विराजमान मंदार की माला और गजराज के समान उनकी गति प्रत्येक को मोहित कर लेती है। यथा—

---

१ बदन विलोकन में न अघात।
नैन न थके नग रहे चकित ह्वै अचगरि चल्यो न जात।
दोउ दोउन के प्राण जीवनधन छिन बिछुरे न सुहात।
एक रस रंगि रहे रंगीले एक प्राण द्वै गात।
महासुकुमार किसोर किसोरी गोरी अति अवदात।
निरखत श्रीहरिप्रिया सहचरी आनंद उर न समात ॥२३॥

—हरिव्यासदेवाचार्य महावाणी, पृष्ठ ९० सेवासुख

२ आज छवि छकी है री मदनमोहन की।
मंद मंद मुसकनि माधुरी तैसी चितवनि रस बोहन की।
देखत ही सुख रहत चकित ह्वै शोभा कटीली भौंहन की।
श्रीहरिप्रिया अनन्य अलि लखि अलि निरखत सोहन की ॥६०॥

—हरिव्यासदेवाचार्य-महावाणी-सेवासुख पृ० ४४

स्याम की रूप माधुरी नैननि निरखि नेकु सखी ।
मनसिज मन हरन हास साँवरो सुकुमार राशि
नख सिख अंग अंगनि उमगि सौभग सींव नखी ।
रंगमगी सुरंग पाग लटकि रही वाम भाग,
चंपकली कुटिल अलक बीच-बीच रखी ।
आयत दृग अरुण लोल, कुंडल मंडित कपोल,
अधर दसन दीपति की छबि क्यों हू न जात लखी ।
अभयद भुज दण्ड मूल पीन अंसानुकूल,
कनक निकष लसि दुकूल दामिनी धरखी ।
उर पर मंदार हार, मुक्ता लर वर सुढार,
मत्त दुरद गति, तियन की देह दशा करखी ॥ २२ ॥

— हितहरिवंश गोस्वामी

श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी तो गोपियों के चित्त को विचलित कर देती है किन्तु राधा की माधुरी की तो बात ही क्या है ? वह तो स्वयं श्रीकृष्ण को अपने वश में निरंतर किये रहती है । माधव राधाप्यारी के प्रत्येक संकेत को पहले ही से समझ कर उसी के अनुसार वर्तते हैं । नेत्रों से देखते ही वे राधा के वशीभूत हो कर अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित कर देते हैं । राधिका का भ्रू विलास और मनोहर हास उनके सौन्दर्य का निरंतर परिवर्धन करता रहता है । कृष्ण इसी रूप के रसिक हैं । बड़ी करामात है इन नेत्रों में, संकेत से ही कृष्ण के हृदय में काम जागृत हो जाता है और फिर वे राधा के कमल मुख के भ्रमर बन जाते हैं । उनका शरीर राधा के शरीर से, मन राधा के मन से और हृदय राधा के हृदय से उलझ जाता है । वृन्दावन में विद्यमान रहने वाली राधारूपी कनक बेलि पर खिलने वाले उरोजरूपी फूल रसिकों को जो आनन्द देते हैं वह कामी पुरुषों के लिए यथार्थ में स्वप्न ही है । चन्द्रमा के समान अपनी कांति को विस्तीर्ण करने वाला श्रीराधा जी का उज्ज्वल मुख चन्द्र के कुमुदिनी रूप रसिकों को निरंतर प्रमुदित करता रहता है । उनकी अलकों की झलक तथा दाँतों की चमक ने चन्द्र मुख की किरणों का काम किया है और पयकोप के श्रमकण रूपी अमृत बिन्दुओं ने कृष्ण की रसना को चकोरी बना दिया है इसीलिये कृष्ण राधा के अधरामृत की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते । यथा—

गौर मुख चन्द्रमा की भाँति ।
सदा उदित वृन्दावन प्रमुदित कुमुदिनि-मन्मथ जाति ।
नील निचोल गगन में सोभित, हार तारिका-पाँति ।
झलमलति अलक, दसन-दुति दमकति मनहुँ किरनि-कुल-काँति ।
मंद-हास पर श्रम-जल आमजु अमरनि सुधा चुचाति ।
मोहन की रसना जु चकोरी पीवत रस न अघाति ।
हास प्रभाकुल सरद सुहाई, मन छवि बादिनि राति ।
नैन कुरंगनि, कटि सिंघनि डर उन पर अति अनखाति ।
माह निकट, नहिं राहु बिरह डर, पट आभा न समाति ।
देखत पाप न रहति 'व्यास' तन बाढ़ति ताप बुझाति ॥२९८॥

—भक्तकवि व्यास शृंगार रस बिहार पृष्ठ २८१

जितने सुन्दर गात राधा के हैं, कृष्ण के उससे कम नहीं। कवियों के कुल दोनों के अंगों की उपमा के लिए अनुमान्य हैं। किन्तु समस्त कोमल अंगों के नायक—राधा के कुच—कठोर हैं। रसिकों की इस भावना को तनिक देखिए। यथा—

सब अंगनि पै है कुच नाइक ।
जिन पर पहिलें दृष्टि परत ही, कृपा होत मन भाइक ।
मन को दुख न रहत मुख देखत ताप नसावत ठाइक ।
पीर, व्याधि मेटत देखत ही कर परसत सुख दाइक ।
दाऊ सूर बीर रति रन में टरत न सनमुख धाइक ।
मेरी उर बेधत तो कारन सहत नजर नख-घाइक ।
घूँघट पट, अंचल, चोलीबंद, ये सब मेरे घाइक ।
'व्यास' स्वामिनी प्रेम-नेम तें, हौ कछूक तौ लाइक ॥२१२॥

—भक्तकवि व्यास, शृंगार रस बिहार पृ० २८३

राधा के कुच, उनका घूँघट पट अंचल तथा चोलीबंद आदि सब कुछ रसिक भक्तों के हृदय को भाव-विभोर कर देते हैं और वे राधा जैसी स्वामिनी पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं। निकुंज में नित्य केलि करते श्याम राधा कृष्ण युगल के सिवाय मानो जगत कुछ नहीं जानता है। राधा की अलबेली चितवन, मुस्कान और वचन उनके मन में समा जाती है। रूप की राशि ऐसी राधा के साथ विहार करता था। [illegible] के समस्त अंग सुकुमार

साधकों के नेत्रों में और हृदय में निरंतर विराजें—यही उनकी कामना रहती है। रूप के इस सिंधु में पड़ कर जब स्वयं कृष्ण ही न निकल पायें तो रसिकों की बात ही क्या है? इन्हीं कृष्ण के रूप रस का पान करने के लिए किसी गोपी कथन के माध्यम से सूर कहते हैं—

सखि मोहि हरि दरस रस प्याइ।
हौं रँगी अब स्याम मूरति लाख लोग रिसाइ।
स्याम सुन्दर मदन मोहन, रंग रूप सुभाइ।
सूर स्वामी प्रीति कारन सीस रहौ कि जाइ ॥४८॥

—मधुरा पदावली (गीता प्रेस) पृ० १९

इन्हीं कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने की दृष्टि से किसी गोपी के कथन को माध्यम बनाकर रसखान जो भाव व्यक्त करते हैं, उन्हें देखिये—

नवरंग अनंग भरी छवि सों वह मूरति आँखि गड़ी ही रहै।
बतिया मन की मन ही में रहै, घतिया उर बीच अड़ी ही रहै।
तबहूँ रसखानि सुजान अली नलिनी दल बूँद पड़ी ही रहै।
जिय की नहिं जानत हौं सजनी रजनी अँसुवान लड़ी
ही रहै ॥१२७

—रसखानि, पृ ४१

जिस समय फूलों के महल में विराजमान राधा-माधव रसरंग की वार्ता करते हैं, सुरत से उनके वक्षःस्थल की माला विगलित हो जाती है और वे श्रमित हो जाते हैं, तभी वे दोनों ललिता से पूछते हैं कि हम दोनों में कौन अधिक सुन्दर है? बात यथार्थ में यह है कि कवि स्वयं नहीं कह पाता कि राधा-माधव में कौन अधिक सुन्दर है, परमानन्द दास का यह पद इस भाव को स्पष्ट करता है—

बात कहत रस रंग उल्लसिता।
फुलन के महल बिराजत दोऊ मेर सुगंध निकट सहुँ ललिता।
मुख मिलाय हँसि देखत दरपन सुरत श्रमित उरमाल बिगलिता।
परमानंद प्रभु प्रेम बिबस हम दोउन में सुन्दर को कहि
ललिता ॥७७४॥

—परमानन्द सागर

कुच के समान कोमल एवं माधुर्यमय शरीर वाले राधा-कृष्ण युगल एक दूसरे पर इस प्रकार प्रेम की वर्षा करते हुये निरंतर सखीजनों को मधुर रस का पान कराते हैं। इसी शोभा को देखकर भक्त सर्वदा युगल मूर्ति पर अपने आपको ही नहीं परन् सौन्दर्य के देवता कामदेव तथा रति देवी तक को न्यौछावर कर देता है। दोनों को एक दूसरे का अधरामृत पान करते हुये देख कर रसिक अपने भाग्य को सराहता है और अपने इष्टदेव को कोटिश प्रणाम् देने लगता है। समस्त प्रकार के भूषणों से भूषित राधा-माधव जब कुंज से बाहर आते हैं, तो बिजली के समान प्रतीत होते हैं। उनका मल-मिल परस्पर साथ रहने से द्विगुणित हो जाता है और वे रसमत्त होकर विहार करते हैं। यद्यपि उनके अंग शिथिल हो जाते हैं किन्तु हृदय की उमंग प्रतिक्षण नवीन ही बनी रहती है। रूप के सागर—दोनों जब परस्पर मिलते हैं तब सौन्दर्य-माधुर्य की अगणित तरंगें उठने लगती हैं और साधक आनन्द विभोर हो जाता है।

राधा जी के नैन तो श्यामसुन्दर के रूप की वारुणी पीकर मतवाले हो जाते हैं। उन नेत्रों की इस मस्ती को देखकर स्वयं मोहन (जो दूसरों को मोहित करते हैं) मोहित हो जाते हैं और राधा के अधरामृत पान कर अमृतमय हो जाते हैं। राधा भी प्रियतम के इस अधरामृत की पान के अभिप्राय को जान कर सोलहो शृंगार से युक्त हो रसमत्त होकर प्रेम के साथ उनके पास विराजती हैं। सेवक या रसिक भक्त के लिये यही अवसर स्वर्णमय होता है। जब ललिता, विशाखा आदि आनन्द-मत्त युगल के पंखा तथा चँवर आदि करती हैं, उसी समय वह इनाम देने के ब्याज से वहाँ पहुँचने की सिद्ध भावना करने लगता है और उस छवि को देख कर मुग्ध हो जाता है।[1]

---

१ सोरह सिंगार सजि गोरी हित-जोरी राधा,
　　　　प्रीतम के पास बैठी महारसरंग मैं।
ललिता बिसाखा सखी बीजना चँवर लिय
　　　　ल्यावी और पयपीक मुंजन उमंग मैं।
ताही समै ब्रजनिधि अवसर मैं तर करि
　　　　बीड़ कर प्यारी के लगाये अंग-अंग मैं।
लालित्य राकोरम मैं मैनन को कोरम मैं
　　　　नाचि पचि रहे दोनो मोहन उमंग मैं ॥१५४॥
　　　　　　—ब्रजनिधि ग्र० युग शृंगार पृष्ठ १११

इस छवि की छटा कभी कभी थोड़े से शृंगार में भी फब जाती है। कंचुकी हो या न हो कर में कंकन हो या न हो राधा के सौन्दर्य में कमी नहीं आती। उनके केशपाश तो गुँथकर उनकी शोभा को और बढ़ा ही देते हैं और मन के मोहने वाले श्याम इसी पर रीझ जाते हैं। गोपी पद-पंकज की पावन रज के प्राप्त किये बिना इस रूप-सुधा का पान करना नितांत असंभव है। अस्तु रसिक जन निरंतर ब्रज के लता-पत्र होने की कामना करते रहते हैं। वामांग में राधा तथा दक्षिणांग में चन्द्रावली के साथ माधव को देखकर रसिक इन्हें अपने हृदय में बसा लेता है। इनकी नासिका के मोती को देखकर शुक लज्जित हैं, दाँतों के समक्ष मोती तिरस्कृत हो जाते हैं और अधरों की लालिमा पान की लालिमा को मन्द कर देती है—ऐसे सौन्दर्य से युक्त जब वे धीरे से हँस देते हैं, तो फिर रसिक बच नहीं पाता और उन्हें हृदय में धारण कर ही लेता है। इनके रूप समुद्र में इनकी नाभि भ्रमर के समान जान पड़ती है और जब छवि की अगणित तरंगों के मध्य वे रसिक तैरने लगते हैं जो नित्य निकुंज में इसी के दर्शन की अतृप्त लालसा करते हैं। यथा—

> रूप सिंधु नाभी भँवर, जल पीयूष उमंग।
> पैरत प्यारी लाल तब छवि की उठत तरंग ।। १२ ।।
> जब दंपति छवि लखन को मो नैनन उत्साह।
> होत विहारनि कृपा ते नित्य निकुंज निबाह ।। ४ ।।

—ललितकिशोरी ललितलाव माधुरी, वृन्दावनशतक से

भक्तों का केलि-माधुर्य

जो जिस माया से निरंतर मोहित रहता है वह यदि उस लीलाधारी की कृपा के बिना उसकी लीला केलि के रहस्य को समझने का प्रयास करे तो यह उसका दुःसाहस नहीं तो और क्या है? उसकी उस मायाविनी शक्ति के ही कारण ब्रह्मा आदिक देवताओं को भी भूमंडल पर अवतरित होना पड़ा था। ज्ञान ही जिनकी शक्ति है उन देवताओं में भी उस लीलाधारी पूर्णावतार कृष्ण की रहस्यात्मक क्रीड़ाओं को न समझ पाया था। भूमंडलान्त र्गत ब्रज की वह लीला-केलि का प्रचार की जाती रही है—

१—'वास्तवी' लीला-केलि,

२—'व्यावहारिकी' लीला केलि,

वास्तवी लीला केलि तत्वज्ञान के सहारे साधक के हृदय में ही अनुभूत होती है और व्यावहारिकी लीला-केलि प्रत्यक्ष होती है, इसे देख वही पाते हैं, जो वास्तवी लीला-केलि के मर्मज्ञ हैं। व्रज के मध्य विरक्त रूप से निरंतर-निवास करने वाले माधुर्योपासकों ने ही इसे देखा और प्रभु की कृपा से वैसा ही चित्रण करने का प्रयास भी किया। इसे समझने की क्षमता उसी व्यक्ति में है जो श्रद्धा से आपवर्गन्त स्थितियों को पार कर चुका है।

शैशवावस्था में चमकदार चट्टान पर अपनी प्रतिच्छाया को दृष्टिगत कर जिस प्रकार शिशु खेला करता है, ठीक वैसे ही व्रज की सुरम्य वनस्थली म अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण ने क्रीड़ा की थी। गोपियाँ भी उनकी आत्मा और वे थे आत्माराम (योगी)। उनकी यह पारस्परिक लीला केलि उनके पूर्णावतार होने का ज्वलंत प्रमाण है। गोपियों ने ही अपने दिव्य चक्षुओं द्वारा इस लीला केलि के दिव्य रस का आस्वादन किया था। दिव्य नेत्रों से ही इसकी झाँकी मिल सकती है और इन्द्रियों से अनुभूति। इस लीला केलि को माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण ने अपनी अवस्था के अनुसार व्रज में किया था और अपने अद्भुत चरित्र प्रियजनों को दिखलाये थे। भगवान के इन अपूर्व चरित्रों के भी दो भेद उज्ज्वलनीलमणि में बतलाये गये हैं।[1] यथा—अनुभाव और लीला। किन्तु देखने तथा मनन करने पर ज्ञात होता है कि चरित्र, लीला, क्रीड़ा तथा केलि आदि पर्यायवाची शब्द हैं।

पहले हम कृष्ण के रूप माधुर्य का वर्णन करते समय कौमार, पौगंड तथा कैशोर भेद से तीन प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन कर आये हैं। इन्हीं अवस्थाओं के अनुसार कृष्ण-लीला का चित्रण यथासंभव सभी

---

१ अनुभावास्तु लीला चेत्युच्यते चरितं द्विधा ॥ ४० ॥

अत्रोऽनुभावा अकथ्या लीलैव अधुनैऽच्युता ॥

उज्ज्वलनीलमणि, पृष्ठ २७४

माधुर्योपासक भक्त कवियों ने किया है। व्रज में कृष्ण की कौमार तथा पौगण्ड अवस्था का केलि चमत्कार देखने में आता है और पुर तथा गोष्ठ (व्रज) दोनों में कैशोरावस्था का।

कौमारावस्था शैशव की मधुर मुस्कान तथा चापल्य से युक्त होती है तथा कैशोरावस्था की भाँति आदि, मध्य तथा शेष भेद से तीन प्रकार की है।

आद्यकौमार में—

जंघा के मध्य स्थूलता, नेत्र प्रान्त में श्वेतिमा अतिशय कोमलता तथा किंचित दंतपंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। बार बार चलना, क्षण में हँसना तथा रोना अँगूठे का पान करना चित सोना आदि चेष्टाएँ इस वय में प्रमुख हैं। कंठ के मध्य बघनख पहिनना रक्षार्थ तिलक लगाना कज्जल लगाना, करधनी धारण करना तथा हाथ में सूत्र धारण करना ही इस वय के मण्डन हैं।

मध्यकौमार में—

आँखों पर अलकों का लटकना थोड़ी सी नग्नता, कर्णछेदन मधुर भाषण तथा थोड़ा-थोड़ा रेंगना दृष्टिगोचर होता है। नाक के अग्रभाग में मुक्ता धारण हाथ में नवनीत धारण कटि में किंकिणी धारणादि प्रसाधन इस वय में होते हैं।

शेषकौमार में—

कटि में थोड़ी सी क्षीणता, वक्षःस्थल में तनिक चौड़ापन तथा काक पक्ष से युक्त शिर होता है। इस वय में लंगोटी काछिनी वन्याभूषण तथा हाथ में लकुटी सुशोभित होती है। बछड़ों की रक्षा व्रजमण्डल में अपने साथियों के साथ खेलना छोटी सी वेणु शृंग तथा दल आदि का बजाना आदि लीलायें इस अवस्था में प्रमुखता रखती हैं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि कौमारावस्था की उपर्युक्त लीलायें तथा क्रियायें पाँच वर्ष पर्यन्त ही होती हैं।

कौमार अवस्था की भाँति ही पौगण्डावस्था के भी तीन भेद होते हैं यथा—आद्यपौगण्ड, मध्यपौगण्ड तथा शेषपौगण्ड।

ओष्ठ में लालिमा, उदर में सीधता तथा शंखाकार कंठ बाल्यपौगण्ड अवस्था के प्रतीक हैं। अनोखे पुष्पों के आभूषण तथा धातुओं के अलंकार एवं पीताम्बरादि इसमें प्रसाधन माने गये हैं। समस्त वन के मध्य में गाय समूह के साथ कृष्ण का विचरण, केलि मृगयादि क्रिया से युक्तलीलायें इस वय में देखी जाती हैं।

मध्यपौगण्ड में नासिका का सुन्दर एवं उन्नत नोकदार होना, कपोलों का मण्डलाकार हो जाना तथा पार्श्व का गोलाकार होकर झाँभियों से मुक्त हो जाना उत्तम होता है। इस वय में श्रीकृष्ण की नासिका तिल के पुष्प की कांति को हीन करती है, कपोल मणीतमणि एवं दर्पण के दर्प को पराजित करते हैं तथा पार्श्व अत्यंत चिकना हो जाता है। रेशम के सूत से निर्मित विद्युत की सी कांति वाले उष्णीष का धारण तथा अग्रभाग में स्वर्ण से मढ़ी हुई तीन हाथ लम्बी श्याम वर्ण की लकुटी इस अवस्था के विशेष प्रसाधन हैं। भाण्डीर वन में क्रीड़ा करना गोवर्धन पर्वत का उद्धार आदि लीलायें यहाँ प्रमुख रूप से कही गयी हैं। इस अवस्था में श्रीकृष्ण प्रकाशमान होकर सुशोभित होते हैं।

नितम्ब के नीचे तक वेणी का लटकना, लीलायुक्त अलकें तथा उन्नत स्कंध आदि अलाप शेषपौगण्ड के होते हैं। पगड़ी में वक्रता (टेढ़ी टोपी) हस्त में लाल कमल, मस्तक पर केशर का तिलक तथा बीच में कस्तूरी की बिन्दु आदि इस वय के मण्डन होते हैं। सखाओं से भंगिमा नर्मसखाओं के साथ कर्णकथा में आनन्द लेना बातों में गोकुल की बालाओं की शोभा की प्रशंसा आदि लीलायें कृष्ण की इस अवस्था में दृष्टिगोचर होती हैं। पौगण्डावस्था की उपयुक्त लीलायें दस वर्ष पर्यन्त ही कृष्ण के द्वारा की गई हैं।

कैशोर अवस्था का वर्णन रूप-माधुर्य लिखते समय किया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उक्त अवस्थाओं में हुई केलि या क्रीड़ा की प्रधानता का उल्लेख किया जायगा। आद्यकैशोर में अबीर गुलाल आदि से युक्त होली लीला प्रधान रूप से होती है। मध्यकैशोर में मीत-गायन कुंज-लीला तथा रास लीला आदि की प्रधानता है और शेषकैशोर में माधुर्यपूर्ण सभी लीलायें गोपियों के साथ श्रीकृष्ण करते हैं। सोलह वर्ष पर्यन्त ही कैशोर-केलि होती है।

बाल, पौगण्ड तथा कैशोर भेद से रसिकशिरोमणि कृष्ण की लीला तीन प्रकार की होती है। इसी का ऊपर सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया

गया है।[1] कृष्ण की लीला के प्रकार अनन्त हैं, किन्तु विस्तार भय से किशोरवय की ही प्रमुख केलि-लीलाओं का वर्णन यहाँ समीचीन होगा। इन लीलाओं में रास-केलि नृत्य-केलि हिंडोल लीला-केलि, रंगहोली केलि, दानकेलि मान केलि रास-केलि तथा जल-केलि आदि को लिया जा सकता है। केलि-माधुर्य वर्णन की दृष्टि से इन्हीं लीलाओं की व्यंजना होनी चाहिए। कुंज-विहार अथवा कृष्ण की मधुर लीला का वर्णन 'रतिमाधुर्य' वाले विभाग में सैद्धान्तिक रूप से प्रस्तुत किया जायगा। माखनचोरी से लेकर जल-केलि पर्यन्त सभी लीलायें अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भगवान के सम्बन्ध में वर्णित कौमार पौगण्ड तथा कैशोर वयों के अनुकूल ही देखने में आती हैं। रास लीला इन सभी में श्रेष्ठ है। अस्तु, यहाँ पर रासलीला के सम्बन्ध में दो चार बातें कह देना अनुचित न होगा। श्रीकृष्ण ने पूर्णावतार लेकर सभी लीलाओं के साथ अपनी नित्य रास-केलि व्रजमण्डल में की थी। इसमें रसिक कृष्ण के मनोवेद्य हाव-भाव, नृत्य गीत तथा आलिंगनादि के वर्णन होते हैं। समस्त गोपिकाओं के साथ उनके कंठ पर अपने हस्त-कमल को रखे हुये मण्डलाकार होकर श्रीकृष्ण का नृत्यगानादि ही रास कहलाता है। श्रीकृष्ण प्रेमियों के पवित्र ग्रन्थ में ही इस परम पावन प्रेमलीला की झाँकी मिलती है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से प्रेमावतार अखिलरसामृतमूर्ति ने काम को पराजित किया है। वे चाहते भी यही थे कि प्रथम तो व्रजगोपियों को परमानंद रस का आस्वादन हो जाय और दूसरे काम पराजित हो जाय। इसलिये ही कृष्ण की इस लीला को अप्राकृत कहा गया है और उन्हें 'साक्षात्मन्मथमन्मथ' तथा आत्मारामोऽप्यरीरमत् की संज्ञा प्रदान की गई। साक्षात्मन्मथमन्मथ कहलाना क्या हँसी खेल है? जिसने साक्षात् मन्मथ के मन को भी मथ दिया वही साक्षात् मन्मथमन्मथ—श्रीकृष्ण हैं। दूसरे किसी देवता को कभी स्वप्न में भी यह साहस न हुआ कि वह कामदेव को पराजित कर सके। केलि-माधुर्य की चरम सीमा है—श्रीकृष्ण। यथा—

चापल्यसीम चपलानुभवैकसीम,
चातुर्यसीम चतुराननशिल्पसीम।

---

१ कौमार पौगण्ड तथा कैशोरावस्था का केलि सहित विवरण श्रीमद् भागवत् के दशम स्कंध में किया गया है। यहाँ पर उन अवस्थाओं का सैद्धान्तिक विवेचन उज्ज्वलनीलमणि के आधार पर हुआ है।

सौरभ्यसीम सकलाद्भुत केलिसीम,
सौभाग्यसीम तदिदं व्रजभाग्यसीम ॥७४॥

—श्रीकृष्णकर्णामृत (रसिकरोचनी टीका) पृ० २१७

सौन्दर्य माधुर्य के साथ ही श्रीकृष्ण चपलता की सीमा हैं, चपला व्रज-बालाओं की अनुभूति की सीमा हैं, चातुर्य की सीमा हैं, विभावा की शिल्प विद्या की सीमा हैं, सुगंध की सीमा हैं समस्त अद्भुत केलि की सीमा हैं परम सौभाग्य की सीमा हैं तथा वृन्दावन के सौभाग्य की एक-मात्र सीमा हैं। इनकी चपलता उन रसिक-शिरोमणि कृष्ण में विद्यमान है कि तीन शतकोटि गोपिकाओं के साथ अलात चक्र की भाँति भ्रमण किया था। यथार्थ है गति की लाघवता ? और फिर रास में ! उसे तो वे ही कर सकते थे। ऐसी गति की लाघवता रास में उस चापल्यसीम कृष्ण ने प्रकट की कि मण्डल म उपस्थित गोपिकाओं के मध्य—दो-दो गोपियों के बीच प्रवेश करके नृत्य कर डाला। इतना ही नहीं समस्त प्रकार की केलि अपनी सम्पूर्ण कलाओं सहित श्रीकृष्ण में ही परिपूर्णता को प्राप्त हुई थी। श्रीकृष्ण जैसा खिलाड़ी पाकर प्रेम को भी गर्व हो गया था। अब व्रजवासियों के भाग्य की बात देखिए उनके भाग्य का तो कहना ही क्या है ? कृष्ण-केलि के प्रलोभन से साक्षात् रुद्र ने उनके अहंकार में, ब्रह्मा ने उनकी बुद्धि में, चन्द्रमा ने उनके मन में, वासुदेव ने उनके चित्त में, अश्विनी कुमार द्वय ने उनके नेत्र में इन्द्र ने उनके हस्त में, उपेन्द्र ने उनके चरण में, मित्र ने उनकी गुदा में तथा प्रजापति ने उनके उपस्थ में अपना निवास बना लिया था और माधुर्यमूर्ति के स्पर्श का सुख प्राप्त किया था। सारांश यह कि गोपियों ने समस्त देह, प्राण तथा इन्द्रियों से कृष्ण की उपासना की थी। श्रीकृष्ण की समस्त लीलायें विश्वकल्याणार्थ हैं तथा रासलीला आत्महितार्थ है। अन्य लीला वैष्णवी (माया) शक्ति के साथ बाह्य विलास है तथा रास आत्मारूपी राधा तथा इनके कायव्यूहरूपी गोपियों के साथ अन्तर-विलास है। इस रास लीला में मानो साम्राज्य को प्राप्त होकर श्यामसुन्दर आज ही आनन्द हो गये हैं। सारांश यह कि रासलीला रूप में आनंद ही आनंद सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। श्रीकृष्ण स्वयं राधा से कहते हैं कि अहो ! रा+धा। दो अक्षरों में कितना अनोखा आनंद रस माधुर्य भरा हुआ है कि इनके कानों में पड़ते ही मन किसी विचित्र प्रेम के केलि-सागर म निमज्जित तथा अखिलण्ड आनंद मद के कारण पूर्णायमान होने लगता है। यथा—

निमज्जति निमज्जति प्रथम-केलि सिन्धौमनो,
विघूर्णति विघूर्णति प्रमद चक्र कीर्ण शिरः।
अहो किमिव माधवो सपदि रास मामाक्षरं,
त्रयी-मनुपि निस्वने श्रवण वीथिमारोहति ॥

—ललित माधव (९।४६)

शरद् ऋतु की चन्द्रिकामयी रात्रि में राधा-कृष्ण की यह अपूर्व रास-केलि अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर रसिकों के हृदय को आह्लादित कर देती है। मंडलाकार गोपिकाओं के मध्य सौन्दर्य-माधुर्य के भण्डार राधा मोहन विराजमान होकर सभी का मन हरण कर लेते हैं। समस्त गोपियाँ उनके प्रेम में सराबोर होकर गायन-वादन करती हुई, दम्पति की उस छवि का आनंद लेती हैं। रास के समय प्रकृति का समस्त वातावरण अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्रदर्शित करता है। निर्मल आकाश में समस्त कलाओं से युक्त चन्द्रमा का चमत्कार और मालती आदि पुष्पों का सौन्दर्य आदि सब कुछ आनंदप्रदायक होता है। यमुना के पावन पुलिन पर शरद् की उस चन्द्रिकामयी रात्रि में होने वाले रास में श्यामसुन्दर जब कभी स्वयं सखी का रूप धारण कर सखियों के मध्य संगीत का आनंद लेते हैं तो राधिका जी भी अपने प्रियतम को नाचना सिखाने लगती हैं। यथा—

पिय को नाचन सिखावत प्यारी।
वृन्दावन में रास रच्यौ है, सरद-चंद उजियारी।
मान गुमान लकुट लियें ठाढ़ी डरपत कुंज बिहारी।
'व्यास' स्वामिनी कौं छवि निरखत हँसि-हँसि दै-दै

तारी ॥६२२॥

— भक्तकवि व्यास, ३६१

इस रास में दम्पति की मन्द मन्द मुस्कान कुंडलों की चंचलता, मस्तक पर निकलने वाले श्रमकणों की शोभा सभी का मन मोह लेती है। रास में इस प्रकार की शोभा से युक्त राधा-माधव कभी सबसे अलग हो जाते हैं और कभी सब के बीच में प्रकट रह कर परम मधुर गान का रस लूटते हैं। इन रास में राधिका जी का केशपाश छूट जाता है, फूल बिखर जाते हैं। मन मत्त हो जाता है तब इन्हीं श्यामा के लिए—

नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकुट-लटकनि, भ्रुकुटि-मटकनि, नारि मन सुख देत।

कबहुँ चलत सुगंध गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल कुंडल गंड-मंडल चपल नैननि सैन।
स्याम की छबि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।
सूर प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेम-गुन करि पोहि॥
११४८॥१७६६॥
– सूरसागर (ना० प्र० सभा)

श्यामसुन्दर की इस छवि पर सभी गोपियाँ मुग्ध हो गई थीं, उनके नेत्र इस सौन्दर्य रस का पान करने के लिए अपलक हो गए थे और फिर उन्होंने अपना-सर्वस्व अपने प्रियतम को सौंप दिया था।

ब्रज की गोपिकाओं के मध्य श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के बीच में गोपिकायें मेघों के बीच में बिजली और बिजलियों के बीच में मेघ के समान अपने उत्कर्ष को बढ़ाते हैं। निश्चय ही इस रास केलि ने काम के मन का मन्थन कर उसे भी अपने वश में कर लिया था ऐसे अवसर पर मोहन मोहिनी के रस में सराबोर उनकी नृत्य कला को अपलक नेत्रों से देख रहे थे। भौंहों का मोड़ना नेत्रों का घुमाना, कृष्ण को वश में किये था। नृत्य की कितनी कलाओं का प्रदर्शन श्रीराधिका जी ने किया—कोई नहीं कह सकता। उनके इस नृत्य से स्वर्ण के कलश के समान शोभायमान उनके स्तन उघर हो गये, दुपट्टा उड़ने लगा, कंचुकी टूट गई, माला तरक गई और वे धरती पर गिर गईं। तुरन्त भगवान श्यामसुन्दर ने अपनी प्यारी राधा को लपट कर उठा लिया।[1] साथ ही उस माला को गिरने से पूर्व ही यह समझ कर उठा लिया कि यह उनकी प्यारी के वक्ष स्थल पर विराजती है। इसके उपरान्त अपने

---

१ मोहन मोहिनी रस भरे।
भौंह मोरनि नैन फेरनि तहाँ ते नहिं टरे।
अंग निरखि अनंग लज्जित सकै नहिं ठहराइ।
एक की कहु चलै सत-सत कोटि रहत लजाइ।
हरै पर हस्तकनि गति छबि नृत्य भेद अपार।
उड़त अंचल प्रगट कुच दोउ कनक घट रससार।
दरकि कंचुकि तरकि माला, रही धरनी जाइ
सूर प्रभु करि निरखि करुना तुरत लई उचाइ॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) ११४५।१७६१

पीताम्बर से वे कृष्ण राधा के श्रम-बिन्दुओं को पोंछने लगते हैं, श्रमित जानकर चरण दबाने लगते हैं और पसीना सुखाने के लिए श्रीमुख से हवा फूंकने लगते हैं।[1] राधा का जैसे ही श्रम निवारण हो जाता है, वे उठती हैं और श्यामसुन्दर से कहने लगती हैं—

हा हा हो पिय नृत्य करौ ।
जैसे करि मैं तुमहिं रिझाई, त्यौं मेरौ मन तुमहु हरौ ।
तुम जैसें श्रम-बायु करत हौ, तैसे मैं हूँ डुलावौंगी ।
मैं श्रम देखि तुम्हारे अंग कौ भुजभरि कंठ लगावौंगी ।
मैं हारी त्यौंही तुम हारौ, चरन चापि श्रम मेटौंगी,
सूर स्याम ज्यौं उठंग भई मोहिं, त्यौं मैं हूँ हँसि भेंटौंगी ।।
—सूरसागर (ना० प्र० स०) ११४७।१७६५

राधा की नृत्य-गति को देखकर श्रीकृष्ण मुग्ध हो जाते हैं और कहते हैं—

वारी वारी एहो जाऊँ बिहारी गति पर प्यारी ।
अति अद्भुत देखी न सुनी कहूँ जो जो तो पै कलारी ।
सब गुन-सील-सरूप सिरोमनि नागरि निपुन महारी ।
श्रीहरिप्रिया सदा हिय नैननि बसि रहिये बलिहारी ।।१५८।।
—महावाणी पृष्ठ १ ८

जब राधा-कृष्ण दोनों साथ ही साथ नृत्य करते हैं तब सभी सखियाँ ताल मृदंग आदि का वादन करती हैं। इन वाद्यों के मध्य मुरली की मनोहर ध्वनि गुंजरित होकर सभी के चित्त को चंचल कर देती है। जब दोनों नाचन करते हैं तब घटायें घिर आती हैं मोर, कोकिला आदि क्रीड़ा करने लगते हैं। उधर बिजली कड़कती है और इधर श्यामा-श्याम मुरली की ध्वनि

१ प्रेम सहित माला कर लीन्ही ।
प्यारी हृदय रहति यह जानी सुंदर परम न दीन्ही ।।
पीत बसन लै श्रमजल पोंछत पुनि लै कंठ लगाई ।
चरनन कर परसत हैं अपने कहत अतिहि श्रमपाई ।।
श्रम जल देखि बदन मुख ही पै फूंकि सिरावत अंग ।
सूरदास प्रभु मोह निहारत, ललत तिया के रंग ।।
—सूरसागर (ना०प्र०स०) ११४६।१७६४

तन्मय हो जाते हैं। कुसुम की लताओं के मध्य बैठकर रस पान करने वाले कृष्ण सभी रसिकों के परम प्रिय हैं।[1] गायन-वादन करते हुए श्रीराधिका जी कभी-कभी अपने प्रियतम को वीणा सिखाने का उपक्रम करने लगती हैं और कहती हैं कि "हे प्रियतम, अपने मन को लगाकर राग को बाँधिये।" कृष्ण मन्दहास कर वादन करते हैं, फिर भी राधिका जी 'कचीना' कह देती हैं।[2] कौन किसे सिखाता है—यह भेद कौन जान सकता है? श्रीराधिका जी जब मान करती हैं, तो कृष्ण रीझकर तुरन्त उन्हें अंक में भर लेते हैं दोनों के शरीर से शरीर, मन से मन प्राण से प्राण मिल कर एकाकार हो जाते हैं सूरदास को भी यही छवि प्रिय है, यथा—

गान करति नागरि रीझे पिय, लीन्हीं अंकम लाइ।
रसबस ह्वै लपटाइ रहे दोउ, सूरदास बलि जाइ॥ ०५७।१६७५

—सूरसागर (ना० प्र० स०)

इस प्रकार प्रेमरस में सराबोर दोनों एक दूसरे पर रस की वर्षा करते हैं। श्रीवन में तो श्रीकृष्ण ने ऐसी वीणा बजाई कि राधा तन्मय हो गयीं और राधा ने ऐसा नृत्य किया कि कृष्ण वीणा-वादन में बेसुध हो गये। जिस प्रकार से श्रीकृष्ण वेणु के रंध्रों में अपनी अंगुलियों को चलाते हैं, उसी प्रकार राधा थिरकती हैं। दोनों में होड़ लगी रहती है, ललितकिशोरी इस छवि को अपलक देखते हैं। यथा—

---

१ राधा मोहन मान मल्हार जब मिलि गावैं।
कोमल कान्ति मोर कोकिला करैं कलोल
घमड़ घुमड़ घन घटा आवैं।
चल दामिनी घन इत श्यामा श्याम उत
मद मद धीर सुर मुरली बजावैं।
श्री सूरदास मदन मोहन कुसुम
लतान पर बैठे मन भावैं॥६१॥

—पा० सू० म० मो० पृ० ११

२ नव निकुंज मन्दिर मैं प्यारी सिखवहि सिखावत बीना।
राग बँधान सरगम मनोहर इत मन देहु प्रवीना।
नैन संभार संभार सुघरवर नागरि कहत कचीना।
श्री बीठलविपुल बिनोद बिहारी की जानत भेद प्रवीना॥२८॥

—श्रीबीठलविपुलदेव वाणी पृ०८

श्री वन वेनु बजाय के, निरखहिं जुगल किशोर ।
निरखहिं अति अनुराग के अनमिष नैना मोर ॥६६॥
ज्यों-ज्यों अंगुरी लाल की फिरत वेनु रंध्रान ।
त्यों-त्यों थिरकत लाड़िली निरखहु कृष्ण सतान ॥६९॥
होड़ा होड़ी निरखहीं गौर स्याम सुकुमार ।
नवल कुंज बन माधवी, हरषों छबिहिं निहार ॥७१॥

—ललितकिशोरी, अभिलाष माधुरी, पृष्ठ ८

प्रिया प्रियतम जब गायन-वादन आदि से थक जाते हैं तो हिंडोर झूलने का आनन्द लेते हैं। यमुना के सुन्दर पुलिन में वंशीवट के तट पर दोनों झूलते हैं। रंगदेवी, सुदेवी ललिता तथा विशाखा आदि सखियाँ दोनों को वहाँ झूला झुलाती हैं। मेघों की गरज बिजली की कड़क से डर कर प्रिया, प्रियतम के अंक समा जाती हैं। रसिक इसी छवि पर अपने को न्योछावर कर देता है।[1] जिस हिंडोले में राधा जी झूलती हैं वह मणियों से निर्मित है। उस मणिनिर्मित हिंडोले के मध्य गिरधर लाल के गुणों का गान करती हुई दामिनी के समान चमत्कृत राधा शोभायमान होती हैं। कभी श्यामसुन्दर राधा को झुलाते हैं और कभी राधा श्यामसुन्दर को। ललिता आदिक सखियाँ इस आनंद-केलि को देखकर प्रफुल्लित हो जाती हैं।[2]

---

१ हिंडोरे झूलत हैं पिय प्यारी ।
श्री रंगदेवि सुदेवि विशाखा झोंटा देत ललितारी ।
श्री यमुना बंसी बट के तट सुभग भूमि हरियारी ।
दादुर मोर करत धुनि सुनि मन हरत महारी ।
घन बरषनि दामिनि तें डरि पिय हिय लपटी सुकुमारी ।
श्री बीठल निरखि बगति छबि तन प्रान पी वारी ॥२३॥

—युगल शतक पृ० १२६

२ डोल झूलत श्यामा श्याम सहेली ।
मणि निर्मित मध्य गिरधर पिया संग विहरत परम नवेली ।
कबहुँक प्रीतम रमक झुलावत कबहुँ प्रिया नवेली ।
श्रीबीठलविपुल ललितादिक देखत आनंद-केली ॥१२॥

—श्रीबीठलविपुलदेव वाणी, पृ० २

मंडलाकार होकर वे उनके रूप रस का पान करती हैं। वे कभी गाती हैं, कभी झुलाती हैं, और कभी झूले को थीमा कर प्रिया प्रियतम को ताम्बूल देती हैं। श्यामसुन्दर भी कभी स्वयं झूलते हैं, कभी झुलाते हैं, कभी आलिंगन करते हैं, कभी झोंका देते हैं। उमड़ी हुई घनघोर घटाओं के मध्य इस प्रकार दोनों झूला झूलते हैं। घनघोर वर्षा होने पर कृष्ण अपने मुकुट की छाया से राधा को बचाने की चेष्टा करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने आपको इस छवि पर बलिहार कर देते हैं, यथा—

कमल नैन प्यारी झूलैं झुलावैं पिय प्यारो।
कबहुँक झोंटा देत कबहुँ लगावैं कंठ,
कबहुँ सवारत सारी, करत मनुहारी ।।
कबहुँ संग झूलें सोभा देखि-देखि फूलें
कबहुँ उतरि झोंटा देत, भारी भारी बरसत सुकुमारी।
'हरीचंद' बलिहारी झुकि आई घटा कारी,
बरसत घोर बारी मुकुट छावत गिरिधारी ।।११२।।

—भारतेंदु ग्रंथावली भाग २ पृ० ५२

अपनी काव्यमयी प्रतिभा से होली-लीला का जो चित्र रसिक भक्तों ने अंकित किया है, वह अत्यन्त सरस है। ऋतु उपस्थित होने पर राधा-माधव युगल होली खेलते हैं खिलाते हैं और अपने माधुर्योपासक भक्तों के लिए रस की वर्षा करते हैं। जिस समय राधिका जी के साथ श्रीकृष्ण फाग खेलते हैं तभी सारी गोपिकायें 'होहोरी' कहकर चिल्ला उठती हैं। इस समय किसी को किसी की सुधि नहीं रहती। श्रीकृष्ण अपनी मधुर मुस्कान से राधा का चित्त चुरा लेते हैं। बड़ी रुचि से राधा प्यारी के साथ वे नृत्य करते हैं और सखियों की दृष्टि बचाकर परस्पर प्रेम की वर्षा करते हैं।[1] श्रीकृष्ण के साथ फाग खेलकर

---

१ राधा रसिक कुंजबिहारी खेलत फाग,
सब ब्रजतीयन कहत हो होरी।
भरत परस्पर काहू की काहू न सुधि
हँसि के मन हरत मोहन गोरी ।।
कर सों करन जोरि कटि सों कटि य
मोर करत नृत काहू न लखि चोरी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा मिलत प्यारी प्यारे,
सब सखियन की दृष्टि बचावत तकित च चोरी ।।१०५।।

—केलि माल पृ० १२

समस्त गोपियाँ इसी व्याज से अपने अन्तःकरण में विद्यमान अपने प्रियतम कृष्ण के प्रति अनुराग को प्रकट करती हैं। नंदनन्दन और वृषभानु नंदिनी दोनों में अगाध प्रेम है। भादों के मेघ की भाँति दोनों ओर आनंद की वर्षा हो रही है। एक बार समस्त गोपियाँ यशोदा जी के पास गईं और कहा कि इस होली के अवसर पर आप केवल चार दिन के लिए मोहन को हमें दे दें। बड़े प्रेम से समस्त सखियों के साथ राधा जी श्यामसुन्दर के हेतु गाली गाती हैं। यशोदा प्रसन्न हो श्याम के बदले सब कुछ देने को प्रस्तुत हैं।[1] राधिका तन्मय होकर सखियों के साथ कृष्ण को गाली गाती हैं और यशोदा से अपना फगुआ माँगती हैं, किन्तु यशोदा उसे देने को प्रस्तुत नहीं होतीं। वे प्रसन्न हैं और उस फगुआ के बदले सब कुछ देने को प्रस्तुत हैं। इसी बीच श्रीकृष्ण बाहर आते हैं, बड़ी-बड़ी पिचकारियों से सुगंधित रंग की धारें निकल कर एक दूसरे को सराबोर कर देती हैं। मुट्ठियों के अन्दर से उड़ा हुआ गुलाल समस्त गोपिकाओं तथा श्रीकृष्ण के मुख पर पड़कर उनकी शोभा को द्विगुणित कर रहा है। तभी अनायास सभी गोपियों ने श्यामसुन्दर को अपने यूथ में कर लिया और उन्हें राधा के पास ले आईं। बड़ी विचित्र स्थिति हो गई कृष्ण की यहाँ यथा—

(ब्रज युवती मिलि) नागरि, राधा पै मोहन लै आईं।
लोचन आँजि भाल बेंदी दै पुनि-पुनि पाइ पराईं।
बेनी गूँथ सीस सिर धारी, बधू-बधू कहि गाईं।
प्यारी हँसति देखि मोहन-मुख, जुवती बने बनाई।
स्याम-अंग कुसुमी नई सारी अपने कर पहिराई।
कोउ भुज गहति, कहति कछु कोऊ कोउ गहि चिबुक उठाई।

---

१ नदनंदन वृषभानु कुँवरि सों बढ्यो अधिक सनेह
दोउ दिसि पै आनन्द बरषत ज्यों भादों को मेह।
सब सखियाँ मिलि गईं महरि पै मोहन माँगे देहु
दिना चारि के अवसर बहुरि आपनो लेहु।
नाचि नाचि गावति हैं कर धरि राधिका देत परस्पर गारि
अब कहँ दुरे साँवरे ढोटा फगुआ देहु हमारि।
हँसि-हँसि कहति जसोदा रानी गारी मति कोउ देहु
सूरदास स्याम के बदले जो चाहो सो लेहु॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) २८६२।१४८१

एक अधर गहि सुभग अँगुरियनि बोलत नहीं कन्हाई।
पीतांबर गहि छूट-चूनरी, हँसि हँसि गाँठि जुराई।
जुवती हँसति देति कर तारी, भई स्याम मन भाई।
कनक-कलस अरगजा घोरि कै हरि कै सिर ढरकाई।
नंद सुनत हँसि महरि पठाई जसुमति धाई आई।
पट मेवा दै स्याम छुड़ायौ सूरदास बलि जाई॥

– सूरसागर (ना॰ प्र॰ स॰) २८७१।३४१७)

इस प्रकार प्रिया-प्रियतम यमुना के सुन्दर पुलिन पर समस्त गोपियों को आनंदित करते हुए होली खेलते हैं। ताल मृदंग की सुमधुर ध्वनियों के मध्य अपने अपने यूथ को साथ लिये हुए, ललिता तथा श्यामा आदि सभी गोपियाँ केसर कुमकुम की वर्षा कर रही हैं। नंदनंदन गेंदुक चलाते हैं, राधा कला से उसे बचा जाती हैं। इतने ही में झपट कर ललिता श्याम सुन्दर को पकड़ कर उनकी मुरली तथा पीताम्बर को छीन लेती हैं।[1]

रंग-केलि करते हुए इस प्रकार श्यामसुन्दर माधुर्य में सराबोर समस्त गोपीजनों को अपना आलिंगन चुम्बनादि प्रदान करते हुए आनन्दामृत की वर्षा करते हैं।

नवनिकुंज में राधा-कृष्ण के विविध विलास को देख कर शरद की कमनीय चन्द्रिकामयी रात्रि भी आनन्द में तन्मय होकर अपनी अवधि को भूल जाती है। ऐसे सुअवसर पर रस-मत्त श्याम-श्यामा रास के मध्य क्रीड़ा करते हैं।

---

१ पिय प्यारी खेलें जमुन तीर, भरि केसरि कुमकुम अरु अबीर।
घसि मृगमद चंदन अरु गुलाल, रंग भीने अरगज बसन माल।
कूजत कोकिल कल हंस मोर, ललितादिक स्यामा एक ओर।
वृन्दादिक मोहन लई ओर, बाजें ताल मृदंग रबाब घोर।
प्रभु हँसि कै गेंदुक दई चलाइ, मुख पट दै राधा गई बचाइ।
ललिता पट मोहन गह्यौ धाय, पीतांबर मुरली लई छिनाय।
हौं सत्य कहौं छाँड़ौं न तोहि, स्यामा जू आज्ञा दई मोहि।
इक निज सहचरि आई बलोठि, सुनि री ललिता तू भई ढीठ।
पट छाँड़ि दियो तब नवकिसोर, घनि रीझि सूर तृन दियो तोर॥

—सूरसागर (ना॰प्र॰स॰) २८५१।३४७४

उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो अमृत के सरोवर में हंस क्रीड़ा कर रहा है। यहाँ दोनों एक दूसरे पर जल की बौछार करते हुए प्रफुल्लित होते हैं। मधुर रसिक रूप की इसी राशि को अपलक देखना चाहता है :—

> जल माहिं भरे रस झोलहीं।
> मानहुँ सुधा-सरोवर माहीं मत्त मराल किलोलहीं।
> छिरकत छींट परस्पर पुलकत मुलकत मुख सौं बोलहीं।
> श्रीहरिप्रिया अरि रहे टरत नहिं झकझोला झकझोरहीं ।।६७।।
>
> —महावाणी, उत्साहसुख

जल के मध्य केलि करती हुई राधिका का सौन्दर्य श्रीकृष्ण को मोहित कर दिया है। राधा का शरीर वस्त्र आदि भीग गये हैं, उनके केश-जाल से उनके वक्ष स्थल पर जल गिर रहा है। दोनों स्तनों के मध्य से आती हुई कैश जल की धार ऐसी प्रतीत होती है मानो राहु कनकगिरि पर अमृत उगल रहा हो। श्यामसुन्दर ने उरज स्पर्श किया, राधा लजा गई और रसिक आनन्द विभोर हो गया इस झाँकी को देखकर, यथा—

> रीझे स्याम नागरि रूप।
> भींजि लट नागरि उर पर लसत नीर अनूप।
> लसत जल कुच परति धारा, नाहिं उपमा पार।।
> मनो उगिलत राहु अमृत, कनक-गिरि पर धार।
> उरज परसत स्याम सुन्दर, नागरी सरमाइ।
> सूर प्रभु तन-काम-व्याकुल किये मनहिं सुहाइ।।
>
> —सूरसागर (ना० प्र० स०) ११६१।१७८४

यमुना के मध्य गोपियों के साथ गजराज की भाँति जल-विहार करने वाले श्रीकृष्ण कमलमुखी गोपियों के बीच भ्रमर के समान सुशोभित होते हैं। राधा-कृष्ण दोनों के अंग-प्रत्यंग भीग गये हैं। आनन्द उमड़ रहा है। पानी से भीग कर वस्त्र शरीर से चिपट गये हैं। मनमोहन घात करके जल में छिप जाते हैं और फिर जल के अन्दर ही अन्दर जाकर राधा के पैरों से लिपट जाते हैं। रसमत्त वे राधा को झकझोर देते हैं, जिससे उनकी माला, वस्त्र तथा कंचुकी आदि के बन्द टूट जाते हैं। ललिता अपनी स्वामिनी की यह दशा देखकर जल में श्यामसुन्दर के पास पहुँचकर उन्हें छुड़ाती है और राधा को मण्डल के मध्य कर लेती है। और इस प्रकार जलविहार पर क्रीड़ा करते हुये

प्रसन्नता को प्राप्त करती है। राधा की भांति गोविंद भी जल उछालते हैं और विभिन्न प्रकार से केलि कर सबको आनन्दित करते हैं, यथा—

गोविंद छिरकत छीट अनूप।
उत वृषभानुनंदिनी राजत इत घनस्याम स्वरूप।
पावन जल जमुना को निरमल करत विविध रस केलि।
सजल बसन सोभित अगनि में उठत तरंगनि रेलि।
कीनो बस गोवर्धनधारी वेद शृंखला पेलि।
गोविंद प्रभु आनंद सिंधु में रहे मगन मन झेलि ॥१६६॥

—गोविन्दस्वामी, पृष्ठ ८६

सौन्दर्यमयी राधिका अपने प्रियतम पर जल उछालती है। उनकी गति तथा मृगराज के समान उनकी कटि पर कृष्ण आसक्त हो जाते हैं, केशपाश छूट जाते हैं और वे श्यामा के प्रेमरस में डूब जाते हैं। सखियाँ अपने हाथों में अनेक कमलों को लेकर राधा-माधव के साथ जल के मध्य विविध लीलायें करती हैं, कोई नेत्रों पर कमल से वार करती है, कोई नाचती है, कोई छिपती है और कोई कमल को हाथ में लेकर नचाती है। रसिकों की तो बात ही क्या है स्वयं यमुना भी भगवान की इस जलविहार लीला को देखने के लिए अपने प्रवाह को रोक देती है।

भक्तों का रति-माधुर्य

रति, मधुर रसोपासना का प्राण तथा बीज स्वरूप है। इसके अभाव में इष्टदेव की माधुर्यमयी साधना साधक के लिए संभव नहीं हो सकती। माधुर्य रस के स्थायीभाव के रूप में यही रति भक्त के हृदय में जब स्थायी रूप से निवास प्राप्त कर लेती है, तभी साधक या भक्त को प्रत्यक्ष रूप से रसा स्वाद होने लगता है। चित्त की आर्द्रता को रति कहते हैं। रति का यह मनस मोक्ष की कामना करने वालों के लिए नहीं होता क्योंकि इस कामना के आधिक्य से यह रति उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। इस रति को संसार की समस्त कामनाओं से विरत चित्त वाले ही देखते हैं। अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण के निकट इस रति का रहस्य अत्यंत गोप्य है, इसीलिये शुद्ध भक्ति से हीन तथा मुक्ति की कामना वाले मुमुक्षुओं के हृदय में यह मायवती रति नहीं होती। भगवान के प्रिय काम, देश, क्रिया तथा पात्रादिकों के आत्यंतिक संबंध से कहीं-कहीं असज्जनों में यह रति छाया के रूप में भी प्रकाशित होती है।

यथार्थ रूप में फिर भी नहीं। इसमें सौभाग्य वाले ही रतिछाया को भी प्राप्त कर पाते हैं। इस रतिछाया से भी उत्तरोत्तर कल्याण ही होता है। यदि रति का आभासमात्र ही भक्त को प्राप्त हो जाय तो वह भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता हुआ रति रूप हो जाता है और तब उस रत्याभास का पूर्णरूप विकास हो जाता है। रति के उत्पन्न हो जाने पर भक्त को निरंतर यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उससे हरि के प्रियजनों के प्रति कोई अपराध न हो जाय। यदि भगवान के प्रियजनों के प्रति कोई अपराध हो गया, तो निश्चित रूप से उसके हृदय में प्रस्फुटित होने वाली यह भागवती रति लुप्त हो जाती है। इसलिए योग्य भक्त निरंतर इसका ध्यान रखते हुये साधना करते हैं।

यह उत्तरोत्तर मधुररसाभिलाष की वृद्धि करने के कारण अत्यन्त स्वभाव से युक्त उष्मत्व को धारण करने वाली तथा दिन रात चित्त में उल्लास पैदा करने के कारण अत्यन्त आनन्द स्वरूप है। यद्यपि स्वभाव से उष्णता को उत्पन्न करने पर भी सुधांशु कोटि से भी अधिक यह रति स्वादमयी तथा शीतल होती है। ऐसा ही उल्लेख श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु की भाव-लहरी में किया गया है, यथा—

> रतिरनिशनिसर्गोष्ण प्रबलतरानन्दपूररूपैव,
> ऊष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वी ।।१२३।।
>
> —श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु—पूर्व विभाग

मसृण के समान कोमल चित्त वाले भक्तों के हृदय में जब यह रति विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर लेती है, तभी समस्त अनुकूल तथा प्रतिकूल भाव इसके वश में हो जाते हैं। विद्वानों ने भक्तिशास्त्रानुसार इस रति को स्थूलरूप से दो प्रकार का माना है—

१—मुख्या रति, २—गौणी रति।

मुख्या रति उसे कहते हैं, जो शुद्धसत्त्व विशेष से युक्त होती है, इसके भी दो भेद हैं।

१—मुख्या स्वार्था और २—मुख्या परार्था।

जो रति प्रतिकूलता रहित भावों के द्वारा पुष्ट होती है तथा जिसकी प्रतिकूल भावों के उपस्थित होने पर हानि नहीं होती, उसे स्वार्था रति कहते हैं और जो रति स्वयं संकुचित होते हुए अविरोधी तथा विरोधी भावों को ग्रहण करती है, वह परार्था रति कहते हैं।

शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता भेद से स्वार्था परार्था रूप मुख्या रति पाँच प्रकार की होती है। भिन्न भिन्न पात्रों की विभिन्न विशेषताओं के द्वारा यह रति विशेषत्व को उसी प्रकार प्राप्त करती है, जैसे सूर्य भिन्न-भिन्न स्फटिक आदि वस्तुओं में विशद रूप से प्रतिबिंबित होता है।

स्वार्थापरार्थारूपमुख्यारति के अन्तर्गत शुद्ध आदि पाँच प्रकार की रति में शुद्धारति के भी तीन प्रकार माने गये हैं, यथा—

१—सामान्याशुद्धारति, २—स्वच्छा शुद्धारति ३—शांति शुद्धारति।

इस रति में अंग-कंपन एवं नेत्र आदि का खुलना तथा मूँदना आदि क्रियायें होती हैं। किसी प्रकार की विशिष्टता को प्राप्त न करने वाली साधारण जन तथा बालिका आदि की भगवान कृष्ण में जो रति होती है, उसे सामान्या शुद्धारति कहते हैं। भिन्न भिन्न साधन विधय के द्वारा नाना प्रकार के भक्तों के सम्पर्क से उत्पन्न साधकों में विविध प्रकार की जो रति है उसे स्वच्छाशुद्धा रति कहते हैं। जब जिस प्रकार के भक्त में जैसी आसक्ति होती है, तब यह रति उसी प्रकार का रूप स्फटिक की भाँति धारण कर लेती है इसीलिये इस रति का नाम स्वच्छारति है। आस्वाद विशेष से रहित बुद्धि से युक्त शुद्ध श्रेष्ठ भक्तों की यह स्वच्छारति अपने अपने भाव के अनुसार सुख सागर भगवान कृष्ण में होती है।

जिस स्वभाव के द्वारा विषय की तन्मुखता (विषयासक्ति) छूट जाय तथा निजानंद की स्थिति पा जाय उसे शांति कहते हैं। ममता की गंध से रहित एवं शांत प्रकृतियुक्त महात्माओं की भगवान कृष्ण में परमात्म बुद्धि से उत्पन्न रति ही शांति शुद्धारति नाम से विख्यात है। प्रीति आदि के द्वारा कहे जाने वाले स्वादों से रति का संबंध न होने से इसे शुद्धा रति की संज्ञा दी गई है। रति के अन्य तीन भेद (प्रीति, सख्य तथा वात्सल्य) अत्यन्त मनोहर हैं। ये तीनों भेद अत्यंत अनुकूलता से उत्पन्न तथा ममता से सदा आश्रित रहते हुये, क्रम से अनुग्राह्य कृष्ण भक्त में प्रीति मित्र भक्त में सख्य तथा पूज्य कृष्ण भक्त में वात्सल्यरूप से रहते हैं। इस रतित्रयी के भी दो प्रकार होते हैं एक केवला दूसरी संकुला।

केवला रति दूसरी रति के गंध तक से रहित होती है। क्रम से इस रति का स्फुरण व्रज के अनुगामियों वयस्य श्रीदामादिकों तथा व्रजनृपादि

में होता है। जहाँ दो या तीन प्रकार की रति एक साथ हो वहाँ संकुल रति होती है, किन्तु जिसका प्राबल्य होता है, उसी नाम से उस रति को पुकारा जाता है। जैसे प्रीति सख्य तथा वात्सल्य में यदि प्रीति की प्रबलता है, तो उसे प्रीति संकुला रति कहेंगे आदि।

श्रीहरि की अपेक्षा अपने को छोटा समझने वाले साधक को अनुग्राह्य कहते हैं—ऐसे भक्तों की आराध्यत्वात्मिका रति को प्रीति कहते हैं। यह प्रीतिरति भगवान में आसक्ति को बढ़ाकर अन्यत्र आसक्ति को कम करती है। जो भगवान श्रीकृष्ण के तुल्य हैं वही भगवान के सखा हैं। समता के कारण इन भक्तों की विस्रम्भरूपा रति को सख्यरति कहते हैं। हरि के जो पुत्र हैं, वही हरि के पूज्य हैं। इन पूज्यों की हरि के प्रति जो अनुग्रहमयी रति है—वही वात्सल्य नाम से प्रसिद्ध है।

हरि तथा उनकी प्रियतमा के संयोग का आदि कारण, मधुरा नाम की प्रियता रति होती है। इसमें कटाक्ष, भ्रू विक्षेप प्रियवाणी तथा मुस्कानादि लक्षण विद्यमान रहते हैं।

रति का उपर्युक्त विवरण मुख्यारति के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया। अब गौणीरति के स्वरूप का अति संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। जो रति, विभाव के उत्कर्ष से होने वाले भावविशेष को स्वयं संकुचित होती हुई प्रकट करती है, उसे गौणी रति कहते हैं। इस रति के अन्तर्गत हास विस्मय उत्साह, शोक क्रोध, भय तथा जुगुप्सा भेद से सात प्रकार के भाव विशेष बतलाये गये हैं, किन्तु जो मुख्यारति है वही स्थायी रसावस्था को प्राप्त करती है। इन सप्त हासादि में रहने वाली रति स्थायी रस अवस्था को प्राप्त नहीं करती अस्तु इस दृष्टि से मुख्यारति ही महाशक्तिशाली विलास से युक्त अविस्मय तथा श्रेष्ठ है।

माधुर्य का आश्रय होने से ही कृष्ण के प्रति रति जागृत होती है। इस प्रकार यही माधुर्य रति का विस्तार निरंतर करता रहता है। मधुरा नाम की जिस रति की चर्चा मुख्यारति के अन्तर्गत भेद रूप में की गई, उसके तीन प्रकार "उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ में कहे गये हैं, यथा—१—साधारणी रति २—समञ्जसा रति, ३—समर्था रति।[1]

---

१ साधारणी निगदिता समञ्जसासौ समर्था च,
कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः ॥१७॥

कुब्जा आदि स्त्रियों में मणि की भाँति साधारणी रति चमत्कृत हुई है, किन्तु इस रति का पाना अत्यन्त कठिन है। समंजसा रति श्रीकृष्ण की पट रानियों में चिन्तामणि की भाँति चमत्कृत हुई है, जो सब प्रकार से दुर्लभ है। और समर्था रति गोकुल की देवियों में कौस्तुभ मणि की तरह चमत्कृत हुई है, यह रति गोपियों की अपेक्षा अन्य किसी में भी नहीं हो सकती। साधारणी रति अति सान्द्र नहीं होती है और प्रायः हरि के दर्शन से ही उत्पन्न हो जाती है। संभोग की इच्छा ही इस रति का अन्तिम लक्ष्य होता है। इस साधारणी रति के असान्द्र होने से संभोगेच्छा का इससे पृथक्करण रहता है। संभोगेच्छा के ह्रास होने से रति का भी ह्रास हो जाता है, क्योंकि संभोग की इच्छा के कारण ही यह उत्पन्न होती है।

पत्नीभाव की अभिमानयुक्त बुद्धिवाली गुणादि श्रवण से उत्पन्न होने वाली कहीं संभोगेच्छा से पृथक् तथा सान्द्र समंजसा रति प्रसिद्ध है। रुक्मिणी की रति इसी प्रकार की थी। इस समंजसा रति में संभोग की इच्छा जब भिन्न या अलग हो जाती है तब संभोग की इच्छा से होने वाले भावों से श्रीकृष्ण को वश में करना दुष्कर हो जाता है, जैसे मुस्कान से युक्त अवलोकन से परिपूर्ण भाव द्वारा तथा अपने मनोहर कटाक्ष द्वारा संभोग रूपी मंच में दस कामदेव के बाण वाले अपने हावभावादि से सोलह सहस्र पत्नियाँ भी उन कृष्ण की इन्द्रियों को विचलित करने में समर्थ नहीं हुई। यहाँ संभोग की इच्छा तो है, किन्तु समंजसा रति के अभाव में कृष्ण को वश में करना दुष्कर है।

जब किसी अनिर्वचनीय विशेषता से युक्त रति के साथ संभोगेच्छा तादात्म्य भाव में रहती है, तब उसे समर्था रति कहते हैं। इस रति में कुल, धर्म, लोक-लज्जा आदि का विस्मरण हो जाता है, इसलिये इसे सान्द्रतम तथा समर्था रति की संज्ञा आचार्य रूपगोस्वामी ने प्रदान की है। सभी प्रकार के आश्चर्ययुक्त विलास की तरंगों के चमत्कार को करने वाली शोभा से युक्त इस समर्था रति से संभोगेच्छा कभी पृथक् नहीं होती है। इस समर्थारति में कृष्ण-सौख्य के लिये ही उद्योग होता है। समंजसा रति में तो अपने सुख के लिए भी प्रयत्न हो जाता है। यही समर्था रति इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में

मणिवद्विरला मणिवरकौस्तुभ मणिवद्विभाभिमता ॥

—उज्ज्वलनीलमणि जीवगोस्वामी भाष्य पृ० ४००

अर्पित महाभाव दशा को प्राप्त कर लेती हैं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में उद्धव भी गोपियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि ये ही गोप-वधुएँ पृथ्वी के ऊपर सफल मानव शरीर को धारण किये हैं जो अखिलात्मा श्री गोविन्द में इस प्रकार अपने भाव को आत्मरूप बनाये हुये रह रही हैं। इसी भाव को संसार से भय प्राप्त करने वाले मुक्त मुनि तथा हम भक्त सर्वदा प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। अनन्त की कथा मात्र में अनुराग रखने तथा ब्रह्मा के बहुत जन्मों के धारण करने ही से कोई लाभ नहीं यदि यह भाव प्राप्त न हो।[1] गोपियों की इस परम भावमयी समर्था रति में यह विशेषता है कि इसमें अपने सुख की कामना न होते हुये भी परम सुख का उपभोग विद्यमान है। इन रतिमग्ना गोपियों के लिये न तो स्वतंत्र दर्शन का आनंद है और न स्वतंत्र शृंगार का, न स्वतंत्र विहार का सुख है और न किसी स्वतंत्र कार्य का। उनके कारण उनके प्रियतम कृष्ण को निरंतर सुख प्राप्त होना चाहिए—यही उनका एकमात्र साध्य है। उनके रूप-यौवन शृंगार, केशपाश तथा वस्त्राभूषण सब की सफलता इसी में थी कि श्रीकृष्ण उसे देखें और प्रसन्न हों। अभिप्राय यह कि गोपियों ने अपने शरीर को अपना नहीं समझा वरन् अपने परम प्रियतम का समझ कर निधि रूप में उसे सुरक्षित तथा प्रफुल्लित रखा। गोपियों के हृदय का तो कहना ही क्या है? वह तो परम मधुररस के आनंद का साम्राज्य है और कृष्ण भी इसी साम्राज्य के सम्राट हैं। इस साम्राज्य का विलास प्रत्येक के नेत्रों का विषय नहीं बन सकता। यह तो केवल गोपी भावाश्रित उपासकों के ही अनुभव का विषय है। अगले अध्याय में इस रति माधुर्य का विशद विवेचन किया जायगा।

---

१ एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥
—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध

द्रष्टव्य—रति का यह शास्त्रीय वर्णन 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ के आधार पर यहाँ किया गया है।

चौथा अध्याय

हिन्दी में कृष्णभक्त-कवियों का रति माधुर्य

हिन्दी में कृष्णभक्त कवियों का रति-माधुर्य

पूर्व प्रकरण में मधुर उपासना करने वाले रसिक भक्तों द्वारा अभिव्यंजित उस समर्था रति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें प्रिय-सौख्य के हेतु ही प्रेमी की समस्त चेष्टायें होती हैं। ब्रज की सुरम्यस्थली में निवास करने वाली, समर्था रति से युक्त गोपियों की समस्त चेष्टाओं का एकमात्र उद्देश्य था—अपने प्रियतम को तृप्त करना। अपने सुख की किंचित्‌मात्र भी चिंता न करते हुए, उन गोपांगनाओं ने उनके संयोग के परम सुख का अनुभव किया था और प्रियतम के रसमय हृदय को पाकर ही अपना सर्वस्व उन्हें सौंप दिया था। वहाँ गोपी श्याममयी थी और श्याम गोपीमय।

रसिक भक्तों ने इस समर्था रति को अपने हृदय में धारण करते हुये चंचली झाड़ियों के मध्य कोटों में रहकर निरंतर इसी राधाकृष्ण-संयोग के सुधामृत को अपने नेत्रों से पान किया था और वियोग में संचित मधुर रस की काव्यमयी मन्दाकिनी को प्रवाहित कर पत्थरों को भी रससिक्त कर दिया था। नित्य संयोगी प्रिया और प्रियतम का पारस्परिक अनुराग तथा उनकी स्निग्ध रस क्रीड़ा को देखते हुये इन रसिकों के नेत्र कभी थकते न थे। युगल शतक के रचयिता भक्तप्रवर श्रीभट्टदेवाचार्य लिखते हैं —

परस्पर निरखि चकित भये नैन।
प्रेम भरा भरि राधे सों बोलत अमृत बैन।
हार उदार विहार निहारौं राधे यह मन सैन।
जै श्रीभट लटकि जानि हितकारिन भई स्याम सुखदैन ॥११॥

—युगलशतक पृ० ८६

मधुर संयोग की इसी झाँकी की अनुभूति प्राप्त करने के लिए साधकों की समस्त साधनायें सम्पन्न होती हैं। इस रसमय स्नेह का साम्राज्य रहस्यमय है। यह इतना विस्तृत तथा गंभीर है कि मानव उसे हृदयंगम करना तो दूर रहा अनुमान के सहारे छू भी नहीं पाता। राधिका के साथ कुंजबिहार देखने की

लालसा कोई रूपरसिक ही कर सकता है। देखिये, निम्नलिखित पंक्तियों में साधक की आकांक्षा का अनुभव है।—

हिलमिलि बिलसति हमैं हूं सुख दीजिये।
अति ही उदारि प्यारी इतनी न कीजिये।
कोमल तमाल लाल अंक भरि लीजिये।
कंचन की बेलि ज्यों लडेलि लपटीजिये।
सरस सुभाव ही तें सब बिधि कीजिये।
रूपरसिक महामधुपान पीजिये ॥ २ ॥ १८ ॥

—श्रीलीलाविंशति और निम्बार्क० पत्रा० पृष्ठ ७१

संयोग-माधुर्य की स्थिति में राधाकृष्ण की पारस्परिक तन्मयता के वे पावन क्षण अत्यंत मधुर एवं आत्मविस्मृति से पूर्ण आनंद की सर्वोच्चावस्था की सृष्टि करने वाले हैं। इसके अन्तर्गत भक्तों ने युगल इष्टदेव से सम्बंधित विभिन्न परिस्थितियों एवं चेष्टाओं का वर्णन किया है, यथा—

कुंजविहार—

आत्म-संयोग-सुख की प्राप्ति के लिये कृष्ण किसी कुंज में राधा के साथ शय्या पर विराजमान हैं। वे अनन्य रसमयी वार्ता में संलग्न हैं। क्षण भर में अपनी प्यारी राधिका से वार्ता करते ही कृष्ण राधा के वश में और राधा कृष्ण के वश मे हो जाती हैं।

श्याम-श्यामा के इस सहज नेह को अपने हृदय में धारण कर रसिक आत्मविभोर हो जाते हैं। उन दम्पति किशोर का वार्तालाप संयोग के हेतु कभी तो नेत्रों में होता है कभी संकेतों में और कभी बोलों में। निरंतर सेवा करने वाली सहस्रों सखियाँ भी इनकी इस रहस्य-वार्ता को समझ कर भी नहीं समझ पातीं। रूपरसिक जी लिखते हैं।—

दोउ जन नैनन ही बतरावैं।
स्यामा स्याम सखिन के संगहि भेद न कोऊ पावैं।
रहसि रंगराते रसमाते छाके सुधि बिसरावैं।
कहत नटत रीझत, खिजिआवत हिलत मिलत लगि जावैं।
मन ही मन बिच अंक भरत पुनि हिय आनंद बढ़ावैं।
चोरा चोरी चलन कनाखनि सबकी दीठि बचावैं।
जानति जिय की बात जोई यह जाहि जु आप जनावैं।

रूप रसिक मदभामिनि सहचरि निपट निरन्तर ध्यावैं ॥ २९ ॥

—लीलाविंशति नित्य विहार पदावली पृ० १७-१८

इस माधुर्य रस में तन्मय राधा कृष्ण की छवि का वर्णन करने के लिये रसिक जन आकुल रहते हैं—उपमा दृष्टि में नहीं आती। जब कभी लवंग की लता के मध्य विरचित कुसुम शय्या पर रूप-कुमारी राधिका के साथ श्यामसुन्दर विहार करते हुये अपनी प्रिया को अपना स्नेह प्रदान करते हैं, तो सिद्ध मधुर उपासक पागल हो उठता है और कहता है—

आजु लवंग लता गृह विहरत राजत कुंजविहारी।
कुसुम निकर सचि ललित सेज रचि नखसिख कुँवरि सिंगारी।
प्रथम अंग-प्रति अंग संग करि, मुख-चुम्बन सुखकारी।
तब कंचुकि बंद खोलत, बोलत चाटु वचन दुखहारी।
हस्त-कमल करि विमल उरज धरि, हरि पावत सुखभारी।
अधर सुधा-मद मादक पीवत आरज पथ सों सींव बिदारी।
वृन्दावन-लीला रस लूटनि, चाहत 'व्यास' बिहारी ॥ १२९ ॥

—भक्तकवि व्यास पृ० २७१-७२

भक्त राधा कृष्ण की इस परम स्नेहमयी झाँकी को अपने हृदय में बसाकर कृतकृत्य होना चाहता है—

बसौ उर मेरे यही ये दुहुन की अतिरति सहज सनेह।

—महावाणी, हरिव्यासदेवाचार्य पृ० १२२

रसानुराग-सुख—

संयोग के इस परमानंद का पूर्ण अवसर प्रिया प्रियतम को और प्रियतम प्रिया को समान रूप से देते हैं। राधा नेत्रों से माधव को सब कुछ बतला देती हैं और माधव राधा को वैसा ही रहस्यमय उत्तर भी दे देते हैं। संकेतस्थल पर नवीन कुंज के भीतर प्रतिदिन नवीन प्रेम को हृदय में धारण कर नवीन शृंगार से युक्त होकर दोनों पहुँच जाते हैं और नवीन-नवीन प्रणालियों से यमुना के सुन्दर कूल पर अपने प्रेम को परस्पर प्रकट करते हैं। पारस्परिक अनुराग में दोनों के शरीर शिथिल हो जाते हैं वस्त्र छूट जाते हैं और तन्मयता की चरम स्थिति में पहुँच कर दोनों रसमय हो जाते हैं। रसिक भक्त इसी रूप की पुनीत झाँकी के सुख हेतु निरंतर अपनी साधना में प्रयत्नशील रहता है। इस नवनिकुंज में अपनी आह्लादिनी शक्ति के साथ

मिले हुये मरह लाच्छित कृष्ण अपने भक्तों के लिये ही ऐसे सुशोभित होते हैं, जैसे कनकबेलि से आच्छादित तमाल जिसमें रूप भी है और रस भी। यथा—

नवल निकुंज प्रान प्यारी संग
विहरत सुरत-केलि रस रठन समोरें।
सीतल पवन सुगंध सचरित बैठे
दोऊ दिये माल चन्दन की खोरें।
कालिन्दी बहुत निकट ताको अति
निर्मल जल छिरकत कुंजन में चहुँ ओरें।
चतुर्भुज स्याम तमाल पर लपटी कनक बेलि,
मानो रति रन थक्यो प्रेम रंग रस बोरें ।।२०७।।

—चतुर्भुजदास प० सं० पृ० १११

संयोगी जीवन में प्रेमातिरेक के कारण पारस्परिक स्पर्धा का भाव बड़ा ही स्पृहणीय होता है। यह वह स्पर्धा है जहाँ जीत कर भी हारते रहने की कामना पालित पोषित होती है।

युगल प्रतिस्पर्धा —

विहार सुख की इस सरस झाँकी का चित्रण करते हुये नंददास जी कुंजभवन में होने वाली प्रतिस्पर्धा का एक रूप उपस्थित करते हुये लिखते हैं—

बेसर कौन की अति नीकी।
होड़ परी प्रीतम अरु प्यारी अपने अपने जी की।
न्याय परो ललिता के आगे कौन सरस को फीकी।
नंददास प्रभु बिलगि बिन मानी कछु इक सरस लली की ।।६८।।

—नंददास ग्रन्थावली पृ० १४९

बेसर की इस प्रतिस्पर्धा में ललिता सखी ने राधा की विजय करा दी। विजय के इस उल्लास में रसिकों का कुंज भवन जगमगा उठा, रस की वर्षा होने लगी और श्यामा श्याम एक दूसरे को रिझाने लगे। आनंद में तन्मय होकर नंद-नंदन तो भक्तों के सुख-हेतु पिचकारी मारकर पावस करने लगे, यथा—

मिले दोऊ कुंजमहल मनभावन ।
कुसुम रचित सिज्या पर बिहरत विविध गुनगावन ।
रतिरस श्रमित अवलोकत पूछत पीत बसन मुख सिरावन ।
गोविन्द प्रभु पिय सब गुन आगर मगन भये लागे गावन ।।
—गोविन्दस्वामी पद सं० पृ० १५२

किशोरी भावना को अपने हृदय में धारण किए हुए, माधुर्योपासकों ने राधा माधव युगल का सामीप्य प्राप्त कर उनके संयोग-सुख का अत्यन्त विशुद्ध भावना से रसमय वर्णन प्रस्तुत किया है। राधा-माधव की भेंट उस रसिक के समक्ष एक ऐसी मधुर छटा के साथ आती है, जिसमें माधव राधा की प्रीति में और राधा माधव की प्रीति के रंग में रंग जाते हैं। संयोग की मधुरिमा पारस्परिक संयोग से द्विगुणित हो जाती है। इस दृष्टि से अब संयोगी कृष्ण की छटा देखिये और साथ ही रसिकों की रसमग्नता का मधुर आनंद वर्णन भी।

संयोग-माधुर्य वर्णन में कृष्ण—

भक्तों ने मधाभावस्था में कृष्ण को प्रारंभिक चेष्टायें करते हुए देखा है। प्रकृति यद्यपि पुरुष से अभिन्न है, पर पुरुष सतत् उसकी कृपा प्रसन्नता के लिये लालायित है। उस प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिए वह नाना प्रयत्न भी करता है। इसीलिये तो कृष्ण राधा के लिए कुंज-शय्या की रचना करते हैं—

निज कर अपने स्याम सँवारी ।
सुरत सेज राधाधव मन्दिर शोभानिधि रुचि सिद्धि सहारी ।
हितु के हित हरषि सुन्दर कर अतिहि अनूप रची रुचिकारी ।
जैं भोंमट करत परिचर्या निरखत प्रानवल्लभा प्यारी ।।५१।।
—युगल शतक पृ० ८१

प्रिया के रूप रंग के रसिक कृष्ण—

जिस सुरत शय्या पर श्यामसुन्दर का अपनी प्यारी से मिलन होता है, उसे वे स्वयं अपने हाथों से सजाते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि संयोगिनी राधा इससे प्रसन्न ही होंगी। राधिका की उपस्थिति कृष्ण के लिये सब अर्थन सिद्धिकारिणी होती है।[1] राधा के तेजस्वी रूप को देखकर

---

१ दौरि भई लाल की मनि चिन्तित ।
इन सपन समन लगत न सम ह्वै अति उपल पुलक ।

कृष्ण प्रेमावेश में अपनी प्यारी के चरण तक दबाने लगते हैं, उस समय उनके मुख से राधे राधे के सिवाय और कुछ नहीं निकलता । राधा के रूप-सौन्दर्य पर स्वयं तो मुग्ध हैं ही, इसके साथ ही राधा को भी उसकी रूपराशि का अनुभव वे कराना चाहते हैं । इस दृष्टि से माधव प्रिया जी को दर्पण दिखलाते हैं और वे अपने केशपाश में लगे हुये मोतियों को संवारने लगती हैं । कभी कृष्ण अपलक नेत्रों द्वारा रूप रस का पान करते हैं और कभी बेसुध हो जाते हैं ।[2]

कृष्ण कभी राधिका की उलझी हुई वेणी स्वयं गूँथने लगते हैं और बीच बीच में पुष्प पिरो देते हैं और कभी कंघी से प्यारी के बालों को सँवार देते हैं। एक अनोखी छटा को लिए हुए प्यारे कृष्ण का यह संयोग-सुख रसिकों के हृदय को भी आनन्द से भर देता है और वे उसी रंग में झूमने लगते हैं। सौन्दर्य-माधुर्य की भण्डार वृषभानु लली के प्राणों में प्राण तन में तन आँखों में आँखें डालकर कृष्ण अत्यन्त दीन बन जाते हैं। एक क्षण भी राधा का वियोग वे सहन नहीं कर सकते—अपनी प्यारी से अपने हृदय की यह बात भी बतला देते हैं और उनकी बाहों में समा जाना चाहते हैं, यथा—

> ऐसी जीय होत जो जीय सौं जीय मिलै,
> तन सौं तन समाइ ल्यौं तौ देखौं कहा हो प्यारी ।
> तोही सौंहि लग आँखिन सौं आँखें
> मिली रहैं जीवन को यहै लहा हो प्यारी ।
> मोको इती साध कहाँ री प्यारी हौं अति दीन,
> तुव बस मुखछैन जाय न सहा हो प्यारी ।
> श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कहत राति लै,
> बाँहू बस हो बपुरा काम कहा हो प्यारी ॥ ३२
>
> —केलिमाल पृ० १६

रूप-रस बोय रहे सुख-सेज लै रंग रस लपट बिबस ।
श्रीहरिप्रिया-तन-तेज के आगे अबल न लागे अरस ।
—महावाणी सुरत सुख पृ० १४०

२ कर लै दरपन स्याम दिखावत स्यामा जू सँवारत मोत के मोती ।
इकटक रहे निरखि मुखचन्द्र सुधा पान अतिवचनी की जोती ।
रूपरसिक रस-चसक चखे चखि छवि छवि सखी लोभ अघहोती ।
कहत न बैन्त बनत मों पे अति गुदि बदि मरन भई तनमोती ॥१३॥
—लीला वि० नित्यविहार पदा० पृ० ८०

शृंगार प्रसाधन—

देवताओं के द्वारा अचिन्त्य मदनमोहन जब कभी अपनी प्यारी को स्वयं सजाते हैं तो रसिकों की मति की गति भी भटक जाती है। एक बार नंदनदन ने राधा प्यारी के मस्तक पर मृगमद का सना हुआ तिलक लगाया, कानों में कुण्डल पहिनाये, कोमल करों से उनके केश-पुष्पों से गूँथे, नेत्रों में अंजन लगाया और कंठ में माला पहिनाई। प्रियतम के कोमल करों से सजाई गई राधा का सौन्दर्य मूर्तिमान हो गया कृष्ण आतुर हो गये, राधिका ने मुस्कान से प्यारे के चित्त को चुरा लिया रसिकों ने भी अपना मन समर्पित किया और वे गा उठे—

लाल प्रिया को सिंगार बनावत।
कोमल कर कुसुमनि कच गूँथत मृगमद आड़ रचत लघु पावत।
अंजन मन रंजन नयवर करि, चित्त बनाइ-बनाइ रिझावत।
नैन बनाइ भाय अति उरजत, दोम रसाल माल पहिरावत।
अति आतुर आसक्त दीन भये, चितवत कुँवरि कुँवर मन भावत।
नैननि में मुसिकान आनि प्रिय, प्रेम विवस हँसि कंठ लगावत।
रुरा रंग सौंधा भुजग्रीवा हँसत परस्पर मदन लड़ावत।
सरसदास सुख निरख निहाल भये, गई निसा नव नव
गुन गावत॥ ६॥

—श्रीअष्टाचार्यों की बानी पृ० ६८०

कृष्ण कभी शरद् चन्द्रिका में कुंज विहार करने के लिये प्रस्ताव करते हैं,[१] कभी राधा की अनोखी रूप राशि की छवि को देखने के लिए अत्यधिक

---

१ एक बात कहौं भावनि जनि चित्त दै सुनौ प्यारी।
सुमग कूल फूल वृन्दावन तैसी ये सरद उजियारी।
चलि राग मतर सुम मूहें लागी रहैं सब प्यारी।
मोहि तोहि यहाँ भावतो भूले रह न सुरति सम्हारी।
कहौं न तरकौ होइ चंद्रिन को यह दुरि करत बिहारी।
श्रीनरहरिदास विष मन की जानो आगे सेज संभारी।

—श्रीअष्टाचार्यों की बानी पृ० ७०८

दत्तचित्त हो अपने नेत्रों को उन्हीं पर लगा देते हैं।[1] वे कभी तो अद्भुत शृंगार से सुसज्जित हो सखी का वेष बनाकर राधा को हँसने के ब्याज से प्रेम से उनके पदों की सेवा करते हैं, कभी जहाँ राधा जाती है वहाँ पलक पाँवड़े बिछाते हैं, और कभी उनके मुख-कमल को अपलक नेत्रों से निहारने लगते हैं। राधा के संयोग रस के निरंतर अभिलाषी मदनमोहन प्रेमावेश में राधा प्यारी के पैरों में महावर लगाने लगते हैं ठीक से विचित्र प्रकार के चित्रों का चरण-युगल में निर्माण करने लगते हैं और कभी उन चरणों के सौन्दर्य को देखकर विवश हो जाते हैं। राधिका मना करती है—अपने पैरों को छिपाने लगती है,[2] किन्तु कृष्ण नहीं समझते और प्रिया की अपराधि में उनके स्पर्श से उलझते ही जाते हैं। मोहन के चित्त में उठते हुये मनोरथ को प्रिया भी समझ-समझ कर मधुर मुस्कान से प्रगट करती है।[3] इस प्रकार प्यारी के संयोग सुख में लीन प्यारे कृष्ण अपने रसिक भक्तों के हृदय

---

१ मोहन मोहिनी रस भरे।
भौंह मोरनि नैन फेरनि तहाँ ते नहिं टरे।
अंग निरखि अनंग लज्जित सकै नहिं ठहराइ।
एक की कहु चले, सत सत कोटि रहत लजाइ।
इते पर हस्तकनि गति-छबि नृत्य भेद अपार।
उड़त अंचल, प्रगटि कुच दोउ कनकमय रस सार।
दरकि कंचुकि तरकि माला, रही धरनी जाइ।
सूर प्रभु करि निरखि करुना तुरत लई उठाइ ॥११४१॥१७६१॥
— सूरसागर (ना०प्र०स०) पृ ६०४

२ भरी प्यारी के लाल आये देन महावर पाय।
जब भरि लीनहि चहत स्याम पग दीजै चित्र विचित्र बनाय।
रहत लुभाय चरन लखि इकटक विवस होत रंच भर्‍यौ न जाय।
'नंददास' छिपि चहत लाड़िली रहौ रही तब पगनि दुराय ॥
—नंददास ग्रंथावली (ना० प्र० स०) पृ १४७

३ मोहन के मन में मनोरथ उठत जो जो
समुझि समुझि प्यारी मन मुसकावहीं।
—माधुरीवाणी-वंशीवट माधुरी पृ० २८-२९

को आह्लादित कर उन्हें आनंद प्रदान करते हैं। उन रसिक-भक्तों के नेत्र बरबस संयोग की उस माधुरी का पान करने के हेतु वहीं जाकर अटक जाते हैं, जहाँ राधा के साथ कृष्ण रममाण रहते हैं। वहीं उनकी साधना सफल हो जाती है।

संयोग-माधुर्य वर्णन में राधा आदि गोपियाँ —

भक्त कवियों ने जिस प्रकार कृष्ण के संयोग माधुर्य का वर्णन किया है, उसी प्रकार राधा आदि गोपियों के भी संयोग-माधुर्य का वर्णन किया है। साँवर चन्द्र गोविन्द के रंग में रंगी कांचन के समान सुमधुर भाविनी राधा निरन्तर मदन श्याम के साथ यमुना के पुलिन पर विहार करती हैं—वे एक पल के लिये भी कृष्ण का वियोग नहीं सहन कर सकतीं। अस्तु वे निरंतर मदन प्यारे के साथ आह्लादित होकर गाढ़तम माधुर्य रस को प्रकट करती हैं। वे अपनी विभिन्न क्रीड़ाओं द्वारा कृष्ण का मनोरंजन करती हैं तथा अपनी रसमयता द्वारा उन्हें पूर्णतः आप्लावित कर देती हैं।[1] संयोग-क्रीड़ा में कृष्ण द्वारा राधा पर पड़ने वाले प्रभावों का भी रसिक कवियों ने वर्णन किया है। ये प्रभाव उन की सौंदर्य वृद्धि करते हैं राधिका के सौन्दर्य का यह माधुर्य रसिक भक्तों की उपासना का प्राण है। भाव जगत में प्रत्यक्ष रूप का दर्शन वे निरंतर करते रहते हैं।

स्वामिनी के रतिसुख के रसास्वाद का पान ही तो उन साधकों की सबसे बड़ी सिद्धि है जिसके समक्ष समस्त प्रकार के ऐश्वर्य विस्मृत हो जाते हैं यहाँ

---

१ अवनि मग उमंगनि भरि भरि मलक लड़ी लड़कावति भामहि।
सैसै मुरल मुख-कमल पर दैदै अधर-सुधा प्रतिपालहि।
मद मराल मद मधुर चालों कलकिंकिनि-रव-रंजित रसालहि।
श्रीहरिप्रिया प्रेम रस भरट अपार मदन वर ऊपर वारहिं।
—महावाणी—सुरतसुख पृ० ११८

२ रही हरि भाल ते बेंदी बाल के खैर उनिल के तट।
मनि मनि मौन रही मनि मृगमद अदन अधर मुख वर।
बिथर हार गंधनि पर मलित पीत मुलीक अमर।
श्रीहरिप्रिया मदन रस भौनि परी दवि देन मुदर।
—महावाणी—सुरतसुख पृ० १४२

तक कि मोक्ष भी। ये राधा स्वामिनी ही हैं, जो मधुर रसोपासकों के हेतु माधव के रंग में रँगी हुई मरकत मणियों से निर्मित निकुंज में गज के समान झूमती हैं।

राधा संयोग-सुख की तन्मयता —

स्नेह से सराबोर राधिका अपने प्रियतम को अत्यन्त कृपापूर्वक रस का दान करती है।[1] कुंज के मध्य प्रिया भी प्रिय को साथ लेकर शय्या पर विराजते हुये उन्हें हृदय से लगा लेती है। अंग प्रत्यंग प्रेम से प्रफुल्लित होने लगता है। उन्होंने कृष्ण से कहा कि हे प्रियतम देखो यह रस इधर उधर फैल न जाय अस्तु अविलम्ब इसे अपने अधरों से पान कर लो।[2] इस प्रकार कहती हुई संयोग के सुख में तन्मय राधा अपने को सम्हाल नहीं पाती—

आज सम्हारत नाहिन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यों सुरत-समुद्र झकोरी।
आलस वलित अरुन धूसर मषि प्रगट करत दृग चोरी।
पिय पर करुन अमीरस बरषत अधर अरुनता बोरी।
बाँधत भृंग उरज अम्बुज पर अलकनि बंध किशोरी।
संगम किरचि किरचि कंचुकी बंद शिथिल भई कटि डोरी।
देत असीष निरखि जुवती जन जिनके प्रीति न थोरी।
जै श्रीहितहरिवंश विपिन भूतल पर संतत अविचल जोरी।
—हितचौरासी पृ० १४ १५

संयोग-सुख में लीन राधा दर्पातिरेक के कारण कृष्ण से कह उठती है कि हे प्रियतम! आज तुम्हें बिहारी से बिहारिन बनना पड़ेगा यथा—

बिहारी बनो बिहारिन मेरी।
करि कपूर की लेप ललित तन दृग अंजन आंगुरि दऊँ फेरी।

---

1 नागरि निर्तक करि अंक भरि लियो लाल।
सुरत सुधा प्यायो अघवायो ले सुधा रसाल।
हिलि-मिलि रस रंग बढ़ यो अति ही बिसाल।
कब रसिक भई परम कृपाल बाल।
—श्रीलालबिहारी नित्यविहार पदा० पृ० ७६

2 पद सं० ७४, पृ० २६

बदन पान दसन हीरामनि कुन्दन चोंप चमक छवि घेरी।
कर महदी पग मंजु महावर रामराय नारी छवि घेरी।
—प्रादिवाणी, पृ० १४

मानमोचन —

मान संयोगी जीवन का एक विशिष्ट अंग है। प्रणयी जीवन की मधुरिमा मान द्वारा निरंतर संवर्धित होती रहती है। निश्चित समय पर एक बार कृष्ण को न पाकर वृषभानु सखी ने मान किया था। कृष्ण ने सुना वे बेसुध हो गये। राधा ने उनकी दशा को देखा और कहा हे प्यारे! अब मैं तुम से कभी न रहूंगी। तुम्हें निरंतर तुष्ट करती रहूँगी। निश्चय ही तुम मेरे जीव हो और मैं तुम्हारी जीविका तुम मेरे नेत्र हो और मैं उनकी पुतली, तुम मेरे मन हो मैं तुम्हारी मनसा तुम चित हो मैं चिंता तुम शरीर हो मैं आत्मा तुम रक्षक हो मैं धन, तुम विषयी हो मैं विषय तुम भोक्ता हो मैं भोग तुम चकोर हो मैं चांदनी तुम चातक हो मैं घन तुम भ्रमर हो मैं कमल और तुम मीन हो मैं जल इसलिए हे प्यारे, तुम मेरे अधीन हो। हम दोनों ही इस व्रज की सम्पत्ति हैं। हमारी इस राशि के एकमात्र सूत्र के अधिकारी! अब कभी वियोग न होगा।[1] इस प्रकार कृष्ण से कहती हुई राधा जब कृष्ण के नेत्र और कपोलों का चुम्बन कर उन्हें अंक में भर लेती हैं तब साधक अपने इष्टदेव की इस अपूर्व छटा की अभिव्यंजना करने लगता है—

नैननि कपोलनि चूंमि कै लिये अंक भरि लाल।
अधर सुधा रस दे मनों सींचत मैन तमाल॥
अंग-अंग उरझनि की शोभा कही सुभाइ।
मृदुल कनक की बेलि मनों रही तमाल लपटाइ।
छिन-छिन चोंवत चैन मृदु सुनि सुख होत अपार।
रावम रस पोषक सदा कल किंकिनि झुनकार।
प्रथम चौंप दरसनि कही बहुत अमल कछु नाहिं।
पियहिं नाई कुच घटनि सों पैरावति तेहि माहिं।
अति उदार मृदु चित सखी प्रेमसिंधु सुख वारि।
विविध रतन सब अंग जे देत संभारि संभारि।
श्रम जलान मुख गौर पर अलकावलि गई छूट।
दरपी गुथ ठां कंचुकी, हारावलि गइ टूट।

---

१ अष्टकालिक्यास पृ० ११८

पीक कपोलनि लगि रही कहुँ कहुँ अजन लाक।
मनो अनुराग सिंगार मिलि चित्र बनाये नीक।
—ध्रुवदास कृत बयालीस लीला—रसरत्नावली

आत्मविस्मृता राधा

राधा ने अपनी रस राशि का दान श्यामसुन्दर को दिया संयोग के इस अपूर्व रस का पान करते हुये पर्याप्त समयोपरांत राधिका ने घर जाने की इच्छा प्रगट की, किन्तु प म सौन्दर्यमय मदनमोहन को वे कैसे छोड़ें? प्रियतम का संयोग एक क्षण के लिये भी वे छोड़ना नहीं चाहतीं किन्तु क्या करें पुरवासियों की चिंता जो लगी है। वे कृष्ण को प्रबोध करती हुई घर की ओर चलती हैं, कृष्ण व्याकुल होकर गज-गत कर दे" हैं।[1] राधा उनके नेत्रों की ओर देख पुन वश में हो जाती हैं, चलते नहीं बनता सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देने लगते हैं। मदन गोपाल के रंगराती राधा चलने में गिर गिर पड़ती हैं, अधर सुधारस से मत्त संयोग सुख में दिन रात का भान न रखने वाली एक पल भी गोविंद को ओट नहीं होने देना चाहती। वे पुन लौट कर अपने प्रियतम का आलिंगन करती हैं, नेत्र भर आते हैं और कृष्ण की रूप माधुरी का पान करने लगते हैं। और भक्तों के रसास्वाद के लिये ही राधा अपनी रूप की फुलवारी का मधुप पुन श्याम प्यारे को बनाकर कुंज की शोभा को प्रतिक्षण परिवर्धित करने में संलग्न हो जाती हैं, यथा —

सोहत ललन पन छवि भारी।
अद्भुत नप तमाल सों लिपटी कनक बेलि सुकुमारी।
बदन सरोज बहडहे लोचन निरखत छवि गुनहारी।
परमानंद प्रभु मत्त मधुप हैं वृषभान सुता फुलवारी।
—परमानंद पद स पृ १४०

---

१ चलन चहति पग चलै न घर कौं।
छोड़त बनत नहीं कैसे हूँ मोहन सुन्दर वर कौं।
अन्तर नेकु करी नहिं कबहूँ सकुचति ही पुर-नर कौं।
कठ लिए कैसे तपे छोड़ैं, छूटि जात गुन हर कौं।
मन में यह बिचार करि सुन्दरि चली आपने पुर कौं।
सूरदास प्रभु कह्यो ताहु पर घात कर्‌यो नग वर कौं।
—सूरसागर प्रथम खंड (ना॰ प्र॰ स॰) पृ ५९७

अपने प्रियतम के साथ कुंज-भवन रति रस में लीन प्रिया भी अपने शरीर की स्थिति को भूल जाती है कृष्ण के मुख-कमल को देखते-देखते उन्हें वसन का ध्यान नहीं रहता और वे अपने आपको कृष्ण को समर्पित कर देती हैं। वे नहीं चाहतीं कि कृष्ण उनके नेत्रों के सामने से टल जायें, क्योंकि वे ही उनके जीवन हैं।

नृत्य-प्रस्ताव —

श्यामा अपने प्यारे श्याम को रिझाती हैं। उन्हें कृष्ण की प्रियतमा होने का गर्व है। संयोगिनी राधा ने अपने प्रभु से एक बार अपनी ही भाँति नृत्य करने का प्रस्ताव किया और कहा हे प्यारे नृत्य करो। जैसे मैंने नाचकर तुम्हें प्रसन्न किया है उसी प्रकार तुम भी मेरे मन को प्रसन्न कर उसे हर लो। नृत्य में थकने पर जिस प्रकार तुम वायु करके मेरे श्रम का निवारण करते हो वैसी ही मैं भी करूँगी और तुम्हें थकित जानकर कंठ से लगाऊँगी। जिस प्रकार तुम मेरे चरण दबाकर मेरे श्रम को मिटा देते हो तुम्हारे थक जाने पर मैं भी वैसे ही चरण चापूंगी और तुम्हारी ही तरह हँसकर तुम्हें आलिंगन प्रदान करूँगी।'—

हा हा हा पिय नृत्य करो।
जैसें करि मैं तुमहिं रिझाई त्यौं मेरो मन तुमहु हरो।
तुम जैसे श्रम-वायु करत हौ तैसे मैं हु डुलावौंगी।
मैं श्रम-देखि तुम्हारे अंग कौं भुज भरि कंठ लगावौंगी।
मैं हारी त्यौंही तुम हारो, चरन चाँपि श्रम मटौंगी।
सूर स्याम ज्यौं उठंग लइ मोहि त्यौं मैं हूँ हँसि भटौंगी।

—सूरसागर प्र०सं०(ना०प्र०स)पृ १०४

राधा के इस प्रस्ताव पर जब श्यामसुन्दर ने लज्जा के कारण आनाकानी की तब कुँवरि राधिका ने उन्हें अपने साथ नचाना प्रारंभ कर दिया। छीतस्वामी के शब्दों में—

नागरी नवरंग कुँवरि मोहन संग नाँचे।
कटितट पट किंकिनी कल नूपुर रव रुनझुन करें।
निर्तत करत चपल चरन-धान पात साँचे।
उदित मुदित गगन सघन घारन घन भेद भेद।
कोकिल कत गान करति पचम सुर पाँचे।

छीतस्वामी गोवर्धननाथ हाथ वितरत रस,
वर विलास वृंदावन-वास प्रेम रांचै।

—छीतस्वामी पद संग्रह पृ० २

राधा के साथ नृत्य करते हुए गिरधारी स्वयं उस मधुर रस का वितरण करते हैं जो देवताओं को भी दुर्लभ है। बांकेबिहारी को अपने अस लाये हुए सौन्दर्यमय अंगों का दर्शन करा कर अपनी मधुर मुस्कान से उनके चित्त का हरण करते हुए रति-संयोग में श्रीराधिका जिस भावी वियोग का अनुभव करके सिहर उठती हैं और कृष्ण जिसके कारण पागल हो उठते हैं, तब उस वियोग की मधुरिमा का वर्णन किया जायगा। मान्यता है कि वियोग में जो स्नेह संचित होता है वही संयोग में प्रवाहित होता रहता है। इस दृष्टि से प्रिया-प्रियतम का मधुर संयोग सरिता की संगति का प्रतीक है और वियोग अपार रसराशि से भरे हुये सागर का।

संयोगिनी राधा आदि गोपिकाओं का स्वकीयात्मक परकीयात्मक स्वरूप

अपनी-अपनी भावना के अनुसार वैष्णवों के सभी संप्रदायों के रसिक भक्तों ने रसिक शिरोमणि कृष्ण की प्रेमसियों के सम्बन्ध अपने काव्य में वर्णित किये। पूर्व के रसिक भक्तों की दृष्टि में राधा तथा वृन्दावन की गोपियों में कुछ तो परकीया थी और कुछ स्वकीया, कुछ कन्यायें थीं कुछ विवाहिता। ये सभी व्रज की नारियाँ कृष्ण को अपना प्रियतम मानती थी। बहुत से रसिक भक्तों ने कृष्ण के प्रेम में मतवाली बहुत सी व्रज की विवाहिता स्त्रियों को परकीया की श्रेणी में रखा है और अन्य को स्वकीया की श्रेणी में। सौन्दर्य-माधुर्य के एकमात्र भण्डार कृष्ण के साथ संयोग रखने वाली ये गोपिकाएँ कुछ रसिकों की दृष्टि में परकीया थीं। इन रसिकों की धारणा है कि परकीया के प्रेम में संयोग की अत्यन्त उत्कट अभिलाषा छिपी होती है। स्वकीयात्व का अनुभव होने के कारण स्वकीया प्रेयसियों के प्रेम में इतनी तीव्रता नहीं होती है। परकीया के प्रेम की चरम सीमा राधा मूर्तिमान है। चैतन्य चरितामृत में इसे ऐसा ही कहा है यथा—

परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास।

प्रणयपूर्णेर एइ भाव निरवधि—
तारमध्ये श्री राधारभावेर अवधि।
—आदिलीला चतुर्थ अध्याय चैतन्य चरितामृत

किन्तु चैतन्य चरितामृत में इतना होते हुए भी इसी संप्रदाय के अन्य भक्तों ने राधा के स्वकीयात्व का पोषण किया है। उनकी धारणा है कि जहाँ कहीं भी परकीयात्व का समर्थन किया गया है वहाँ रस विशेष की पुष्टि ही उसका एकमात्र कारण है। इस सम्बन्ध में भागवत् संप्रदाय का रचयिता कहता है— श्री जीवगोस्वामी राधा के स्वकीयात्व के ही समर्थक हैं। राधा कृष्णार्चन दीपिका' में उनका स्पष्ट कथन है कि अवतार लीला में जहाँ कहीं श्रीराधा के परकीयात्व का आभास मिलता है वह किसी रस विशेष के पोषणार्थ ही समझना चाहिए। निम्बार्क संप्रदाय के संस्कृत कवि (जयदेव) तथा कुछ भाषा कवि (श्रीवृन्दावनदेवाचार्य आदि) का राधा अभिसार परकीयात्व का सूचक नहीं है अपितु बाल्यकालीन लीलापरक है जो सहज स्वकीया का ही हो सकता है। अतएव राधिका को कृष्ण की स्वकीया पटरानी मानना ही न्याय-संगत है। राधा कृष्ण की विवाहिता थी। अवतार लीला में राधा का विवाह ब्रह्मवैवर्त तथा गर्गसंहिता के प्रमाणों से सिद्ध है। राधा के लिये 'कुमारिका' शब्द का प्रयोग अविवाहिता-सूचक न होकर अवस्थासूचक है।

—भागवत सम्प्रदाय पृ० १४१

निम्बार्क संप्रदाय के रसिक भक्तों ने वल्लभ संप्रदाय के रसिक भक्तों की ही भांति राधा को स्वकीया ही चित्रित कर कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में माना है। समानरूप से अष्टछाप के सभी कवियों ने राधा तथा उनकी गोपियों का वर्णन स्वकीयात्मक ढंग पर करके यह प्रमाणित कर दिया है कि राधा के शरीर के रोम रोम से प्रकट होने वाली सभी गोपियाँ राधा के समान स्वकीया हैं और कृष्ण से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होतीं। राधा के सम्बन्ध में तो आधुनिक युग के महान विचारक डा० मुंशीराम शर्मा ने अपने भारतीय साधना और सूर साहित्य में यहाँ तक कह दिया है कि राधा प्रथम रसवति विलासवती स्वकीया पत्नी के रूप में और पश्चात् विरहाश्रुओं के घूंट चुपचाप पीती हुई विरहिणी आत्मचेतना के संयत रूप में प्रकट हुई है।[1]

१ भारतीय साधना और सूरसाहित्य पृ० ११७

परकीया के प्रेम की तीव्रता के संबन्ध में जो विचार चैतन्यमतानुयायियों का है वह उनकी दृष्टि में भले ही श्रेष्ठ हो किन्तु स्वकीया के पवित्र प्रेम-बन्धन के समक्ष खरा नहीं उतरता। संयोग में स्वकीया का प्रेम जितना मुखर, मानपरिपूर्ण होता है उतना परकीया का नहीं। राधा के सम्बन्ध में यह बात ठीक उतरती प्रतीत होती है। डा० शर्मा के शब्दों में स्वकीया पत्नी के रूप में संयोग में वह (राधा) जितनी मुखर, मानवती और चंचल है, वियोग में उतनी ही संयत और गंभीर।[1]

जहाँ तक शास्त्रीय दृष्टि का प्रश्न है वहाँ तो राधा तथा ब्रज की गोपियों को स्वकीया ही मानना पड़ेगा, भले ही अवस्थासूचक शब्द 'कुमारिका' का प्रयोग किया गया हो किन्तु मधुर उपासना की दृष्टि से स्वकीया तथा परकीया दोनों प्रकार की भावना में कोई पूर्णत्व प्रतीत नहीं होता। मधुर रस-सागर में तैरने वाले तथा गोता लगाकर उसकी गहराई का पता लगाने वाले साधक उपर्युक्त भावना की चिंता न करते हुये शक्तिस्वरूपा गोपांगनाओं को शक्तिमान से पृथक नहीं मानते। जहाँ सब कुछ नित्य है वहाँ स्वकीयात्व-परकीयात्व के लिए कोई विचार नहीं आता। परकीयात्व तथा स्वकीयात्व से बहुत ऊपर की मोहनभावान्तर्गत विलक्षण की स्थिति गोपियों में ही दृष्टिगोचर होती है। जहाँ राधा कृष्ण गोपी ब्रजलीला आदि सभी कुछ नित्य है वहाँ यह भय नहीं रहता। समर्था रति सम्पन्ना गोपियाँ अपनी 'भाव भावना के अन्तर्गत अपनी समस्त चेष्टायें आराध्यदेव के प्रति ही करती हैं। अस्तु, वे न स्वकीया हैं न परकीया क्योंकि लौकिकता के सारे सम्बन्ध यहाँ नाममात्र के लिये भी नहीं रहते। यहाँ तो राधा कृष्ण का सम्बन्ध पूर्णरूपेण शाश्वत है—नित्य है यथा—

नित्यमेव हि दाम्पत्यं श्री राधाकृष्णयोर्यतः ।
पाणिग्रहण सम्बन्धी वर्ण्यते न च वर्ण्यते ।
रसत्वं रसिकत्वं च श्री युग्मे सुप्रतिष्ठितम् ।
दाम्पत्यं च तयोर्नित्यं तथात्वे कारणं यतः ।

— युगलतत्व समीक्षा, ब्रजमधुप पृ० २२१

---

१ भक्तिकालीन साधना और सूरसाहित्य पृ० ११५

निम्बार्क संप्रदाय के रसिक भक्तों ने वृन्दावन के मध्य श्यामसुन्दर के साथ नित्य विहार करने वाली आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा की दृष्टि से ही राधा का वर्णन किया है। स्वामिनी राधा को जिस रूप में राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश ने अपने काव्य में चित्रित किया, वह भी स्वकीया परकीया से बहुत ऊपर की वस्तु है। यहाँ तो राधाभाव ही नित्य है। इस सम्प्रदाय के रसिकों में राधा स्वयं श्रीकृष्ण की आराध्या है।

रसिक भक्तों का वियोग-माधुर्य —

प्रिय वियोग की स्थिति आत्मविस्मृतिकारिणी होती है। इस व्यथा का एकमात्र उपचार प्रिय का संयोग ही है इसीलिये प्रेमी हृदय की समस्त वृत्तियाँ अपने आराध्यदेव में लगकर उनकी समस्त चेष्टाओं को प्रेममय बना देती हैं। वियोग के इन क्षणों में उनका आत्मा स्थायी रूप से अपने प्रिय का भाव सामीप्य प्राप्त कर लेता है और तब वे रस-मग्न हो जाते हैं। ब्रज के मध्य होने वाला यह वियोग बड़ा अटपटा है—सुलझाने से नहीं सुलझता। बड़े-बड़े इस वियोग की अग्नि में तपते रहते हैं

निपट अटपटी चटपटी, ब्रज की प्रेम वियोग।
सुरझाये सुरझें नहीं, अरुझे बहु लोग।

—नन्ददासग्रन्थावली—विरह मंजरी पृ० १६४

इस वियोग की मधुरिमा का रसास्वाद वही कर सकता है, जो मर्यादा रहित होकर निरंतर मदनमोहन का ध्यान करे। रसिकों ने श्यामा का ध्यान किया श्यामा-श्याम ने रसिकों का। राधे ने कृष्ण का ध्यान किया और कृष्ण ने राधे का। परिणामतः ये सभी वियोग के मधुर रस का पान कर एक दूसरे के हृदय-सम्राट बन गये। नन्ददास ने अपनी 'विरह-मंजरी' में इस वियोग के चार प्रकारों का वर्णन किया है यथा—१ प्रत्यक्ष २ पलकान्तर, ३ वनान्तर, ४ देशान्तर। संयोग के समय स्नेहातिरेक में वियोग की कल्पना करने पर हृदय जब पीर का अनुभव करने लगता है तब प्रत्यक्ष वियोग होता है। प्रिय के रूप-सौन्दर्य रसामृत का पान करते समय बार बार गिरकर पलकें जो व्यवधान उपस्थित करती हैं, उसे पलकान्तर वियोग कहते हैं। कृष्ण के वन जाने के उपरांत जो विरह गोपियों को बिना उनके दर्शन के होता था वह वनान्तर वियोग के नाम

से विख्यात है और कृष्ण के मथुरा जाने के पश्चात् जिस वियोग की पीड़ा गोपियों को हुई थी उसे देशान्तर की संज्ञा दी गई है। सर्वेश्वर कृष्ण सर्वेश्वरी राधा तथा उनकी सभी गोपियों ने वियोग-माधुर्य के उपर्युक्त सभी प्रकारों का अनुभव किया था। कुंज के मध्य रति रस में प्रत्यक्ष वियोग का, रूप-सौन्दर्य की छटा निहारने में पलकान्तर वियोग का, वन में विचरण करने वाले कृष्ण के वनान्तर वियोग का और प्रियतम के मथुरा चले जाने के उपरांत ब्रज में रहकर देशान्तर वियोग का अनुभव गोपियों को ही हुआ था। माधुर्योपासकों का व्यक्तित्व राधा माधव के वियोग की अग्नि में तपकर कुन्दन बन गया, तभी तो उन्होंने प्रेम में मतवाले होकर राधा-कृष्ण के वियोग-वर्णन के माध्यम से अपने हृदय में उठने वाली पीर को अपनी कविता में अभिव्यक्त किया है।

वियोग-माधुर्य वर्णन में श्रीकृष्ण

अपनी आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा श्यामा के प्रेम में मतवाले श्याम राधा की अनुपस्थिति में किसी के द्वारा उनके नाम को सुनते ही हृदय में वेदना का अनुभव करते हुये पुलकित हो जाते हैं। उनके अंग प्रत्यंग से रस उमड़ पड़ता है और फिर वे तनिक देर के लिये प्रेम-सागर में डूब जाते हैं। राधा के नाममात्र को सुनकर वियोगी कृष्ण की होने वाली इस दशा का दर्शन कर रसिक अपने भाग्य की सराहना करने लगते हैं। जब थोड़ी देर बाद मंगलमय पुनः राधा की याद करते हैं तो उनकी दशा पागलों की सी हो जाती है—स्वाभाविक ही है शक्ति के बिना शक्तिमान की यह स्थिति। वह शक्तिस्वरूप हृदय में अपनी प्यारी शक्ति के वियोग की पीर लिये हुए वन के मध्य में कभी वनों के गले लगते हैं तो कभी कुंज में कभी जड़वत् हो जाते हैं तो कभी घूमने लगते हैं। प्रिया जी की स्मृति में उन्हें अपने शरीर की सुधि तक नहीं रहती। चेतना के लौटते ही वे श्यामसुन्दर अपनी प्यारी राधा के गुणों का स्मरण कर गायन करने लगते हैं। मुकुट का ध्यान नहीं मुरली का पता नहीं और पीताम्बर की सम्हार नहीं—ऐसी दशा में अपनी पीर भी तो कहते नहीं बनती और कहें भी तो किससे? अनायास ललिता दृष्टि पड़ गई। प्रिया जी की अंतरंग उस सखी को देखते ही पीर हृदय में प्रकट होने लगी। श्याम ने आखिर कहना प्रारंभ ही कर दिया—

कौन सों कहियै मदन पीर।
सुनि ललिता ललिता बिनु छिनु छिनु, जैसो महत शरीर।
जीवन रहत जोय का बिछुरे, काकी कुंज-कुटीर।
मदन-दहन उर-ध्यान उमगि बुझावत लोचन नीर।
प्रान पयान करतु मनन्हें दयें धरत न धीर।
दरसन आस उसास रह्यो, दुखदानि सखिन की भीर।
भूषन दुख-दूषन तन लागत, धूमकेतु सम चीर।
मालावलि व्यालावलि, मुकुट कुकुट बंसी सर ठौर।
कंटक किसलय-सेज, चन्द्रमा-चदन गरल-समीर।
सुनत भयानक मोर चकोर, हंस, पिक, मधुकर, कीर।
करूनाकरि सहचरि लै आई, ये दोऊ रति-रनधीर।
विहरत 'ध्याम स्वामिनिहिं बाढ़ी सुरत नदी गंभीर।

—महाकवि ध्यान पृ० १२१

संदेश —

राधिका को संदेश आ ही गया। कुछ ही समयोपरांत संयामी कृष्ण फिर वियोगी हो गये व और वृन्दावन की वह सुरम्य स्थली पुनः विपरीत हो गई थी। यथार्थ में जिसने कमल के समान मुखवाली राधा की रूपमाधुरी का पान कर लिया और 'अधरामृत' का स्वाद जान गया वह बिना प्रिया के कैसे जी सकता है? आतुरता बढ़ती ही जाती है। कृष्ण स्वगत कहते हैं कि देखो! बिना किसी कारण अपने मान को बढ़ाकर राधिका ने मेरी प्रेम-सुधा को बढ़ा दिया। यह कहते कहते श्याम के नेत्र भर आये वाणी मूक हो गई, मुख सूख गया।[1] इस प्रकार व्याकुल देखकर श्यामसुन्दर के पास

---

[1] व्याकुल वचन कहत है स्याम।
बृथा बावरी मान बढ़ायो और कियो तनु काम।
यह कहतहिं न नैन भरि आये, बाढ़ो बिरह अगाह।
चाहत कह्यो कछु भन्तरा आली दासी कह्यो न जाइ।
और सखी तिहिं अंतर आई, व्याकुल देखि मुरारी।
सूर स्याम मुख देखि चकित भई क्यों तनु रहे बिसारी।

—सूरसागर द्वि०सं०(ना०प्र०स०)पृ०१०६३

कोई सखी आई। उनकी इस दशा को देखकर उसका जी भर आया और उसने नंदनंदन को सान्त्वना देते हुये कहा क्यों बेसुध हो रहे हो? राधा प्यारी की सखी को देखते ही कृष्ण को मानो प्राण मिल गये हों। उन्होंने उससे संदेश तुरंत ले जाने की प्रार्थना की और कहा—

सहचरि, मेरौ संदेसौ कहियहु।
करि मनुहारि, बारिजस पीवहु पद-पंकज गहि रहियहु।
जो कछु कहैं किसोरी मोंसों तू सब सनमुख सहियहु।
मेरे ओर तें बड़ी बेर लौं, कुच-आँकौ भरि रहियहु।
मेरे दुख-सागरहिं सोखि, सुखसागर बस बस सहियहु।
इतनौ करउ 'व्यास' स्वामिनि कहँ पिय हिय ओर निबहियहु।

—भक्तकवि व्यास पृ०३२१

सहचरी ने माधव की बात बड़े ध्यान से सुनी, हृदय में विरह की पीर का अनुभव किया और फिर राधा से जाकर कहा—

बसहिं किमि मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिनु कुंवरि कोटि वनिता-युत मथत मदन की पीर।
गद्गद सुर विरहाकुल पुलकित, स्रवत विलोचन नीर।
क्वासि क्वासि वृषभानुनंदिनी बिलपति विपिन अधीर।
वंशी विशिष व्यालमालावलि पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर।
श्रीहितहरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।
सुनि भयभीत बज्र कौं पंजर सुरत सूर रणबीर।

—हितचौरासी पृ०१६

प्रतीक्षा—

सखी के वचन सुनकर कोमल हृदयवाली राधिका अपने प्यारे कृष्ण के संयोग के हेतु चल पड़ीं। मार्ग में किसी सखी ने मिलकर कहा "हे राधे! वियोगी वनचारी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। यमुना के पुलिन पर लताओं से आच्छादित कुंज के मध्य में उन्होंने आज स्वयं शय्या की रचना की है। हे प्यारी! शीघ्र चलो!" विरहमग्न आतुरता की प्रतीक्षा में—

वृन्दावन बैठे मग जोवत मनवारी।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै,
बंसीवट जमुनातट निपट निकट वारी।
कुंजन की लता ललित कुसुमन की,
सेज्या रचि बैठे नटनागर नव लमनविहारी।
श्रीसूरदासमदनमोहन तेरो मग जोवत चलहु बेगि
तू ही प्रान प्यारी।

—वाणी सूरदासमदनमोहन की पृ०१२

वियोग की स्मृति —

एक-एक क्षण पर कृष्ण को राधा का स्मरण हो आता है। स्मृति-पटल पर राधा की छवि को देखते ही प्यारी की प्रतीक्षा करते वाले माधव के नेत्र डबडबा आते हैं और तब सखी राधा से कहती है :—

जब-जब तेरी सुरति करत।
तब-तब डबडबाइ दोउ लोचन उमंगि भरत।
जैसे मीन कमल-दल कौं चलि अधिक अरत।
पलक-कपाट न होत तबहिं तैं निकसि परत।
आँसु परत ढरि-ढरि उर मुक्ता मनहुँ झरत।
सहज गिरा बोलत न बनत हित हेरि हरत।
राधा! नैन चकोर बिना मुख चन्द्र जरत।
सूर स्याम तव दरस बिना नहिं धीर धरत ॥२८८४॥३२०२॥

—सूरसागर (ना०प्र०स०)

मूर्च्छना —

बाह्य मारिनी शक्ति के अभाव में बाह्य भाव कहाँ? और धारणा के अभाव में धैर्य कहाँ? जब राधा नहीं दिखाई देती, तो कृष्ण उनके नाम की रट लगाने लगते हैं, यहाँ तक कि मूर्च्छित हो जाते हैं, दिन और रात बिना भोजन पानी के यों ही बीत जाता है। सखियाँ देखती हैं, बांह पकड़कर जगाते हुये उनके प्रेम की सराहना करती हैं और कहती हैं—हे प्यारे! प्यारी की भी यही दशा है, यथा—

हरि-मुख राधा-राधा बानी।
धरनी परे अचेत नहीं सुधि सखी देखि अकुलानी।
बासर गयो रैनि इक बीती, बिनु भोजन बिनु पानी।
बाँह पकरि तब सखिन जगायो, धनि-धनि सारंग पानी।
ह्याँ तुम बिवस भये हो ऐसे, ह्वाँ सौ वै बिलसानी।
सूर बने दोउ नारि पुरुष तुम, दुहुँ की अकथ कहानी।

—सूरसागर(ना०प्र०स)२७१६।१११७७

रसिकों के इष्टदेव राधा-माधव की इस अकथ कहानी में दर्द है। वह भी एक तरफ नहीं दोनों तरफ। राधा भी अपने प्रियतम की भाँति ही उन्हें पाने के लिये निरंतर आकुल रहती हैं। अस्तु, अब सखियों सहित राधिका के वियोग-माधुर्य-जन्य रस का वर्णन करते हैं।

वियोग माधुर्य वर्णन में वियोगिनी राधा आदि गोपियाँ

प्रणयी जीवन में संयोग की अपेक्षा वियोग का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है, क्योंकि वियोग में प्रियतम की मूर्ति सर्वत्र सर्वकाल में दृष्टिगोचर होती है। प्रेमी को संयोग-सुख से कई गुना सुख वियोग की पीर में होता है—

हौं जानीं पिय-मिलन तें, बिरह अधिक सुख होय।
मिलतें मिलियै एक सौं, बिछुरें सब ठाँ सोय ॥४४८॥

—नंददास ग्रन्थावली—रूपमंजरी पृ० ११९

उत्कंठा —

इस वियोग में राधा आदि गोपियों की स्थिति का तो कहना ही क्या है? प्रेम की इस विलक्षण पीर से बेहाल गोपिकायें वियोग की लगभग सभी दशाओं को प्राप्त हो जाती हैं। उनकी उत्कंठा अपने मरातब से बहुत ऊपर उठकर कह उठती है—

हरि दरसन कौं तलफत नैन।
अरु जो चाहत मुजा मिलन कौं, स्रवन सुनन कौं बैन।
जिय तलफत है बन बिहरन कौं तुम मिलि अरु सब सखियाँ।
बस न परत तुम बिनु हम छिन-छिन, रोवति दिन अरु रतियाँ।

जब तें तुम हरि बिछुरे हम तें, निसि-बासर नहिं चैन।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं काग उड़ावति सैन।
—सूरसागर (ना० प्र० स०) ४०२१।४१४७

चिन्ता —

विरहिणी तो अपने प्रियतम से मिलना ही चाहती है, साथ ही उसके नैन, श्रवण, भुजायें तथा हृदय सब कुछ कृष्ण के सान्निध्य के लिए आकुल हैं। भुजायें कृष्ण का आलिंगन करना चाहती हैं श्रवण उनकी वाणी सुनना चाहते हैं और नैन अपलक उनके रूप-सौन्दर्य का पान करना चाहते हैं। कल नहीं पड़ती। हृदय व्याकुल है श्यामसुन्दर के साथ यमुना के सुन्दर पुलिन पर विहार करने के लिए। गोपी का मन उसके पास नहीं रह गया। रहता भी कैसे? उसे तो बहुत पहले ही कुंजविहारी ने हरण जो कर लिया था। अनोखी गति से चलने वाले माधव के चंचल नेत्रों के कटाक्ष से गोपी का हृदय उसके हाथ से निकल ही गया। चिन्ता की चिता में जलते-जलते रात हो गई। निद्रा ने घर दबाया वह सो गई, कृष्ण आये और वापस लौट गये। नींद खुली, प्यारे का आगमन सुनकर आँसुओं की झड़ी लग गई, प्राणों के अभाव में जीवन नहीं रह सकता। राधा सखी से कहती है, हे सजनी! जीवन को उस जड़ी को कहीं मिल से लाओ—आज यह नींद बैरिनि हो गई, यथा—

निदरिया साँचें विष की भरी।
मेरे प्यारे लालन फिरि गये, कैसी खोटी घरी।
अब जोऊँ का विधि सुन सजनी, कहाँ गई जीवनि जरी।
देखि कहूँ जो मिलै बुलावहु बरसत अँखिन झरी।
श्री रामराय या नींदहि मेलहु, हौं तौ भई बावरी॥१२॥
—माधुरवाणी पृ० १७

राधा-सन्देश —

राधा की सखी कृष्ण के समीप आकर उनसे कहती है "हे लालन! प्यारी तुम्हें बुला रही है देखो उनके नेत्रों से वर्षा की नदी की भाँति जल प्रवाह उमड़ रहा है।" यथा—

लालन तुमहिं सहेली बुलावें।
बरसा की सी नदिया उमड़ी, मनचित माधन-चम्पन महावें।
मादक निपुन नयन नवरंगी, नेह प्रवाह वही दरसावें।

हरि-मुख राधा-राधा बानी।
धरनी परे अचेत नहीं सुधि सखी देखि अकुलानी।
बासर गयौ रैनि इक बीती, बिनु भोजन बिनु पानी।
बाँह पकरि तब सखिन जगायो धनि-धनि सारंग पानी।
ह्यां तुम बिवस गये हौ ऐसे, ह्वां तौ वै बिलखानी।
सूर बने दोउ नारि पुरुष तुम, दुहुँ की अकथ कहानी।

—सूरसागर(ना प्र०स)२७५१ ।।११७७

रसिकों के इष्टदेव राधा-माधव की इस अकथ कहानी में दर्द है। यह भी एक तरफ नहीं दोनों तरफ। राधा भी अपने प्रियतम की भाँति ही उन्हें पाने के लिये निरंतर आकुल रहती हैं। अस्तु, अब सखियों सहित राधिका के वियोग-माधुर्य-जन्य रस का वर्णन करते हैं।

वियोग माधुर्य वर्णन में वियोगिनी राधा आदि गोपियाँ

प्रणयी जीवन में संयोग की अपेक्षा वियोग का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है, क्योंकि वियोग में प्रियतम की मूर्ति सर्वत्र सर्वकाल में दृष्टिगोचर होती है। प्रेमी को संयोग-सुख से कई गुना सुख वियोग की पीर में होता है—

हौं जानौं पिय-मिलन तें, बिरह अधिक सुख होय।
मिलतें मिलियै एक सौं बिछुरें सब ठौं सोय ।।४४८।।

—नंददास ग्रन्थावली—रूपमंजरी पृ० ११९

उत्कंठा—

इस वियोग में राधा आदि गोपियों की स्थिति का तो कहना ही क्या है? प्रेम की इस विलक्षण पीर से बेताब गोपिकायें वियोग की लगभग सभी दशाओं को प्राप्त हो जाती हैं। उनकी उत्कंठा अपने धरातल से बहुत ऊपर उठकर कह उठती है—

हरि दरसन कौं तलफत नैन।
अरु जा चाहत भुजा मिलन कौं, स्रवन सुनन कौं बैन।
जिय तलफत है बन बिहरन कौं तुम मिलि अरु सब सखियाँ।
बस न परत तुम बिनु हम इक-छिन, रोवति दिन अरु रतियाँ।

जब तैं तुम दूरि बिछुरे हम तें, निसि-बासर नहिं चैन।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं काग उड़ावति सैन।
—सूरसागर (ना० प्र० स०) ४०२१।४६४०

चिन्ता —

विरहिणी तो अपने प्रियतम से मिलना ही चाहती है, साथ ही उसके नेत्र श्रवण, भुजायें तथा हृदय सब कुछ कृष्ण के सान्निध्य के लिए आकुल हैं। भुजायें कृष्ण का आलिंगन करना चाहती हैं, श्रवण उनकी वाणी सुनना चाहते हैं और नेत्र अपलक उनके रूप-सौन्दर्य का पान करना चाहते हैं। कल नहीं पड़ती। हृदय व्याकुल है श्यामसुन्दर के साथ यमुना के सुन्दर पुलिन पर विहार करने के लिए। गोपी का मन उसके पास नहीं रह गया। रहता भी कैसे? उसे तो बहुत पहले ही कुंजबिहारी ने हरण जो कर लिया था। अनोखी गति से चलने वाले माधव के चंचल नेत्रों के कटाक्ष से गोपी का हृदय उसके हाथ से निकल ही गया। चिन्ता की चिता में जलते-जलते रात हो गई। निद्रा ने घर दबाया वह सो गई, कृष्ण आये और वापस लौट गये। नींद खुली, प्यारे का आगमन सुनकर आँसुओं की झड़ी लग गई, प्राणों के अभाव में जीवन नहीं रह सकता। राधा सखी से कहती है, हे सजनी! जीवन की उस जड़ी को कहीं मिले, ले आओ—आज यह नींद बैरिनि हो गई, यथा—

निंदरिया सौतें विष की भरी।
मेरे प्यारे लालन फिरि गये, कैसी खोटी घरी।
अब जोऊँ का विधि सुनु सजनी, कहाँ गई जीवनि जरी।
देखि कहूँ जो मिलै मुलावहु बरसत आँखिन झरी।
श्री रामराय जा नींदहि मेलहु, हौं तो भई बावरी ॥१३॥
—माधिवाणी पृ० १७

राधा-सन्देश —

राधा की सखी कृष्ण के समीप जाकर उनसे कहती है "हे लालन! प्यारी तुम्हें बुला रही है, देखो उनके नेत्रों से वर्षा की नदी की भाँति जल प्रवाह उमड़ रहा है।" यथा—

लालन तुमहिं लड़ैती बुलावैं।
बरखा की सी नदिया उमड़ी, मचकित लोचन-कमल बहावैं।
नाहक निपुण भवन नवरंगी, नेह प्रवाह नहीं दरसावैं।

आरति दमन रूप नौका सखि, उरझे अंक गह्वर रहि जावैं।
श्री रामराय या विधि अनंग सखि, जुगल मिलाय मनोरथ पावैं।
—आदिवाणी पृ० १७

प्रिय-स्मरण—

प्रयत्न करने पर भी जब प्यारे की झाँकी नहीं मिलती, तब रासेश्वरी कहने लगती हैं कि हे माधव! आपने प्रेम का इतना परिवर्तन क्यों कर दिया? हे मनमोहन! मैंने तो तुम्हारे सान्निध्य को प्राप्त करने के हेतु सारे सांसारिक बन्धनों को ध्वस्त कर डाला है! हे प्यारे! तुम्हारे गोकुल के निवास और गोप के वेश ने ही तो मेरे चित्त को चुरा लिया है। अब यह कहीं नहीं भटका, तुम्हारे चरण कमलों ने उसे बाँध लिया है, अस्तु इसे विलग मत करो।[1] इस प्रकार स्मरण करते करते राधा का वह गौर वर्ण मलिन पड़ गया और तब वे उनके गुणों का स्मरण करके अपने वियोगजन्य दुःख को अपनी सखी से कहने लगी कि हे सखी—

इहि दुख तन तरफत मरि जैहैं।
कबहुँ न सखी स्यामसुन्दर घन मिलिहैं आइ अंक भरि लैहैं।
कबहुँ न बहुरि सखा सँग ललना, ललित त्रिभंगी छबिहि दिखैहैं?
कबहुँ न बेनु अधर धरि मोहन, यह मति लै लै नाम बुलैहैं?
कबहुँ न कुंज भवन सँग बैहैं, कबहुँ न दूती लैन पठैहैं?
कबहुँ न पकरि भुजा रस बस ह्वै कबहुँ न पग परि मान मिटैहैं?

---

१ माधव काहे को दियाई काम को कला।
तुम सों जोरि सबनि सों तोरी नंद के लला।
जो गोपाल मधुबन ही बसते, गोकुल बास न करते।
जो हरि गोप भेष नहिं धरते इत मेरो मन हरते।
तुम्हरो रूप तजि और न भावे, चरन कमल चित बाँध्यो।
परमानंद प्रभु प्रेम बान ज्यों, बहुरि न सूझी साँध्यो ।।२२१।।
—परमानंद सागर पृ० १७८

माही तैं घट प्रान रहत हैं, कबहुँक फिरि दरसन हरि दैहें ?
सूरदास परिहरत न यातें प्रान तजें नहिं पिय ब्रज ऐहें।
—सूरसागर (ना०प्र०स०)

विरह-वेदना—

वियोगिनी राधा प्राण भी यदि धारण किये हैं, तो केवल इसलिये कि कृष्ण का पुनः संयोग प्राप्त होगा। कृष्ण का मासिमन त्रिभंगी मुद्रा, वेणुवादन कुंजलीला तथा माममनावन का स्मरण कर राधा के हृदय में हूक उठने लगती है, हिचिकियाँ आने लगती हैं और मुख-कमल मुरझा जाता है। सखियाँ धीरज बँधाती हैं, तब प्रिया की पुन कहती हैं—

मन मोह्यौ मेरौ मोहन माई।
कहा करौं चित लगी चटपटी खान-पान-घर-घन न सुहाई।
बिहँसनि बंक बिलोकनि सैनन मैन मढ्यो कछु कहत न जाई।
मदमुद छवि बदनारविन्द की देखत लोक-लाज बिसराई।
मेरें साहस उनके साहस, मनचोरौ विधि भली बनाई।
पासायाँ यह कहहि कहूँ बिनि विरस न जानें भाज पराई।
रह्यौ न परत, कह्यौ बहुतनि मिलि, है न होहि कबहूँ सुखदाई।
व्यास बास करि को अब छौड़ै, भाग न पायो कुँवर कन्हाई॥७०२॥
—भक्तकवि व्यास ब० १८४

विरहोन्माद—

इस प्रकार प्यारे के वियोग में राधा की कांति क्षीण हो गई, कमल मुख मुरझा गया शरीर मुलसने लगा तभी किसी ने आकर कहा श्यामसुन्दर आ गये। इतना सुनते ही उमंग के कारण कंचुकी की तनी टूट गई, ज्योति जगमगा उठी और फिर राधा का मुख कमल खिल गया क्षण भर रस बरसा किन्तु घनश्याम पुनः चले गये। राधा ने ढूंढना प्रारंभ किया, ढूंढना ही नहीं पूछना भी शुरू किया गया—

कहि धौं री बन-बेलि कहूँ तैं देखे हैं नंद-नंदन ?
बूझहु धौं मालती कहूँ तैं पाये हैं तन चन्दन।
कहि धौं कुंद, कदम्ब बकुल, बट चंपक, ताल तमाल।
कहि धौं कमल कहाँ कमलापति सुन्दर नैन बिसाल।
कहि धौं री कुमुदिनि, कदली कछु कहि बदरी करवीर।
कहि तुलसी तुम सब जानति हौ कहँ घनस्याम शरीर।

कहि धौं मृगी मया करि हमसौं कहि धौं मधुप मराल।
सूरदास-प्रभु के तुम संगी हैं कहँ परम कृपाल।
—सूरसागर प्र०खं० (ना०प्र०स०) प०६१७

श्यामसुन्दर नहीं मिले राधा वृक्ष के सहारे अकुलत खड़ी हो गईं। मदनगोपाल के वियोग में वेदना और भी बढ़ गई, नेत्रों से अश्रु प्रवाह होने लगा और वाणी मूक हो गई। राधा के उच्छ्वास निकलने लगे और पूर्व के संयोग-सुख का (जब माधव उन्हें प्यार करते थे तथा उनकी वेणी गूँथते थे) स्मरण करके वे अति क्षीण हो गईं। देखिये वियोग की इस जड़तामयी स्थिति में भी राधा अपने प्रियतम के दर्शनों के हेतु लालायित रहती हैं।

ललितादि सखियों की विरहाकुलता—

समस्त गोपीजनों के प्रश्रयार्थ अपने रस-माधुर्य को प्रकट करने *वाले कुंजविहारी को ललिता और चन्द्रावली आदि गोपियाँ भी अत्यंत प्रिय* थीं। राधा के समान ही इन गोपियों को भी श्रीकृष्ण प्राणों से प्यारे थे। कन्हैया के दर्शन के अभाव में ये गोपियाँ भी उन्मत्त हो जाती थीं क्योंकि कृष्ण ही उनके तन-मन-धन सब कुछ थे। वे निरंतर उनके सान्निध्य की कामना किया करती थीं और कृष्ण को अपने समीप न देखकर प्रति कुंज में उनके नाम की माला जपती हुई, उनकी प्रतीक्षा किया करती थीं। एक दिन मदन मोहन ने कहीं ललिता जी से उनके घर आने की बात कही। ललिता संध्या से ही श्याम की प्रतीक्षा करने लगीं उन्होंने सुगन्धित पुष्पों से अपने प्रियतम के लिये कोमल शय्या को सजाया, किन्तु प्यारे नहीं आये। वियोग में ललिता कभी द्वार पर खड़ी हो जाती थीं तो कभी गली में अपने प्रभु का रास्ता देखती थीं। तारे गिनते गिनते विरहिणी की सारी रात व्यतीत हो गई किन्तु *श्याम नहीं आये।*[1] बड़े निर्दयी हैं ये प्रियतम एक बार चन्द्रावली से भी

---

1 साँझहि ते हरि पंथ निहारै।
ललिता रचि करि भवन आपनौ सुमन सुगन्धनि सेज सँवारै।
कबहुँ क होति द्वारे ठाढ़ी कबहुँ क गनत गगन के तारे।
कबहुँ क आइ बसी मग जोवति, अजहु न आये स्याम पियारे।
है बहुनायक गनत सुभाये और बाम के धाम सिधारे।
सूरस्याम बिन बिलपति बाला तमचुर जहँ तहँ प्रात पुकारे।
—सूरसागर द्वि० खं० पृ० १०८।
पद सं० २४७१।३०९७

तो उन्होंने ऐसा ही वादा किया था। बेचारी चन्द्रावली भी अपने गृह में कुंजबिहारी की प्रतीक्षा करते-करते थक गई देखिए, कितना उद्वेग निहित है इस आकुलता में, यथा—

चन्द्रावली स्याम मग जोवति।
कबहुँ सेज कर झारि सँवारति, कबहुँ मलय रज मोवति।
कबहुँ नैन अलसात जानि कै जल लै पुनि पुनि धोवति।
कबहुँ भवन कबहूँ आँगन ह्वै ऐसे रैनि बिगोवति।
कबहुँक बिरह जरति अति ब्याकुल आकुलता मन मोवति।
सूर स्याम बहु रवनि रवन प्रिय, यह कहि कहि गुन रोवति।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) २४९८।२११६

जिनके हृदय बाँके बिहारी की चितवन से विवश हो गये हैं, जो पलक मारने के लिए भी उनका साथ नहीं छोड़ सकतीं वे गोपियाँ प्रेम के कठि से उत्पन्न वेदना को अपने हृदय में अनुभव करती हुई अपने नेत्रों में श्यामसुन्दर को बैठा लेने के लिये आतुर, वन-वन में उन्हें खोजती घूमती हैं। संयोग के पश्चात् होने वाले वियोग की इस अनोखी वेदना का जिसे अनुभव हुआ, वही इसे जानता है। प्यारे के वियोग में यह पीर प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। श्यामसुन्दर ब्रज छोड़कर मथुरा में जा बसे। गोपियों का सहारा टूट गया। एक-एक पल वर्ष के समान व्यतीत होने लगा। प्रियतम का संदेश भी किसी ने आकर नहीं दिया—यह सोचकर उनके नेत्रों ने जल की झड़ी लगा दी।

श्याम-वियोगिनी गोपियों की दिनचर्या —

माधव के वियोग में ब्रज का सम्पूर्ण वातावरण ही गोपियों की दृष्टि में परिवर्तित हो गया है। शय्या-गृह कन्दरा के समान हो गई चन्द्र शीतलता के स्थान पर आग उगलने लगा, जिससे गोपियों के शरीर जलने लगे साथ ही उस चन्द्र (कृष्ण) के अभाव में गोपियों की इच्छारूप कुमुदनी मुरझाने लगी।[1] गोपियाँ शृंगार नहीं करतीं नेत्रों में अंजन नहीं लगातीं क्योंकि उन

१ अब वपु गोरहि जात जली।
मदनगुपाल बिना या ब्रज की सब बात बदली।
गृह कन्दरा समान सेज भई सिंह आहि बली।
शीतल चंद सुनो सखि कहियत तातें अधिक जली।

का संकल्प है कि जिस दिन श्यामसुन्दर से इन नेत्रों का मिलन होगा, उसी दिन काजल भी लगेगा और फिर ये नेत्र किसी दूसरे को भूलकर भी नहीं देख सकेंगे।[1] अभी तो ये नेत्र जब से गोविन्द मधुबन गये, तब से निरंतर बरस ही रहे हैं—ऐसी स्थिति में नेत्रों में अंजन भला कैसे रह सकता है? नेत्रों की उस बरसात ने गोपियों के कपोल आदि को भी काला कर दिया है और वक्ष स्थल के बीच से प्रवाहित होते हुए पनारे का रूप धारण कर लिया है, यथा—

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पै जब तें स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ उर बिच बहत पनारे।
आँसू सलिल सबै भई काया पल न जात रिस टारे।
सूरदास-प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहे बिसारे।।३२१९।।३८४४।।

—सूरसागर (ना०प्र०स०)

क्या प्रीति का यही परिणाम होता है?

प्रेमातुरा गोपियों की दृढ़ता :—

गोपियाँ विचार करती हैं कि प्रीति में किसी ने सुख नहीं पाया। पतिंगा दीपक की ज्योति में, भ्रमर कमल के संपुट में और मृग ने नाद में इसी प्रीति के कारण ही प्राण त्याग दिये। गोपियों की प्रीति इनसे कम नहीं थी परन्तु कृष्ण ने फिर भी चलते समय इन प्रियाओं से कुछ न कहा। गोपियाँ उनकी इस कठोरता का स्मरण करती हुई वियोग की पीर को हृदय में दृढ़ता से दबाये हुए अपनी व्यथा किसी से नहीं कहतीं। व्रज के पशु की भाँति वे सर्वत्र घूमती हैं। प्रेमातुर होने के कारण कृष्ण-वियोग उनसे

मृगमद मलय कपूर कुमकुमा सींचति आलि अली।
एकौ न बुझत बिरह ज्वर तें कछु लागत नाहिं भली।
कमल-केलि सूर के प्रभु बिनु अब बिष पसरनि फली।
—री बिधु बिमुख जाहिने बिपसति ममता कुमुद कली।।११९७।।१८१२।।

—सूरसागर द्वि० सं० (ना०प्र०स०) पृ० ११४९

१ सूरसागर द्वि० सं० पद सं० ३२८९ ३९१७, पृ० ११५२

सहा नहीं जाता। वे विचार करती हैं कि क्यों न यमुना की अगणित तरंगों में अपने को छोड़कर सब कुछ समाप्त कर दिया जाय ? क्योंकि गोविन्द के बिन एक क्षण भी जीवन धारण उन्हें असह्य हो गया, यथा—

बिथा माई कौन सों कहियै ?
हम तो भई जल के पसु ज्यों केतिक दुख सहियै ।।[1]
कामिनि यामिनि निसि अरु बासर, कहूँ न सुख लहियै ।
मन मैं बिथा मथति लागैं यौं उर अन्तर दहियै ।
कबहुँक जिय ऐसी उपजति है, जाइ जमुन बहियै ।
सूरदास प्रभु हरि नागर बिनु काकी ह्वै रहियै ।।१२९५।।३९११।।

—सूरसागर द्वितीय खंड (ना०प्र०स०) पृ०१३७७

श्रीकृष्ण-लीला-स्मृति —

स्नेह की इस वियोग-जनित स्थिति में अपने प्यारे कृष्ण की माधुर्य रससिक्त लीलाओं का स्मरण कर गोपियों के साथ ही श्रीराधिका जी की दशा भी बड़ी विचित्र हो जाती है, यथा—

हरि तेरी लीला की सुधि आवै ।
कमल नैन मनमोहन मूरति के मन मन चित्र बनावै ।
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिंगत कबहुँक पिक ज्यों गावै ।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि संग हिलमिलि उठि धावै ।
कबहुँक नैन मूँद उर अन्तर मनि माला पहिरावै ।
मृदु मुसुकानि बंक अवलोकनि चाल छबीली भावै ।
एक बार जाहि मिलहि कृपा करि सो कैसे बिसरावै ।
परमानंद प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गँवावै ।।१६४।।

—परमानंद सागर पृ० १०१

अपने प्रियतम की याद आते ही वृषभानु पुत्री के समक्ष कमल-नैन वाले मनहरण श्याम की मूर्ति थिरक उठती है और वे अंधकार में ही कृष्ण कृष्ण कहकर दौड़ पड़ती हैं। विरहोन्माद की अवस्था में वे कभी मन के अन्दर ही अपने प्यारे को माला पहिनाने लगती हैं और कभी उनकी बाँकी चितवन और मधुर मुस्कान का स्मरण कर व्याकुल हो जाती हैं।

---

१ प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ।
प्रीति पतंग करी पावक सों आपै प्रान दह्यो । आदि ।।१२८८।।३९०६।।
—सूरसागर द्वि० खं० पृ० ११३९

आकुल राधा की रूप छवि —

आकुलता में उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती, केश-पाश बिखर जाते हैं वक्षस्थल पर विहार करने वाली माला टूट जाती है किन्तु वे उसे नहीं सम्हालतीं और अत्यंत मलिन हो जाती हैं वस्त्र नहीं बोलीं, वह भी इसलिये कि प्रियतम के रतिश्रम से वह भीग चुका है। उद्धव देखते जाते हैं, किन्तु वे बोलतीं नहीं। हारे हुये जुआरी की भाँति अपने मुख को नीचा किये हुये राधा प्यारी हिमकर द्वारा मारी हुई नलिनी के समान प्रतीत होती हैं। प्रिय स्नेह की तृष्णा ही प्रिया का प्राण है, यथा

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि श्रम-जल भीज्यौ उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिनि दूजे अलिजारी।
सूरदास कैसें करि जीवें ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी।
—सूरसागर (ना०प्र०स) ४०७१।४६९१

अब उद्धव को उनके संदेश का उत्तर कौन दे ? प्रेम-मग्ना राधा की वाणी तो मूक हो गई किन्तु गोपियाँ कहती हैं, हे उद्धव—

बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजें।
तब ये लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत वृथा कमल-फूलनि अलि गुंजें।
पवन पान घनसार सजीवन दधि-सुत किरनि भानु भईं भुंजें।
यह ऊधो कहियो माधौं सौं मदन मारि कीन्हीं हम लुंजें।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं मग जोवत अँखियाँ भईं छुंजें।
—सूरसागर (ना प्र०स०)४०६८।४६८६

सर्वस्व समर्पण—

साक्षात् मन्मथमन्मथ कृष्ण के बिना गोपियों की दिनचर्या ही बदल गई। वे किसी भी कीमत पर अपने प्यारे का संयोग प्राप्त करना चाहती थीं। इस अपूर्व संयोग के लिये तथा गोपाल से साक्षात्कार करने के लिये वे गोपियाँ योगिनी तक बनने के लिये तैयार थीं। जैसे बिना मणि के नाग व्याकुल हो जाता है, वैसे ही गोपियाँ प्यारे कृष्ण को पाने के लिए सिंगी, खप्पर इत्यादि

लेकर भस्म रमाने तक के लिये तैयार थीं। अपने प्रियतम के लिये असख जगाने का काम भारतीय इतिहास में ही पतिव्रता के गौरव का प्रतीक है। गोपियाँ कहती हैं —

> गोपालहिं पावौं धौं किहिं देस।
> सिंगी मुद्रा कर खप्पर लै करिहौं जोगिनि भेस।
> कंथा पहिरि बिभूति लगाऊँ, जटा बँधाऊँ केस।
> हरि कारन गोरखहिं जगाऊँ, जैसे स्वांग महेस।
> तन मन वारौं भस्म चढ़ाऊँ बिरहा के उपदेस।
> सूर स्याम बिनु हम हैं ऐसी, जैसे मनि बिनु सेस ॥३८२६।३८४४॥
>
> —सूरसागर द्वि०सं०पृ०१११८

प्रेम की इस रस सरिता में वही अवगाहन कर सकता है, जो महान त्यागी हो और जिसने सर्वस्व होम देने का संकल्प कर लिया हो। रसिक भक्तों ने इसे किया और उनके इष्टदेव राधा माधव ने भी। लोकलाज की किंचित मात्र भी चिंता न करते हुये राधा तथा गोपियों ने अपनी सब समर्पण की भावना में सराबोर होकर अपने प्रियतम के सुख के निमित्त सब कुछ छोड़ देने का अटल निश्चय किया था। तब तो उद्धव का ज्ञान मूक हो गया था। कृष्ण की तृप्ति गोपियों का एकमात्र लक्ष्य था—इस दृष्टि से वे उन्हें एक क्षण भर भी छोड़ने के लिये तैयार न थीं। विधि के विधान पर किसी का वश नहीं। कृष्ण मथुरा चले ही गये किन्तु उन्होंने गोपियों का साथ तो नहीं छोड़ा था। वे नित्य थे, राधा नित्य थी, गोपियाँ नित्य थीं और उनकी लीलायें भी नित्य थीं। प्रवास के बाद भी कृष्ण गोपियों के निकुंज-मन में निरंतर विहार करते थे। ब्रज में अपनी मंद मंद गति से प्रवाहित होने वाली यमुना, वहाँ के घने-घने कुंज और वह सुरम्य वनस्थली की मिट्टी के कण-कण कृष्ण की स्मृति में इसी कारण आज भी तड़पते दिखलाई देते हैं। निस्सन्देह श्याम सुन्दर की छबीली छवि तथा मधुर मुरली ने सभी के हृदय सदा के लिये जीत लिये हैं।

वियोगिनी राधा आदि गोपिकाओं का स्वकीयात्मक-परकीयात्मक स्वरूप

राधा तथा अन्य गोपिकाओं के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की उद्भावनायें की गई हैं। पद्मपुराण के आधार पर उनमें से कुछ को देवकन्यायें, कुछ को ऋचायें और कुछ को प्रभु की अंतरंग शक्तियाँ माना गया है—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋचो वै गोपकन्यका ।
देव कन्याश्च राजेन्द्र तपोयुक्ता मुमुक्षवः ।
—पद्मपुराण पातालखंड अध्याय ७३ श्लोक १२

डा० मुंशीराम शर्मा ने पद्मपुराण के उपर्युक्त अंश को उद्धृत करते हुये राधा तथा गोपिकाओं के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है। उनका कथन है कि 'वैष्णव आचार्यों ने कृष्ण की अन्तरंग एवं बहिरंग दो शक्तियाँ मानी हैं। बहिरंग शक्ति का नाम माया है और अन्तरंग शक्ति तीन प्रकार की है—सन्धिनी, संवित और ह्लादिनी। राधा ह्लादिनी शक्ति है और गोपियाँ उसी की प्रतिरूप हैं। आचार्य वल्लभ ने 'असौ तस्यास्तु कृष्णः स्त्रीभिः सतस्या समाहितः' कहकर इसी बात को सिद्ध किया है। अतः राधा के अंश रूप में ही गोपियों को समझना चाहिये।'[1]

विश्वास के आधार से माधुर्योपासक भक्तों ने भी राधा तथा गोपिकाओं को अपनी दृष्टि से देखा है। उनकी व्रज भूमि के एकमात्र राजा हैं श्रीकृष्ण और उनकी परम प्रियतमा हैं—वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिका जी। राधा जी कृष्ण की स्वकीया पत्नी हैं। भक्ति शास्त्र में ऐसी गोपियों को भी जिन्होंने शास्त्र रीति से प्रियतम कृष्ण को पति रूप से स्वीकार किया है स्वकीया कहा गया है। राधा का यह स्वकीयात्व रसिक भक्तों के आनंद-हेतु ही अभिव्यंजित है वैसे तो राधा आदि श्रीकृष्ण की नित्य प्रिया हैं। भगवान कृष्ण के समान नित्य सौन्दर्य से वे सभी परिपूर्ण हैं। इन नित्य प्रियाओं में राधा के साथ चन्द्रावली विशाखा ललिता, श्यामा, पद्मा शैव्या भद्रिका तारा विचित्रा गोपाली धनिष्ठा तथा पालिका का भी उल्लेख भक्ति-ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में किया गया है। पूर्व रूप से इन नित्य प्रियाओं की स्थिति स्वकीयात्व में भी ऊपर की है। श्रीकृष्ण की नित्य लीला में इन प्रियाओं का कभी वियोग नहीं होता। वियोग तथा संयोग की स्थिति स्वकीयात्व में ही संभव है। अपनी इन सभी नित्य प्रियाओं में महाभाव स्वरूपा राधा सर्वोत्कृष्ट थी तथा कृष्ण के प्राणस्वरूप थीं। स्वकीयात्व की स्थिति में जब कभी श्रीकृष्ण से राधा का वियोग होता था तो वे व्याकुल हो जाती थीं। रसिकों ने श्रीराधा के स्वकीयात्व को अपनी पूर्व परम्परानुसार

१ 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' डि०ले० पृ०२७२-७३

शास्त्रीय आधार पर उनके पाणिग्रहण संस्कार का दिग्दर्शन कराकर किया है। इन भक्तों के काव्य से ऐसा सिद्ध होता है कि वृन्दावनेश्वरी राधा कृष्ण की विवाहिता पत्नी थीं। ध्रुवदास ने "बयालीस लीला" की सभा मंडप लीला में, तथा सूरदास ने अपने सूरसागर के दशम् स्कंध में और व्यास ने अपनी पदावली में राधा-कृष्ण के विवाह का वर्णन कर उन्हें स्वकीया ही माना है। तथा अन्त में उन्हें नित्य प्रिया मानकर उनकी चरणरज को अपने मस्तक से लगाया है यथा—

मोहन मोहिनी को दूलहु।
मोहन की दुलहिनि मोहनी सखी निरखि निरखि किनि फूलहु।
सहज ब्याह उछाह सहज मंडप सहज जमुना के कूलहु।
सहज सवासिनि गावति नाचति सहज सगे समतूलहु।
सहज कलस कंचन कल भाँवरि सहज परस भुजमूलहु।
सहज बने सिरमौर सहज भूषनि तन सहजई मदन दुकूलहु।
सहज दाइजौ वृन्दावन घन सहज सेज रति मूलहु।
सहज सनेह रूप गुन ब्यासहि सपनेहुँ जिनि भूलहु ॥५८६॥

—भक्तकवि व्यास पृ० १२२

उपर्युक्त पद से राधा-स्वकीयात्व के साथ ही नित्य प्रियात्व भी सिद्ध है। स्वकीयात्व की पवित्र स्थिति में जब कभी अपने पति कृष्ण से वियोग होता है, तभी वे व्याकुल होकर कहने लगती हैं—

अब कैं जो पिय की पाऊँ, तौ हिरदे माँझ दुराऊँ।
जौ हरि को दरसन पाऊँ, आभूषन अंग बनाऊँ।
ऐसौ को जो आनि मिलावै ताहि निहाल कराऊँ।
जौ पाऊँ तौ मंगल गाऊँ मोतियन चौक पुराऊँ।
रस करि नाचौं गाऊँ बजाऊँ, चंदन भवन लिपाऊँ।
मनि मानिक न्यौछावरि करिहौं, मो निन सुन्दिन कहाऊँ।
अब सौं कहौ उपाय सखी मिलि जातैं दरसन पाऊँ।
सूर स्याम ल्यैं बिनु मजनी कैसैं मन अपनाऊँ ॥२१०१२७४॥

—सूरसागर द्वि०खं०पृ०९९८

उपालंभ—

इस पद में सन्निहित भावना पतिव्रता के पूर्ण प्रेम का प्रतीक है। यथार्थ में पत्नी का हृदय ही उसके पति का निवास स्थल है और पति उसके

शरीर तथा आत्मा का सबसे बड़ा आभूषण। पति को पाने पर वह फूली नहीं समाती और पति के वियोग पर संयोग की अनभिनत अभिलाषाओं को अपने हृदय में संजोये रहती है—वियोगिनी राधा अपने प्यारे के लिये निरंतर सुख की बात सोचती रहती है। पति जब निश्चित समय पर अपने घर नहीं पहुँचता, तो उसके साथ निरंतर संयोग की अभिलाषा रखने वाली उसकी प्रिया को संदेह होता है। परकीया के संयोग चिन्ह से युक्त पति के आने पर कितने अधिकारपूर्ण शब्दों में स्वकीया कहती है, यथा—

पिय की सुख प्यारी नहिं जानै।
जोइ भावत सोइ सोइ कहि डारति चाहु-चाहु तुम गानै।
काहे को मोहिं वाहन आये, रैनि येत सुख जाकौं।
भली नवेली नोखी पाई, जो जाकौं सो ताकौं।
चंदन, बंदन, तिय, अंग-कुंकुम, लेप लिये हु यां आये।
सूर स्याम यह तुमहिं बड़ाई, औरनि को सरमाये ॥२१४१॥१११६१॥
—सूरसागर हि० सं०पृ० १०९९

स्वकीयात्व की जिस स्थिति का वर्णन उपर्युक्त पद में किया गया है उसमें ईश्वरत्व की भावना का अभाव है। समस्त बातें सामान्य स्थिति के अनुरूप ही कही गई हैं। दाम्पत्य प्रेम के आधिक्य के कारण कभी-कभी इस स्थिति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। अपने प्रियतम के सामने आने पर तो स्वकीया परकीया संयोग के चिन्ह से आभूषित अपने प्रियतम से मानपूर्वक उलाहना देती है किन्तु पति के न रहने पर व्याकुल हो जाती है, विरह की वेदना को नहीं सह पाती और अपनी सखी से कह देती है—

एरी मोंहो तो पिउ भावै जो ऐसी जो आनि मिलावै।
चौदह विद्या-प्रवीन अति ही यहु नायक कौं कौन मनावै।
नैंकु दृष्टि भरि चितवै विरहिनि, विरह-तपनि मों तन तैं बुझावै।
सूरदास-प्रभु करे कृपा अब मोकौं नित-प्रति विरह जरावै।
—सूरसागर हि०सं० पृ०९९८

रसिकों की धारणा है कि साधारण धरातल पर संयोग तथा वियोग का अनुभव करने वाली गोपियों में भी एक ऐसी स्थिति है जिसमें गोपियाँ अपने पतिरूप प्रियतम कृष्ण के ईश्वरत्व का ध्यान रखते हुये उन्हें चौदह विद्याओं में प्रवीण मानती हैं। उद्धव के अनेक बार समझाने पर भी ये प्रियायें

अपनी निष्ठा को बराबर बनाये रखती है और अनन्य भाव से निरंतर प्यारे कृष्ण का स्मरण करती है। राधा के परकीयात्व के सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन राधा का नित्य हरिप्रिया होना स्वयं सिद्ध है उनके परकीया रूप का दर्शन संप्रदाय विशेष के रसिकों द्वारा प्रेमाभिषय का ही एकमात्र परिणाम है। गोलोकविहारी कृष्ण और उनकी नित्यप्रिया श्रीराधा की ने जिस मधुर रस की सरिता को प्रवाहित किया वह केवल माधुर्योपासकों पर उनकी कृपा विशेष के फलस्वरूप है—ऐसी धारणा वैष्णवों के रसिक संप्रदायों में सर्वमान्य है। संयोग वियोग की जिस लीला का प्रदर्शन राधा-माधव ने किया, वह रसिकों के हृदय में मधुर रस को भरकर उन्हें साधना की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में पहुँचाने का एकमात्र कारण है जिससे कि वे सभी गोलोकरूपी व्रज में विहार करने वाले राधा माधव की नित्य रसमग्नता का अनुभव कर सकें।

रीतिकालिक भक्त-कवियों का संयोगात्मक-वियोगात्मक माधुर्य—

युगलमाधुर्य —

राधा-कृष्ण के जिस स्नेह-माधुर्य का वर्णन मधुर रसोपासक भक्तों ने अपनी दिव्य वाणी से अपने काव्य में किया है वह अत्यन्त अनोखा और नित्य है। इस स्नेह की मधुरिमा से मतवाले प्रिया-प्रियतम संयोग-वियोग में नित्य नवीन रूप से अपने रति रस माधुर्य का आस्वाद करते हुये, व्रज की उस सुरम्य भूमि पर प्रतिक्षण इसकी वर्षा करते रहते हैं। सर्वप्रकार से इस रति रस के वश में श्याम-श्यामा दोनों रहते हैं और भक्तों के विश्वासानुसार उन्हें अपनी दिव्य झाँकी से इस सरिता में अवगाहन भी कराते हैं। इस रसिक विहारी की शोभा का वर्णन रसार्णव में तन्मय भक्त भी नहीं कर पाते। विभिन्न प्रकार के विनोदों से परस्पर प्रसन्नता को प्राप्त राधा माधव कुंज की उस महा रति-केलि का सारी अंगों के मध्य प्रकाशन करते हुये, कुंज के मध्य सुशोभित होते हैं। जितना अधिक गर्व राधा को अपने कृष्ण प्रेम पर है उतना ही अधिक कृष्ण को राधा प्रेम पर। दोनों अत्यन्त उमंग के साथ परस्पर आलिंगन, चुम्बन और विहार का एक दूसरे को दान करते

है।[1] सुन्दर लताओं के मध्य में रचित कोमल पुष्पों की शय्या पर विराजमान श्याम-श्यामा के नेत्र से नेत्र अधर से अधर भुजाओं से भुजायें और वक्ष से वक्ष मिलकर एकाकार हो जाते हैं।[2] रतिरस-मग्ना अपने इष्टदेव राधा-माधव को देखकर रसिक उन्हें तोष प्रदान करने के हेतु व्यजन डुलाने की कामना रखता है। जिस समय कुंज के मध्य शय्या पर राधा-माधव की नित्य रति क्रीड़ा अभिमान होती है, उस समय भक्तों की तो बात ही क्या है, स्वयं प्रकृति भी आनंदविभोर हो जाती है। पवन के स्पर्श से उस समय लताओं में आनंद की लहर दौड़ जाती है, मालती की सुगन्धि सर्वत्र व्याप्त हो जाती है और कोमल उमंग के साथ आनंद-गीत सुनाने लगती है यथा—

लहकि लहकि जात लागि कै पवन लता,
महकि महकि उठै मालती सुवास हैं।
गहकि गहकि गावै कोकिला तरन चढ़ी,
कुंज छवि पुंज धाम सेवत निवास हैं।
नागरिया स्याम स्यामा सौहैं सुख सैनी पर
देखें द्रुम रंध्रनि में कोऊ सखी पास हैं।
दोऊ मन हरें दोऊ रीझि-रीझि अंक भरें,
अगनि अनंग बाढ़यो रंग मैं बिलास हैं ॥४४॥
—नागर समुच्चय पृ० २२६

प्रेम की तरंगों से रूप का सागर तरंगित हो रहा है। राधा और कृष्ण इस सागर की तरंगों के आघात से झूम-झूम उठते हैं। यमुना का तट,

---

१ लालन गरबीलो गरबीली प्रिय प्राण अधार।
उमगि उमगि हँसि हँसि अंको भरि रहे रंग रंगन निहार।
चुम्बन करत कपोल परस्पर रस बढ़ उठत विहार।
भगवतरसिक सुरत बरसावत भावत नित्य विहार।
—अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ पृ० १९

२ दोऊ ललित लतान तरे।
सुमन सेज सुरतानि सनेही अधरनि अधर धरे।
उरजनि उरज भुजनि कटि सौं कटि लपटि भुजानि भरे।
यह रस मत्त मगन मन दोउ भगवत व्यजन करें।
—अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ पृ० ४१

हरी भरी कुंज और प्रफुल्लित चित्त को लिये हुये वे दोनों पारस्परिक स्पर्श से मदन-ज्योति में जगमगा रहे हैं।[1] आनंद की उमंग अनंग का रंग और हृदय की तरंग दोनों के व्यक्तित्व से प्रकाशमान होकर रसिकों का चित्त चुरा लेती है और तब वे रति रंग से सराबोर होकर एक दूसरे को रस-बद्ध करते हुये विरत संयोग क्रीड़ा में संलग्न हो जाते हैं, यथा—

राधा हरि करत ललित केलि बेलि-कुंज में।
आनंद उमद रंगे अनग रंग पुंज में।
अंग-अंग लपटि निपट रस बस लटपटत री।
सुरत-समर-धीर बीर रुपि न सनक हटत री।
चोपनि सों भुमि भुमि तन विविध घात सहत हैं।
अति सुमार मार मार वार पार चहत हैं।
कचधनि तें उमगि निकसि निकसि गिरत हैं।
कलित दमित विगलित कच थिरि उठि उठि गिरत हैं।
आनंदमन अद्भुत छवि दंपति नख सिख फबी।
रचि रन रंगमयी धरनि पी-सुख वृन्दाटवी।

— पद्माकर पदावली पृ० १५०

संयोग की उस रसमयी झाँकी का स्मरण कर माधुर्योपासक बार-बार यही कहता है—

कुंज पधारो रंग भरी रैन।
रंग भरी दुलहिन रंग भरे पिय स्यामसुन्दर सुख दैन।
रंग भरी सैनीय रची जहाँ रंग भरयो उलहत मैन।
रसिक बिहारी प्यारी मिलि दोऊ करो रंग सुख सैन।

बिहार-सुख —

इष्टदेव दम्पति के रस-विहार का यह रंग यथार्थ में जिस पर चढ़ गया उसकी सारी लौकिकता समाप्त हो जाती है और उसे राधा-माधव की

---

१ राधा माधव विहरें बन में।
हरी भरी कुंजनि जमुना तट फूल फूल मन में।
मदन केलि सुख पगे जगमग कयो तरुनाई तन में।
सरस परस तन मन परसत आनन्दघन भीजे बन में।

—पद्माकर पदावली पृ० १७५

इस नित्य लीला में प्रवेश का अधिकार प्राप्त हो जाता है। तब अपने नेत्रों तथा मुख में मुस्कान को भरे हुये पुष्पों के आभूषणों से सुसज्जित राधा कृष्ण की लीला का वह साधक निरंतर रसास्वाद करता है— इस समय उसके इष्टदेव दंपति के परस्पर शरीर से शरीर, नेत्रों से नेत्र उलझे हुये दृष्टि गोचर होते हैं। अधखुले नेत्र बिथुरी हुई अलक, अर्धविकसित वचन और अधरों का अपूर्व सुधापान से युगल करते हुये क्षण-क्षण में एक दूसरे को अपने भुजपाश में बाँध लेते हैं। प्यारे श्यामसुन्दर जब इस संयोग लीला में तन्मय होकर अपनी प्रिया की छवि निहारने लगते हैं, तब वे अत्यंत प्रफुल्लता के साथ उन्हें अपना आलिंगन तथा चुम्बन प्रदान कर अपने स्नेह की कला को प्रकाशमान कर देती हैं, यथा—

> भानु सुता मूटत मास बिहारी बैठे चित्र विचित्र अटारी।
> ज्यौं ज्यौं पिय निरखत मुख त्यौं त्यौं हँसि हँसि उर लपटाति पियारी।
> चुम्बन दै पुनि लै लज्जित ह्वै छिन ह्वै जाति नियारी।
> वृन्दावन प्रभु तब अंकन भरि रीझि प्रकाशत काम कला री।
>
> —श्रीवृन्दावन बानी सप्तम भाग पृ० ४५

स्नेह की कला से प्रकाशित तथा विद्युत के समान वर्णवाली श्रीराधिका जी और नवीन बादलों के समान वर्णवाले श्यामसुन्दर इस प्रकार अपने संयोग सुख का निकुंज भवन में पान करते हुये अपने रसिकों के नेत्र रूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान सुशोभित होते रहते हैं। मधुर उपासक अपने इन आराध्य देव की नित्य हृदय से जय ध्वनि करता हुआ आनंद-विभोर हो जाता है, यथा—

> जय जय राधा-मोहन जोरी।
> नव नीरद घनस्याम-बरन पिय दामिनि सी तन दीपति गोरी।
> विहरत ललित निकुंज सदन में गावति गुन सहचरि चहुँ ओरी।
> निरखत प्यारी की छवि वृजनिधि, अँखियाँ भईं चकोरी ॥२८॥
>
> —व्रजनिधि ग्रंथावली पृ० ११८

संयोग-वर्णन में कृष्णः—

माधुर्य भक्ति परम्परा से प्राप्त होने वाली भावधारा रीतिकाल में भी पाई जाती है। इस विषय का विवेचन हम पहले भी कर आये हैं। माधुर्य

का आस्वादन संयोग एवं वियोग दोनों ही स्थितियों में होता है। राधा-कृष्ण तथा अन्यान्य गोपियों के प्रसंग से इस माधुर्य की चर्चा भक्तकवियों ने जी भर के की है। प्रस्तुत प्रसंग में हम इन भक्तकवियों के कतिपय वर्णन देखने का प्रयास करेंगे। हम पूर्व प्रसंग में कुछ कह चुके हैं कि राधा, कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में हैं। अतः उन्हें अपनी शक्ति से एक क्षण भी वियुक्त नहीं होना है। वे अपनी आह्लादिनी शक्ति के सर्वदा वशीभूत हैं और उनके मुख-कमल का रस लूटते रहते हैं, यथा—

वन्दित प्रिया पाद जलजात।
काम रस बस श्यामसुन्दर धरि हृदय जलजात।
करत अति आधीनता परसत दृगन जलजात।
रसिक भगवत चूमि छल मंजुल सुमुख जलजात ॥३॥

—भगवत् रसिक० ग्रंथावली पृ० ५०

राधा के चन्द्रमुख के दर्शन के हेतु निरंतर तरसने वाले श्यामसुन्दर राधा के संयोग को पाकर उनसे चितवन रूपी सुधा बरसाने की कामना प्रकट करते हैं और यमुना के सुन्दर पुलिन पर स्थित निकुंज महल में प्यारी के साथ उमंगित रति रस की निर्झरिणी को प्रवाहित करते हैं, यथा—

रंग महल में ललन बिहारी।
बैठे अति उमंग रति-बाढ़े ढिग लै प्रान पियारी।
सेज-वसनि छबि बसी हिये में लटकि रही उनिमारी।
आनंदघन वृन्दावन रस-भर जमुन-पुलिन सरसारी ॥६८४॥

—घनानंद-ग्रंथावली पृ० ४९१

प्यारी के रंग में सराबोर रसिक बिहारी ने आज अपना राधिका रमन नाम सार्थक कर दिया है और अपने प्राणों को प्रिया जी पर न्योछावर कर अपने अपूर्व प्रेम का परिचय दिया है। वे रसिक सखियों से घिरे हुये कुंज के मध्य कभी तो विहार करते हैं और कभी अपनी प्रिया का शृंगार। माधुर्योपासक कवियों ने इस संयोग वर्णन में कभी कृष्ण का राधा के चरणों में गिरना,[1] राधा के दर्शन तथा स्पर्श के लिये नेत्रों तथा होठों में होड़

---

1 चहुँ ओर ललित के पुंज फूलो कुसुम-कुंज,
राधिका रमण पोरें-पौर बिहरत हैं।

होना[1] राधा के चरणों मे महावर लगाना[2] कानों को फूलों से सजाना[3] आदि विभिन्न चेष्टाओं का भी वर्णन किया है।

मनि हूँ ते पानिप सुगन्धि कुसुमनि सै ल
प्यारी अंग आभरण रचना करत हैं।
सुति फूल पहिराइ हेरि रीस बलि-बलि
कहत कहत लाल अँखियाँ भरत हैं।
लाजन दै काज हू पट की ओट करें तब,
मनोहर हा-हा खाइ पाइन परत हैं ॥४॥
—रामारमन रससागर पृ० ११

---

१ मदन वर की माधुरी निरखत नवल किसोर।
पान करत छवि की सुधा तृपित न होत चकोर ॥
पग तल कल की माधुरी नवल बिमल चमकन्त।
जिनमें सुन्दरस्याम मुख प्रतिबिम्बित दमकन्त ॥
परसन को कर तरसहीं दरसन दृग ललचाइ।
होइ परी सुख मैन सौं लंपट अति तरसाइ ॥
—"राधावल्लभ संप्रदाय तथा साहित्य पृ० ४२१ पर उद्धृत

२ पीत पट पोंछ पाव देत हैं महावर
बीत रचनि रूप रीझ मननि कपावनो।
रंगहि भरत हिय दोऊ रंग रंगे आहि
दोऊ ओर दाइ यो प्रेम पनिवो बनावनो।
कर रोम स्वद अंग सपत मनंग ठंडा,
तब हनमास गहि लालहि जमावनो।
सिये वायपीर रहे नागर मै भूलि-भूलि
परी पाव पावक लौं जावक लगावनो ॥२१॥
—नागर समुच्चय पृ० २५१

३ परत प्रिया के स्रवन पर लाल कमल कमनीय।
पहिरि बलैया लेत प्रिय निरखि बदन रमनीय ॥
—नागर समुच्चय पृ०२७

अतृप्ति —

इस माधुर्य भाव में कभी तृप्ति नहीं होती। ज्यों-ज्यों संयोग के क्षण अधिकाधिक बढ़ते हैं त्यों-त्यों अतृप्ति भी उत्तरोत्तर वर्धित होती जाती है। यह अतृप्ति ही इस रस का मूलाधार है —

श्रीराधा रस मोहिनी।
मोहे मोहनलाल सुधा सुख साहिनी।
पीवत तृपित न होत अधर पीयूष बिहारी।
—श्रीमद्गोपाल-प्रियादासोक्त हरिलीला पृ० ४

प्रेमावेश —

जब राधा श्यामसुन्दर की ओर रस विभोर होकर देखती हैं तो माधव की गति ठीक वैसी ही हो जाती है जैसे चन्द्रमा के सामने चकोर की। वे प्रेमावेश में कभी तो प्रिया जी के हाथों का स्पर्श करते हैं और कभी परों का। निस्संदेह संयोगी कृष्ण के हृदय में विद्यमान इस प्रेम के पीर का राधा के अतिरिक्त और कौन समझ सकता है? जब प्रिया भी उनके रहस्य को जान जाती हैं तो मधुर मुस्कान से प्रियतम को क्षमा कर देती हैं। मार्ग पर अपनी प्रिया के चरण पड़ते ही मदनमोहन उनका अनुसरण करने लगते हैं इतना ही नहीं उन्हें प्रसन्न करने हेतु वे आगे जाकर मार्ग में पुष्पों को भी बिछाते जाते हैं— प्रेमावेश व प्रेम संलग्न की सीमा इस समय अपूर्ण हो जाती है, यथा—

अनयैनी राधा जहाँ, धमकि धरनि हि पाय।
रसिक-सिरोमनि स्याम तहँ, दल सु कुसुम बिछाय॥
परसनि सरसनि अंग की, हुलसनि हिय दुहुँ ओर।
नैन बैन अंग माधुरी, लये चित्त चित चोर॥
प्रिया-वदन-विधु तन लखे पिय मे नैन चकोर।
रूप रसासव-पान करि छकि रहे नंद किसोर॥
—व्रजनिधि ग्रन्थावली-प्रीति० पृ० ११०

अन्य कवियों ने भी संयोग-काल में प्रिया के शृंगार विधान के प्रसंग में कम्प, रोमांच आदि सात्विक संचारी भावों का उल्लेख किया है, यथा—

राधिका को परसत ही बिहारी बिवस भये
कंपित करन टरी तिलक बनायो है।
फूलन को माला पहिरावन न सकत चित,
चहुत भये हैं मन चटक सा छायो है।

बीरी हूँ न दई जाय ब्रजनिधि यौं सुभाय,
प्रिया जू कू अद्‌भुत ही रूप दरसायौ है।
सकल-कला-निधान सुन्दर सुजान कान्ह,
प्यारी को सिंगार चारु करन न पायौ है ॥२८६॥
—ब्रजनिधि ग्रंथावली-ब्रज शृंगार पृ० १४९

संयोग-वर्णन में राधा —

संयोग काल में प्रयत्न केवल कृष्ण की ही ओर से नहीं होता, अपितु राधा भी विभिन्न प्रकार से सक्रिय होती हैं। कृष्ण की सज्जा तथा अन्यान्य शृ गार के उपकरण वह स्वत संजोती हैं, यथा—

आरति करत प्रिया सुखदैनी।
आरति सकल निवारि लाल की मुही आप कर बैनी।
भूषन बसन शृंगार बनाइ श्याम सखी मृगनैनी।
भगवत रसिक भौंह महि लीनी चली कुंज रति सैनी।
—अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ० ५४

मैं मदनमोहन जब तक पीताम्बरधारी राधिका को नहीं दिखाई देते तब तक उनके रोम रोम से मलिनता ही दृष्टिगोचर होती है और उनका जीवन अत्यंत बाधापूर्ण जान पड़ने लगता है किन्तु प्रियतम के मिलते ही उनकी समस्त बाधायें समाप्त हो जाती हैं, रोम रोम हर्षित हो उठता है और तब उनके जीवन में असफलता नाम की कोई वस्तु नहीं रहती—

अब कछु बाधा नाहि रही।
मदन गुपाल मिले सुखदायक साधा सबै सही।
रोम रोम अति हरष भयौ है जीवन सफल सही।
आनंदघन या रस की संपति कैसे परति कही ॥८६॥
— घनानन्द ग्रन्थावली पृ १२१

संयोगिनी राधा की छवि —

संयोग के इस अपूर्व वर्णन को प्रस्तुत करके भी रसिक भक्त अपने दैन्य को बराबर प्रकट करते हुये कहते रहते हैं कि इस रस संपत्ति की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। रसिकों के इष्टदेव श्याम की प्रियतमा श्यामा जब कुंज के मध्य में अपने प्रियतम के समीप नीलाम्बर को धारण कर शय्या पर विराजती हैं तब उनके शरीर का सौन्दर्य मूर्तिमान हो उठता है, यथा—

नीलाम्बर बदन ढाँपि पीढ़ी नवबाला ।
पिय समीप छवि अपार बाढ़ी तिहि काला ।
किधौ रूप जाल बिन्ध्यौ राका शशि सवनी ।
किधौ प्रात उदौ होत राख्यौ रवि रजनी ।
झीनेपट स्वास हलत ऐसी छवि पाई ।
उडगन पति ऊपर मनु रवि आ बहि आई ।
जगमगाइ रह्यौ अधिक बेसर को मोती,
मानौं बस आय करत बैठ्यौ भृगु गोती ॥६३॥

—चाचाहित वृन्दावनदास—स्फुट पद पृ० १८८

विभिन्न क्रीड़ायें —

अपने प्यारे के साथ विहार में रत श्यामा वृन्दावन की उस यमुना तट स्थित सुरम्य वनस्थली पर प्रेमानंद में झूम-झूम कर कभी तो द्रुम-लता को झुकाती हुई एक ओर से दूसरी ओर बढ़ जाती हैं और कभी मनमोहन को पुष्प आदि तोड़कर देने लगती हैं। प्रफुल्लता युक्त अपने अंग-प्रत्यंग से प्रकाशमान प्रिया जी कभी कभी वृक्षों की ओट में प्यारे को अपना आलिंगन भी प्रदान करती हैं, यथा—

झूमि झुकावत द्रुम लता उमरत उर उरमास ।
फूलनि तोरत देत कर मनमोहन कों बास ॥
दुरि-दुरि भेंटत द्रुमनि में फूल भरी सुकुमार ।
लंपट मधुपन मा सहीं पीत जुही की डार ॥

—नागर समुच्चय पृ० २७२

आलिंगन के इस अपूर्व सुख का आस्वादन करते हुए श्रीकृष्ण निकुंज महल में प्रिया जी के साथ विहार में रत हो जाते हैं, उन्हें पुष्प-दल रचित शय्या पर सोने नहीं देते और सम्पूर्ण रात्रि रस-वार्ता में ही बिता देते हैं, राधा तभी आतुर होकर कहती हैं —

अब तो सोवन देहु हा हारे ।
सारी रैन जगोक जगाई लगत न नैन तिहारे ।
तुम्हें तो परयो बातनि को चसको करत-करत नहिं हारे ।
वृन्दावन प्रभु अमृत हु को कोऊ चाह अंगोरन करत बहारे ॥२१॥

—वृन्दावनदासी, नवम चाह पृ० ४१

वियोग-वर्णन में कृष्ण (स्मरणावेग) —

प्रीति के अंकुर के हृदय में उगते ही प्रेमी के नेत्र प्रिय को देखने के हेतु तरसने लगते हैं और फिर चित्त में मिलन की चाह को जमाये हुए वह निशिदिन अपनी प्रिय के ध्यान में मग्न रहता है। इस चाह के वशीभूत माधव जब प्रिया की की याद करते हैं, तो बेहाल हो जाते हैं और निरंतर बंशी की मधुर ध्वनि के माध्यम से राधा नाम की रट लगा देते हैं। उस समय उन्हें अपनी प्यारी के नीलाम्बर का ध्यान आ जाता है और तब वे पीताम्बर को धारण किये रहते हैं। प्यारी की गति और उसकी मुस्कान का स्मरण करते ही वे बेसुध हो जाते हैं और सावधान होने पर वियोग से हाहाकार कर उठते हैं। गायों के बुलाते समय राधे का नाम अनायास मुख से निकलने लगता है और मस्तक का मयूर-पुच्छ, हाथ की लकुटि तथा मुख पर विहार करने वाली मुरली इधर-उधर हो जाती है यथा —

> चाह चटपटी मिलन की लाल भये बेहाल।
> बंसी में रटिबो करैं राधा राधा बाल ॥
> नीलंबर को ध्यान धरि, भये स्याम अभिराम।
> पीतबसन धारे रहैं प्रिया बरन लखि स्याम ॥
> चलनि हसनि मुसकानि में जहाँ-जहाँ मन जाय।
> फिर तन की सुधि नाहि रहै सुधि आयें कह हाय ॥
> कहूँ लकुट कहुँ मुरलिका पीताम्बर सुधि नाहिं।
> मोर चन्द्रिका झुकि रही प्रिया ध्यान मन माँहि ॥
> गया-जमुना नाम कहि धौलनि गायन टेरि।
> राधे राधे बदन तें निकसि जात तिहि बेरि ॥
> मोहन मोहे मोहिनी, भई नेह मतवारि।
> हा राधे ! हा हा प्रिया कहत पुकारि-पुकारि ॥१० ६५॥
>
> —ब्रजनिधि ग्रंथावली प्रीति पृ० ९

कृष्ण की विरह-दशा —

यमुना के पुलिन पर विचरण करते हुए नंदनंदन को जब राधा-प्रिया का ध्यान आता है तो वे उसकी अनुपस्थिति से व्याकुल होकर अपनी मुरली में अनुराग का गीत गाने लगते हैं। विरह के बाण से उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है और वे वन-वन में डोलते पूछते हैं —

मोहन राधा के अनुराग छक्यौ मुरली में गुन गावैं।
बासर बिरह-सरहु उर सालत बन-बन डोलैं ऐसैं क्यौं बहरावैं।
पीत बसन-द्युति देखि-देखि पलकनि सौं परसि नैननि कों मनु मनावैं।
आनंदघन यौं प्रान-पपीहनि रस-प्यासनि परचावैं ॥४२५॥

—घनानंद ग्रंथावली पृ०४११

राधा की किसी सखी ने बनवारी की इस विरह-वेदना को देखा। वह तुरन्त राधा प्यारी के पास गई और कृष्ण की दशा का वर्णन करने लगी, "हे राधे ! तुमने तो उस रँगीले गोपाल को अपने वश में कर लिया है, जिसने वृन्दावन की समस्त गोपियों पर अपनी मोहिनी डाल दी थी, किन्तु इस समय वही घनश्याम पीताम्बर को ओढ़े रात दिन राधा राधा ही रट रहा है और तुम्हारे दर्शन को तरस रहा है, यथा—

है वसि कीन्हौं री लाल गोपाल रँगीलो।
जिहि मोहीं सगरी ब्रज बनिता अन्यौं बानिक छैल छबीलो।
राधे-राधे रटत रहत रैन दिन वन घनश्याम बसन ओढ़ें पीलो।
वृन्दावन प्रभु तेरे ही दरश कौं तरसत फिरत हठीलो ॥१०॥

—श्रीवृन्दावनबानी चतुर्थचरण पृ० २१

एक गोपी का कथन है, 'हे राधे ! ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे नागिन रूपी आँखों ने एक ही बार में उस नंदनंदन को डस लिया है, हे प्यारी ! प्रेम के उस विष से व्याप्त रोम रोम से व्याकुल वे कृष्णबिहारी लहरें लेते हुए से घूम रहे हैं। उन्होंने बहुत से प्रयत्न किये, किन्तु फिर भी विरह-वेदना शांत नहीं हुई है।'[1] अस्तु।

'अब तो निरवाहु किये ही बनै बसि तोहिं सखी बिनु दाहु घनेरो।'[2]

प्रेम यदि सत्य है, तो उसका कभी भी एकपक्षीय रूप नहीं होता है। राधा कृष्ण की प्रतीक्षा में निरन्तर आकुल रहती है तो कृष्ण भी उनसे मिलने

---

१ डस्यौ तुव नागिनि कारो तिहारी।
रोम रोम भयो व्यापि प्रेम विष घूमत लहरनि लेत बिहारी।
करि करि कोटि उपाय थकित भये क्यौंहु जात न विषम लहारी।
अलि वृन्दावन प्रभु श्याम करि अंक विलोकनि मंत्र उतारी ॥१७॥

—श्रीवृन्दावन बानी—चतुर्थचरण पृ०११

२ श्री वृन्दावनबानी—चतुर्थ चार पृ०२०

के लिये सतत आतुर रहते हैं। यह वह स्थिति है ज.ां पहुँच कर कौन किस के लिए क्या करता है—इस बात का ध्यान रहता ही नहीं है। तभी तो कृष्ण राधा राधा नाम का उच्चारण करते हुये पाये जाते हैं :—

चलि री मग जोवत हैं स्याम।
निज कर फुलन सेज सँवारी बिया बढ़ी हिय काम।
बंसी अधर धारि तेरो ही गावत राधा नाम।
ब्रजनिधि सुनत मगन सजनी के चली कुंज अभिराम ॥१॥
—ब्रजनिधि ग्रंथावली पृ०१२१

वियोग-वर्णन में राधा —

प्रियतम के वियोग में व्याकुल प्रिया भी अपने हृदय को किसी प्रकार नहीं समझा पातीं, क्योंकि उज्ज्वल रूप वाले और उनकी आँखों के तारे श्याम सुन्दर उनके पास नहीं हैं। वे कभी उठती हैं, कभी दौड़ती हैं और कभी हा-हा कर अपने प्यारे को पुकारने लगती हैं। बड़ी विचित्र दशा है निरंतर संयोग में रहने वाली उन वियोगिनी राधा की। क्षण भर में ही उनका मुख कमल मुरझा जाता है। उनका यह विश्वास है कि माधव के बिना इस वेदना को कोई समझ नहीं सकता। इस दृष्टि से वे किसी के समक्ष अपनी इस प्रेम की पीर को प्रकट भी नहीं करतीं केवल स्वयं को ही समझाने की चेष्टा करती हैं यथा—

जियरा मैं क्यों समझाऊँ।
रूप-उज्यारे अँखियन तारे ब्रजमोहन देखे बिन हा हा,
ठौर न पावै उठि-उठि धावै गहि गहि लाऊँ।
फिरि मुरझावै बैयारी यह पीर निगोड़ी लिपट सतावै कहाँ दुराऊँ।
मेरे मन की कोई न जाने जैसे हौं दिन रैनि बिताऊँ।
प्रान-पपीहन की यह बेदनि आनंदघन बिन काहि सुनाऊँ ॥६४॥
—घनानंद ग्रंथावली पृ०३४४

वियोग की पीर में प्रेम के इस अविरल प्रवाह को देखकर माधुर्य साधक अपने प्यारे इष्टदेव से अधिक उनके वियोग से उत्पन्न वेदना को ही प्यार करते हैं। उनका यह विश्वास है कि प्रियतम तो हमसे अलग भी हो जाते हैं, किन्तु यह पीर हृदय से कभी न्यारी नहीं होती। रसिकों की धारणा है कि यह पीर अनिर्वचनीय है। जिह्वा से इसके सुख-दुख का वर्णन नहीं हो

सकता। माधुर्योपासकों की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ महा भावस्वरूप प्रिया जी का भी यही विश्वास है—

तिहारी पीर प्यारे तुम हूँ तें अति प्यारी।
पूरि रही है पिरैहै हिय में हाति न कबहूँ न्यारी।
याको सुख दुख कहिये कैसें अकथ कथा और रसना बिचारी।
आनँदघन पिय याको परसनि दुरति न जाति उघारी। १५८॥

—घनानंद ग्रन्थावली, पृ० ४१४

कितनी उच्च भावना है इस युग के रसिकों की! स्वरूप का भान नहीं वासना का काम नहीं प्रियतम का प्यार प्रियतम से बढ़कर है यहाँ और उसी में सतत उसका स्मरण करते-करते बावरा हो जाना ही तो उनकी सिद्धि का स्वयं प्रमाण है।

वियोगिनी राधा के प्यार का आदर्श तो उनके जीवन का प्राण है, क्यों न हो? उनकी स्वामिनी अपने स्वामी को निरंतर अपने नयनों का पाहुना ही बनाये रखती है। जब कभी माधव लीला के हेतु अपनी राधा प्यारी से विलग हो जाते हैं, तो वे पुन कहने लगती हैं—

कब ह्वै हौ नैननि के पाहुने जो हिय है लौ लागी।
अँसुवनि जल सों पखारि पाँय हौं हूँ ह्वै हौंगी सभागी।
मन मेरो मंजरात रात दिन बानि अभिलाष बिकल बैरागी।
प्रान-पपीहन के आनँदघन है पुकार घन-पागी॥४॥

अपने प्रियतम को सर्वदा नेत्रों में पाहुना बनाकर रखना, अश्रुजल से उनके चरणों को धोकर अपने को भाग्यवान समझना और अनन्य प्रेम की प्रतिज्ञा पर अटल रहना राधा आदि गोपियों का ही काम है और किसी का नहीं। अपने सर्वस्व के वियोग में हृदय की अधीरता से वे प्रति क्षण आकुल रहती हैं—यह आकुलता ही उनकी वेदना का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस आकुलता में निरंतर अपने प्राननाथ के गुन-गीतों का गायन करती हुई वे कहती हैं—

हमारी सुरति करौ ब्रजनाथ।
तुम बिनु हम अब निपट दुखारी जैसे मीन बिन पाथ।
निसि दिन गाइ गाइ जीवति हैं सबरेई गुन-गाथ।
आनँदघन रस बरसि पापिये प्रान पपीहा साथ॥८५॥

—घनानंद ग्रन्थावली पृ १२१

प्रेम रस की वर्षा से पीड़ित राधा आदि गोपियाँ आखिर कब तक सहन करें ? निरंतर प्रियतम की स्नेह-ज्योति से जगमगाने वाला उनका हृदय जब तक अपने नैनों से वृन्दावनेश्वर को नहीं देखता तब तक विक्षिप्त ही रहता है, संयोग के क्षणों में जो वस्तु अमृत के समान प्रतीत होती थी, वही अब उन्हें विष वमन करती हुई दृष्टिगोचर होती है। पति का संयोग कैसे हो ? इस सोच में दिन रात मृतप्राय सी होती जा रही है।[1] यदि अवसर बीतने पर श्यामसुन्दर आये तो उनका यह यौवन नाम सार्थक कभी नहीं होगा। विरह में व्याकुल वे सभी अपने प्रियतम से इसीलिये बिलख-बिलख कर रस बरसाने की प्रार्थना करती हैं,

आइ सुधि लेहु सवँरी स्याम ।
औसर गये बहुरि कहा ऐहौ ब्रज जीवन धरि नाम ।
यही निपट मुरझाइ बिलखि बसि प्रबल बिरह के घाम ।
आनंदघन रस सींचि हरी करी बेलि बिचारी बाम ।।१८७।।
—घनानंद ग्रंथावली पृ०४११

२. विरहोन्माद—

रास के मध्य लीला विहार करते हुये मदनमोहन जब गोपियों से विलग हो जाते हैं, तो इस युग के रसिक भक्तों की दृष्टि में भी समस्त गोपियाँ अपने प्रियतम को ढूँढ़ती हुईं वृक्ष और लता आदि से उनका पता पूछती हैं। किन्तु उनके इस वेदनात्मक प्रश्न का उत्तर कौन दे ? वे अधीर हो उठती हैं और जिस मार्ग से श्रीकृष्ण अदृश्य हुये थे उसी का अनुसरण करने लगती हैं इतना ही नहीं, प्रियतम की अनुपस्थिति में उनकी भाव-लीला में तन्मय भी हो जाती हैं, यथा—

याही बीच और ब्रज सुन्दरी सबनु राधा-
रसम फिरत ढूँढ़ि मति भई बावरी ।

---

१ कैसे मिलन बने जोगी को ।
राति द्योस सोचन ही मारिये क्यों हूँ दुख न टरत बापुरी को ।
स्याम-रूप ठौरी पै अँखियाँ और कछू लागत नहिं नीको ।
चातक ह्वै लागी धुनि तजनो आनंदघन जीवन है जी को ।।१४५।।
—घनानंद ग्रंथावली पृ ४८४

फिरै बृक्ष बेलि मृग मृगी भवनि बिहंग-
पूँछत कितहूँ देखी मूरति सु साँवरी।
उत्तर न कहूँ पाइ तनमई भई लीला,
प्रिय अनुकरन करत बाढ़ी बावरी।
"मनोहर" ढिग मही चरन चिह्न पाछे प्रिया,
सहित सुहाग देखि आइ गई साँवरी ॥१८॥

—राधारमण रससागर पृ० १४

उन्माद की इस अवस्था में भी श्यामसुन्दर की मूर्ति हृदय से नहीं निकलती, नैनों से विपुल अश्रुप्रवाह होता है और गोपियाँ माधव के माधुर्यमय रूप की मदिरा पिये हुये उनकी याद में आत्मविभोर होकर गिर-गिर पड़ती हैं। साक्षात् मन्मथ' श्रीकृष्ण ने अपनी टेढ़ी चितवन से गोपियों के हृदय को भी मथ डाला है।[1] और राधिका के उर पर नख-क्षत करके उनके हृदय को जीत लिया है। इस नख-क्षत को वियोगावस्था में देखते ही राधा प्यारी के समक्ष श्यामसुन्दर की मोहिनी मूर्ति थिरकने लगती है और तब वे अपनी सखी से व्याकुल होकर कहने लगती हैं—

बेगि लै आवरी लाल बिहारी प्रान प्रिया कौं।
कलमलात उनके देखन कौं राखि लै जिन्न जिया कौं।
हितू जानि कै तोसौं कहति हौं चेरी मानि अधीन तिया कौं।
आनंदघनहिं मिलै सियरो करि बिरहा दहत हिया कौं ॥६५७॥

— घनानंद ग्रंथावली पृ० ४८४

हृदय-स्पर्श पाने के लिए और नैन मुख-कमल के दर्शन के लिये तरस रहे हैं। वियोगिनी राधा को नंदनंदन के वियोग में एक एक क्षण एक-एक युग के समान प्रतीत हो रहा है। और वह किसी भी उपाय से अपने प्रिय का संयोग पाने के लिये अपनी सखी से कह रही है—

करौं किमि कैसेहुँ कोऊ उपाई।
ब्रजमोहन के रंग रँगी री और न कछू सुहाई।

---

१ मन्मथ मनमथ मन मथ्यो बंक बिलोकन बान।
नख रेखा लखि लाड़िली निज उर कर्षत मान ॥ १७॥

—प्रियादासकी हरि लीला पृ० ९

कहु यो न मानति अँखियाँ मेरी लागी विरह-बलाई ।
अरबरात ये प्रान सखी री ब्रजनिधि मोहि दिखाई ।
—ब्रजनिधि ग्रंथावली पृ० १९४

निकुंजेश्वरी को प्रियतम से तुरंत मिलने का जब कोई उपाय नहीं दृष्टिगोचर होता तो वे मन मसोस कर रह जाती हैं मन-प्राण घुल जाता है और वे विरह की ज्वाला में दग्ध होने लगती हैं। रसिकों की दृष्टि में उनका मन उनके पास अब नहीं रह गया और कृष्ण की एक चितवन में ही उनके साथ हो लिया—वे विचार करती हैं, किन्तु दोषी कौन है ? अन्तर्लीन मना है यह उनकी भी समझ में नहीं आता, यथा—

प्रेम की मरोरनि मसोसे मन मारिये ।
दृगनि के साथ ह्वै बिकानो पर हाथ इहि
दीजै काहि दोष कहौ कौन पै पुकारिये ।
भूल्यौ धन धाम अब कहाँ घनश्याम आली
बिना काम देह यों वियोग आगि जारिये ।
वृन्दावन प्रभु कहूँ नैंक हू निहारिये सुतन,
मन तन प्रान वारि-वारि डारिये ।।८१।।
—श्रीवृन्दावन वाणी—चतुर्थ भाग पृ० ११

प्रेम की पीर बराबर बढ़ती ही जाती है प्राणनाथ की अनुपस्थिति में अब प्राण नहीं रहना चाहते। सत्य है, प्रेम की पीर भी कब तक सही जाय ? इस अनोखी पीर में चैन तो लुट ही जाता है साथ ही शरीर भी जर्जर हो जाता है। श्रीकृष्ण की प्रकट लीला विशेष में श्रीराधा का यह विरह मधुर उपासकों के हृदय में भी ठीक वैसी ही तड़पन प्यारे नंदनंदन से मिलने के हेतु उत्पन्न कर देता है जैसी उनकी स्वामिनी राधा के हृदय में क्षण भर में उत्पन्न हो जाती थी। राधा-माधव की नित्य लीला में किसी का किसी से वियोग कभी नहीं होता। धराधाम अवतार लीला के कारण ही व्रज में रहनेवाली गोपांगनाओं की इस वियोगमयी दशा का चित्रण रसिकों द्वारा किया गया है, यथा—

दूरे लीलाविनोदस्य प्रकटस्यानुसारतः ।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ ।
वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादि विभ्रमैः ।
हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित् ।
—उज्ज्वलनीलमणि सम्भोगवियोगस्थितिः पृ० ५१० ५१२

आधुनिक कृष्णभक्त कवियों का संयोगात्मक-वियोगात्मक माधुर्य

प्राकृतिक अलंकारों से सुसज्जित वृन्दावन की सुरम्य स्थली में नित्य रस-लीला निमग्न राधा-माधव इस युग के भी माधुर्योपासकों के प्राणधार हैं। पूर्व परम्परानुसार इन भक्त जनों ने भी अपने काव्य के विशाल प्रांगण में मधुर उपासना का शंख फूंक दिया था और राधा-कृष्ण युगल की नित्य झाँकी की माधुरी का पान किया था। इष्टदेव की याद में इन भक्तों के भी हृदय रतिरस से परिपूर्ण हो गये थे और तन-मन आदि सब कुछ श्रीकृष्ण की एक ही बाँकी चितवन से इनके पास भी न रह गया था। राधा कृष्ण के प्रेम में मतवाले होकर फिर उन्होंने भी उनका गुणगान करने में कोई कसर न उठा रखी। कुंज के मध्य मादन भाव से युक्त युगल-केलि का इस युग के कवियों ने भी परंपरा से प्राप्त चित्रण कर अपनी रसमयी अनन्य-भावना का परिचय दिया है। इनके राधा कृष्ण भी जब कुंज के मध्य विराजते हैं, तो प्रेम से उमंगित होकर परस्पर फूले नहीं समाते। दीपक की झिलमिल ज्योति से प्रकाशमान एवं पत्तों के बीच से झरने वाली अमृतमयी चंद्रिका से आलोकित कुंज में युगल आराध्य तन्मयता से रसमयी बातों में संलग्न रहते हैं, परस्पर नित्य संयोग का सुख देते हैं और आलर्दभों से इस शोभा को देखने वाली सखी-जनों के हृदय में नित्य प्रेम रस को ढरकाते हुये उन्हें आनंदित करते हैं, यथा—

> आजु रस कुंज महल में बतियन रैन सिरानी जात।
> वास-रंध्र तें भरित चाँन्दनी बसत मंद मधु सीतल बात।
> छमछमात निसि झिलमिल दीपक पात बरक बिच-बीच सुहात।
> रगमगे दोऊ मुख दिये सिराहने, आलस बस मुसकात ज़ँभात।
> मधुर विहास सुनात दूर लौं संपटि रहे विपरित सब गात।
> "हरीचंद" दोऊ रस-लालची, छिपिस तऊ जागे न अघात ॥६॥
>
> —भारतेन्दु पदावली पृ० भा० पृ० ४६०

युगल छवि –

रति रस के एकमात्र देवता श्यामसुन्दर के साथ कुंज भवन में विराजमान प्रिया जी को परस्पर छवि को देखकर तथा प्रीति-परिचयन करने वाली उनकी प्यारी उक्तियों को सुनकर रसिक भक्त को भी चैन नहीं पड़ती और तब वह भी युगलस्तुति को अपना मधुर दे डालता है तथा मनहरण की रूप-माधुरी में छक कर गा उठता है—

माधव इन दोउन पै बलिहारी ।
नंदलाल रति पति बिलास छबि, चन्द्र-बदन वृषभान दुलारी ।
बैठे कुंजभवन बतरावत, उपजावत सुख प्रीतम प्यारी ।
नारायण उपमा कहा दीजै, मैं अपने मन बहुत बिचारी ॥१७॥
—व्रजविहार पृ०११

निरंतर रति रस केलि निमग्न प्रिया-प्रियतम के रसमाते नैन, सुमधुर शरीर और अटपटी वाणी का श्रवण एवं दर्शन सर्वस्व समर्पित करने वाले किसी अति भाग्यवान रसिक भक्त को ही प्राप्त होता है । वे राधा-माधव तो बरबस अपने भक्तों के चित्त का हरण कर उन्हें आनंद प्रदान करते हैं और उपासक एक बार चरणों का सामीप्य पाते ही फिर उन्हें नहीं छोड़ता, यथा—

दोउ बरबस चितहिं चुरावैं ।
आंख निमोही परत पिया पै, पिय देखत अकुलावैं ।
जो समान हू वै दुहुन दीजिये तो कहा नैननि भावैं ।
सर्वेस्वर दम्पति के चरननि, लिपटन ही जिय भावैं ।
—'श्रीसर्वेश्वर' वर्ष ७, अंक२, पृ०७

इस भाव युक्त भक्ति से साधक के इष्टदेव करोड़ों कामदेवों को लज्जित करते हुए नटवर वेष से उसके मन में विराज जाते हैं । कुंज में परस्पर संयोग सुखामृत का पान करने वाले युगल आराध्य जब अनायास एक दूसरे के रूप-माधुर्य को देखकर मुग्ध हो जाते हैं, तो फिर एक क्षण भी धैर्य उन्हें नहीं रहता और वे परस्पर अपने मधुर रस का पान कराते हैं । निरंतर इस रस धारा के आस्वादन करने की कामना से साधक अपनी साधना में रत रहता है और अपने विहार सुख का नित्य आस्वाद कराने वाले राधा माधव भी ।

युगल-विहार सुख —

रसिकों के दर्शनीय दम्पति किशोर जब विहार सुख में तन्मय होकर रसास्वाद करते हैं तो परस्पर उनके हृदय से हृदय, मन से मन और भुजाओं से कंठ आबद्ध हो जाते हैं, यथा—

बिच बिपिन नव कुंज, में, करत युगल रस केलि ।
उर सूं उर मन सूं जु मन, गीव भुजा रहे मेलि ॥

ग्रीव भुजा रहे मेलि हिये अति ही सुख मानत।
अतुल अनूप अनन्द, कहत मुख बनि किन आवत॥
रँगे प्रेम के रंग अंग, रहे मिलि रस ते लिप।
हीरासखी सुभाग, कृपाहित लखि शोभा चित॥

—अनुभव रस पृ० १११

राधा-माधव की इस तन्मयता में रसिकों के नेत्र गौर श्याम की मिश्र ज्योति का आभास पाकर चकित हो उठते हैं। कुंज के मध्य इस प्रकार के दोनों अपनी कांति से समस्त भक्तों के हृदय को आलोकित कर अपने रहस्य को प्रकट करते हुये उल्लास के साथ एकाकार हो जाते हैं। निश्चित ही यह अत्यंत निगूढ़ तत्व है जिसे साधक की किशोरी भावना ही समझ सकती है। यह छटा तो देखते ही बनती है—

सख्यो मैं अनुपम रस एक रात।
दम्पति छटा कहति नहिं आवे, देखत हृदय सिरात।
पौढ़े रतन-जटित पलका पर, नेकु हिय हुलसात।
मानो चिद्घन तन कांतिपुंज, सतगुन पर सरसात।
गौर श्याम छवि एक भाव ह्वै एकहि ज्योति दिखात।
ध्यान मगन रस गम्य अगोचर याहि सकल श्रुति गात।
प्राप्त होत पुनि द्वै छवि देखौं भक्त-पास मृदुगात।
गूढ़ तत्व यह दवि भक्ति बस दुर्गा रसिक सिहात॥७॥

—नि० मा० पृ० ६८८

प्रियतम कृष्ण की यह झाँकी तब तक व्यक्त नहीं होती, जब तक श्री राधिका जी अपने भक्तों पर कृपा करके माधव को प्रेरित न करें। राधा की प्रेरणा से श्यामसुन्दर कुंज की एकांत लीला भी करते हैं और महल-लीला भी। सभी भक्तों को अपने विहार-सुख का अमृत देने के लिये राधा कृष्ण से कहती हैं—

अहो मेरे लाल! भामते प्रीतम।
आनंद कंद किशोर मूरति प्रेम रस घन-बरसने प्रीतम।
स्निग्ध चिद्घन चारु मनोहर हे उदार! मेरे लाड़िले प्रीतम।
चलो-चलो अब मंडल चलिये रस ढरिये मेरे लाड़िले प्रीतम।

—व्रजभूषणशरण देव नि० मा० पृ० ७४१

सखी-जनों को निरंतर अपने ध्यान में मग्न जानकर प्रभु द्रवित हो जाते हैं और मामन्त्रि के प्रस्ताव करते ही केलि पधारने की अभिलाषा को व्यक्त कर सखी-मंडल के हेतु सम देते हैं, यथा—

प्राण प्रियतमा प्रियवर प्यारी ! कल बैनी सुकुमारी हो ।
तुमरी या मृदु आनन पर हौ तन मन धन वरूँ वारी हो ।
कृपा मनाऊँ यह वर पाऊँ तव सेवा अधिकारी हो ।
वेगि पधारो भव पग धारो परिकर की प्रतिपारी हो ।
ब्रजभूषण शरण देव नि मा० पृ० ७४१

सखी-सुख —

कुंज की पुष्परचित शय्या से श्याम श्यामा ने सखीजनों को अपने दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य का पान कराया सखियाँ आरती करती हैं बलिहार जाती हैं और अपार रूप राशि के आस्वाद को देखकर तृण तोड़ती हैं। उनकी जय-जयकार से वह सकल निकुंज गुंजित हो जाता है नृत्य-संगीत अपनी समस्त कलाओं के साथ थिरकने लगता है क्योंकि सर्वतोभाव सामने विराज रहे हैं—

प्रात उठि मंगल म सईंसी भास ।
रत्न जटित सिंहासन राजत ज्यों घन तड़ित प्रकाश ।
आरति करत प्रेम रस सानी ललिता छवि युत थार ।
मानो चिद्घन ऊपर वारति मंगलिया रूप-भास ।
तृण तोरति पुनि वारि विशाखा वन्दत पद धरि भाल ।
वारि बहा पर साधन ज्यों रति सेवत पद आवास ।
जय जय करत सुखित आलीगण दखि युगल प्रतिपाल ।
ज्यों मुनिगण सजि विधि निषध लखि बढ़हि हीय हिहास ।
सठत तरंग राग भैरव की बाजे बजत रसाल ।
तुर्मा यह दम्पत्ति छवि निरखत मिटत सकल भव जाल ॥८॥
—नि० मा० पृ० १८८

सखियों की आन्तरिक अभिलाषा को जानकर ही तो राधा माधव ने यह क्रीड़ा दिव्य रूप दिखलाई और उनके लिए दोनों सभी मंडल सहित वन-बागों में क्रीड़ा करने लगते हैं। समस्त सखियाँ मुग्ध हो जाती हैं और प्यारे दम्पति के रूप सौन्दर्य को अक्षुण्ण बनाये रखने की कामना से राई नोन तक उतारने लगती हैं। मंडल की इस क्रीड़ा में युगल परस्पर अपनी कला का प्रदर्शन करते हुये रसिकों के हृदय स्थित अनुराग का परिवर्द्धन कर उन्हें रस-मत्त कर देते हैं, तभी तो वे गाते हैं—

सखिन सहु कीडत गोठ बन बाग ।
अति सुकुमार किशोर सदा वय नव शृंगार सुभाग ।
परम रम्य तनु ऊपर छायी मंजुल कुसुम पराग ।
ज्यों चैतन्य शक्तियुत ऊपर सगुन निगम अनुराग ।
दोऊ रचत कुसुम आभूषण विविध करसि रचि ताग ।
शुभ शृंगार कुंज में पाहुन मानों छवि मणि भाग ।
सुख सों प्रिया प्रियहि पहरावत हँसि-हँसि भरी सुहाग ।
करि शृंगार लाड़िली को पुनि भाल सम्हारत माँग ।
यह लीला लखि सखा सिहावें प्रेम सरस मन पाग ।
ललिता छवि पर वारि नौन तृण राई डारत आग ।
रसिक गम्य यह रस सुख अनुपम रसिकन का नवराग ।
यही धाम रस प्रिय दुर्गा का योग सिद्धि जप याग ।।८६।।

—नि० मा० पृ० १८६

संयोग-वर्णन में कृष्ण —

इस युग के रसिक कवियों के रसमय संयोग-वर्णन में राधा के प्यारे और नंद के दुलारे कृष्ण प्रिया जी के समक्ष उपस्थित होकर उनके अनुपम रूप पर ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि कहते ही नहीं बनता। वे मनमोहन नित्य उनकी रूप-माधुरी का पान करते हुए निरन्तर लोचन दृष्टिगोचर होते हैं और अपनी प्रिया के सौन्दर्य की अनिमेषता की आरती में राई नोन उतारने लगते हैं। अत्यंत स्वाभाविक भावना के साथ वे ही कृष्ण अपने कोमल करों से प्रिया जी के शृंगार करने की अभिलाषा को भी प्रकट करते हैं और अपनी प्यारी से स्पष्ट कहने लगते हैं कि हे प्यारी, यदि कुछ तुम चाहो तो मैं सारे संसार में[1] बिना प्यारी के इस कृष्ण का एक क्षण भी चैन नहीं पड़ती। अस्तु विनय ही वे कहने लगते हैं—

---

१ प्यारी नित ऐसे ही तुम्हें निहारूँ ।
तुम तोरें या बार बदन पै राई नोन उतारूँ ।
निज कर करूँ शृंगार तिहारो सुख पे भ्रमर बिदारूँ ।
नारायण जब तुम कहो गाओ मैं दिन बाज बजाऊँ ।।२१।।

—व्रजविहार पृ० २०५

प्यारी जी तिहारे बिन कल न परत है।
मन्दिर,अटारी चित्रसारी और फुलवारी मोहिं कछु प्रिय न लगत है।
मनो समझायो इत उत बहलायो पुनि, तौहू मन धीर न धरत है।
एती हठ आगे कब कियो नारायण जेती हठ आज तू करत है ॥१५॥

—ब्रजबिहार पृ ९४

अपनी प्यारी को निरंतर हृदय में बसाये रहने वाले रसिक शिरोमणि को रति रस रंग में प्रिया जी का तनिक भी हठ अच्छा नहीं लगता। वे भरसक अपने मन को बहलाने तथा धीर धारण करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु सब व्यर्थ जाता है और तब वे कह उठते हैं—

प्यारी तुम सम और न तिय जग हेरी।
कहा बड़ाई करूँ गुणन की जामें दृष्टि न पहुँचत मेरी।
आठो याम मत्त तुमरे रस मो जिय सूँ नहीं पलक टरैरी।
हीरासखी हित की स्वामिनि तुम तिहारे बिन छिन कल न परैरी ॥२॥

—अनुभव रस पृ० ६७

संयोगी कृष्ण का दैन्य—

हठ करती हुई प्राण प्यारी राधिका के ऊपर जब कृष्ण द्वारा की गई इस रसमयी प्रशंसा का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो वे उनके समक्ष अत्यंत दीनता-पूर्वक स्वयं को अपनाने की प्रार्थना करते हैं और प्रेम विभोर होकर यहाँ तक कह जाते हैं कि हे प्यारी! संकट के समय निरंतर तुम्हीं ने मुझे सहायता पहुँचाई है। अस्तु, तुम्हारे ही वियोग से उत्पन्न जो मेरी वेदना है, उसका निवारण करो।

कृष्ण की उपर्युक्त दीनता एवं अधीरता को न तो रसिक सह पाते हैं और न उनकी स्वामिनी। परिणामत: वे अपने प्यारे को अपने हृदय पर खींच कर उन्हें अपना रसमय आलिंगन दे ही देती हैं, यथा—

लीजिये मोंहि प्रिये अपनाय।
जब जब भीर परत मोंपर तब तुमही होति सहाय।
सखि मोहन की अधिक दीनता मिलीं तुरत उर लाय।
हीरासखी हित नन सिरावत निरखत छवि न अघाय ॥२॥

—अनुभव रस पृ० ६७

इस मधुर आलिंगन की छवि को देखकर रसिक भक्त कभी तृप्त नहीं होता। संयोग की मधुर दशा में भी कृष्ण के प्रेमवैचित्र्य के कारण जब राधा वियोग की याद आती है तो उनका हृदय क्षणमात्र के लिए वेदना से भर जाता है। यथार्थ में प्रेम रस की मदिरा का एक बार पान कर लेने पर फिर उसकी मादकता का नाश नहीं होता। राग की आग किसी के बुझाये नहीं बुझती। प्रेमी का तन, मन और प्राण सब कुछ इस आग से चम-त्कृत हो जाते हैं। प्यारे कृष्ण भी निरंतर प्रिया के इसी प्रेम-संयोग में तन्मय रहते हैं और राधा भी श्यामसुन्दर को पाकर रसमत्त हो जाती हैं किन्तु दूसरे ही क्षण जब उन्हें ध्यान आता है, तो वे कुंज के मध्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु चल पड़ती हैं। जिस मार्ग से राधा चलती हैं श्यामसुन्दर उसी मार्ग पर कोमल पुष्पों को बिछाते जाते हैं, अपलक नेत्रों से मंद-मंद मयन्द गति से चलने वाली अपनी प्रिया को देखते जाते हैं और उनके मुख कमल के रस को प्राप्त करने के लिये भ्रमर के समान स्थिति के वशीभूत हो जाते हैं, यथा—

> बन कुंजन जात सखी कुहु रैन मध्य—
> मानों दामिनी नवल किसोरी।
> जाही जाही मग पग धरत प्यारी जू—
> ताही ताही पथ प्यारो बिछावत फूलन भरी झोरी।
> मंदमुखी मद मंद चलत गयंद गति—
> यक टक चितवत है मनो चकोरी।
> अंग अंग राधे कमल अरुण तरुण दल—
> मोहन मन मृग भयो ललित किशोरी ॥३॥
>
> —अभिलाष माधुरी पृष्ठ २०१

इस प्रकार निकुंजेश्वरी की रस लीला से आह्लादित कृष्ण की इस झाँकी का नित्य दर्शन करते हुए उपासक रस में तन्मय रहते हैं।

संयोग-वर्णन में राधा आदि —

रसिक बिहारी कृष्ण राधा के परम प्यारे प्राणनाथ थे। वे निरंतर उनकी झाँकी को देखकर अपने को भाग्यवान समझती थीं और कृष्ण से कहा करती थीं —

प्रीतम तुम मोहिं प्रान ते प्यारो ।
जो तोहि देखि हिये सुख पावत सो बड़भागिन वारो ।
तुम जीवन धन सरवस तुमहीं तुमहिं दृगन को तारो ।
जो तुमको पलभर न निहारूँ दीखत जग अँधियारो ।
मोद बढ़ावन के कारण हम मानिनी रूप को धारो ।
नारायण हम दोऊ एक हैं फूल सुगन्धि न न्यारो ।।२२।।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग २

राधा के जीवन में कृष्ण परम पुनीत प्रकाश-पुंज के रूप में हैं। उनके बिना समस्त संसार अंधकारमय प्रतीत होता है। मनोविनोद के हेतु किये गये मान में भी जब वे मनमोहन का अत्यंत व्याकुल देखती हैं तो अपने नित्य संयोग की चर्चा से उन्हें शांत करने का प्रयास करती हैं और प्यारे के मुख को चूमते हुए उन्हें गाढ़ालिंगन प्रदान करती हैं। संयोग के इस क्षण में राधा का हृदय उमंग से भर जाता है—

आजु मुख चूमत पिय को प्यारी ।
भरि गाढ़े भुज दृढ़ करि अंग अंग उमगि उमगि सुकुमारी ।
लहि इकन्त प्रानहु ते प्रियतम करत मनोरथ भारी ।
उर अभिलाष लाख करि-करि के पुजवत साध महारी ।
मानत धन धन भाग आपुने देत प्रान धन वारी ।
हरीचंद' लूटत सुख संपति श्री वृषभानु-दुलारी ।।२३।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग—कृष्णचरित्र पृष्ठ ४१२

राधा की लज्जा—

कुंज के मध्य राजेश्वरी प्रिया जी से आलिंगित कृष्ण की जब रति रसलीला का प्रारंभ होता है तब वृषभानु पुत्री को लाज के कारण प्रियतम के समक्ष अत्यंत संकोच होता है— रतिरस-संयोग के इस सागर की मनोहर तरंगों से तरंगित लाज के उत्पन्न होते ही रस का निरन्तर परिवर्तन होता रहता है—दर्पण में प्रतिबिम्बित यह माधुर्य अत्यन्त अपूर्व है। भारतेन्दु के शब्दों में—

प्यारी लाजन सकुची जात ।
ज्यों ज्यों रति प्रतिबिम्ब सामुहे आरसि मोह लखात ।
कहत लाय नहिं दूर राधिये थरथरि कंपत गात ।
"हरीचंद' रस बढ़त अधिक अति ज्यों ज्यों लोय लजात ।।६२।।

—भारतेन्दु ग्रंथावली राग संग्रह पृ० ४४८

प्रियतम के संयोग में लज्जा को स्थान नहीं रहता । रतिक केर के पश्चात् संयोगिनी राधिका की लज्जा समाप्त हो जाती है और वे रसिकों से दुग्गमाम संयोग माधुर्य के इन अपूर्व क्षणों में आनंद से विभोर होकर अपने प्रियतम से यह हठ करती हैं कि आज मैं उनसे सभी कार्य करूँगी जितने आप मेरी प्रसन्नता के हेतु करते हैं । कृष्ण बनकर तुम्हें मनाऊँगी अपलक नेत्रों से निहारूँगी, झगड़ूँगी तथा समय जानकर आलिंगन भी करूँगी यथा—

प्यारे आजु अनुपम स्याम करौंगी ।
नख सिख सौं पट भूषण अपने तिहारे अंग धरौंगी ।
साँझ सहेलि हूँ प्रकट बखिया तुमरे हीं पहरौंगी ।
मैं सिर मुकुट चन्द्रिका तुम सिर या विधि चित्त हरौंगी ।
आप मान करिकै बिराजियो हौं तब चरण परौंगी ।
लाख बार किन नाहीं करिहौ बिग ते पल न टरौंगी ।
जैसे तुम नित झगरत मा संग तैसेई मैं झगरौंगी ।
हीरासखीहिन समय जानि उर गहि भुज अंक भरौंगी ।।४।।

—अनुभव रस पृ०२११

संयोगिनी राधा की आतुरता—

मान लालिनी नायिकास्वरूप प्रिया जी की अभिलाषा के वशीभूत मदनमोहन प्यारी के आग्रह को स्वीकार करते हुए मानकर बैठे हैं।

स्नेहातिरेक से तभी राधा व्याकुल हो जाती हैं । वे अपने प्राण प्यारे के क्षणिक वियोग को भी नहीं सह पाती और रसिक कवि के शब्दों में अपने श्यामसुन्दर से कह उठती हैं—

मति ब्रज स्याम हँसावो जी प्यारे।
हाथ जोरि पिया विनवौं करति हूँ तनक हिये किन लावो जी प्यारे।
धनिये सदन मग्न दिन मितियैं जिन जियरा तरसावो जी प्यारे ।
सामरी सुरति और लटक मुकट की दृग भरि नित ही दिखावो
जी प्यारे ।
हम अधीन अबला सुनि प्रीतम दान जानि अपनावो जी प्यारे ।
लगन लगी तुम संग नंन्दनन्दन चरण शरण लिपटावो जी प्यारे ।
छाप अन्तर अब नहिं न परत है निरटहि निरट बसावो जी प्यारे ।
हीरासखीहित भूप मान करि निज पग टहल बतावो जी प्यारे ।।५।।

—अनुभव रस पृ० २१३

कितनी रहस्यमय है यह दम्पति किशोर की लीला ? राधा का प्रस्ताव और राधा का दैन्य या तो प्यारे कृष्ण ही जान सकते हैं या फिर उनके वे रसिक भक्त जो निरंतर इस रहस्यमय आनंद का रस पान करते हुये अपना दिव्य जीवन वृन्दावन की सुरम्य वनस्थली में व्यतीत करते हैं। माधुर्योपासकों के वर्णन के अनुसार श्याम रंग में मतवाली राधा निकुंज महल में कुंजबिहारी प्राणनाथ के कंठ में उमंग के साथ लिपट कर अपने उस क्षणिक प्रेम-वियोग की कसक को मिटाती हैं। रति-लीला में प्यारे को पराजित करती हैं और अपने नित्य संयोग के लीलापरक वियोग का बदला चुका लेती हैं। इस मधुर बेला में प्रियतम के द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर वे राधिका जी नहीं दे पातीं और घूँघट की ओट में अपने मुख की कांति को छिपा लेती हैं। इस प्रकार प्रेम रस में सराबोर होने के पश्चात् प्रिया जी जब निकुंज महल के बाहर आती हैं, तो रसिक भ्रमर उनके कमल मुख के रस को पान करने का प्रयास करते हैं। इस समय राधा के नेत्रों में रस, अंग पर अस्त-व्यस्त वस्त्र और वक्षःस्थल पर प्रियतम द्वारा किया हुआ नखक्षत अपने सौन्दर्य की रश्मियों से उपासक को रसमत्त कर देता है। राधा बाहर आते ही नित्य सखी जनों को अपनी रस केलि की कहानी सुनाकर रसमग्न कर देती हैं और चित्र के समान द्वार के सहारे खड़ी होकर अपने बाजूबन्द को बाँधने लगती हैं यथा—

आजु केलि मन्दिर सों निकसि नवेली ठाढ़ी,
भौंर चारों ओर रहे गंध लोभि वार के।
नैन अलसाने भूमें पलहु परे हैं भू मैं,
उर में प्रगट चिन्ह पिय कंठहार के।
हरीचंद सखिन सों केलि की कहानी कहै
रस में मसूसी रही आलस निवार के ॥८६॥
साँचे में ढरी सी परी सी ही उतरी सी खरी
बाजूबंद बाँधै बाजू पकरि किंवार के।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली—प्रेममाधुरी पृ १६७

माधुर्योपासक यहीं पर अपने प्यारे के ऊपर सब कुछ न्यौछावर कर सदा के लिए उनका हो जाता है।

विप्रयोग-वर्णन में कृष्ण—

रसिक-भक्ति-परंपरा के अनुसार राधा-माधव युगल के प्रेम में तन्मय होकर इस काल के भक्तों ने भी उनकी प्रकट लीला की महत्ता के प्रतिपादन के हेतु ही वियोग-माधुर्य की अभिव्यंजना प्रस्तुत की है। प्रिया जी को क्षण मात्र भी अपने निकट न पाकर वे रास विहारी विरहजन्य वेदना से अधीर होकर अपनी प्रिया जी की परमप्रिय सखी ललिता से पूछ उठते हैं और कहते हैं कि जो मुझ राधा प्यारी का संयोग करा दे उसे मैं अपना पीताम्बर, बंसी आदि सब कुछ दे डालूँगा। विरह की इस एकाग्रता में माधव के नेत्रों के समक्ष वृषभानुजजी की झाँकी विद्यमान रहती है और मिलाप का अनुभव होते ही—

सखिन सों पूछत फिरत हैं प्यारी।
ललिता तू मोहि आनि मिलावै हौं तेरी बलिहारी।
दैहौं आपुनों पीत पिछोरा बंसी रतन जराई।
"हरीचंद" इमि कहत राधिका ध्यान माँह फिर आई ॥५॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वि० भा०—तन्मय लीला पृ० ६१०

कृष्ण की अधीरता एवं आकुलता—

राधा के प्रेम रस में मत्त वियोगी कृष्ण को इस समय स्वयं का ज्ञान नहीं रहता। सखियाँ उन्हें धीर बँधाती हैं, सान्त्वना देती हैं और लज्जित भी करती हैं किन्तु आकुल माधव उनसे कहने लगते हैं—

लाज सों मेरो काम कहा री।
बिन प्यारी मोंहि कल न परत है, इक-इक पल बीतत है भारी।
ऐसी कहा चूक भई मो पै तुम सजनी सब देखनहारी।
नारायण मोंहि बेगि बताओ क्यों रूठी वृषभानु दुलारी ॥८॥

—ब्रजविहार पृ० ९०

कृष्ण ने ठीक ही कहा है, प्रेम के इस पवित्र प्रान्त में लज्जा स्वयं लज्जित हो जाती है और प्रेमी स्वयं अपनी ओर देखने लगता है। नंदनंदन की भी दशा इस वियोग के कारण बड़ी विचित्र सी हो गयी है। प्यारी के बिना उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, चारों तरफ आँख पसार कर देखते हैं किन्तु प्रिया जी दृष्टिगोचर नहीं होतीं। हृदय वेदना की अग्नि से दग्ध हो रहा है और मन समझाने से भी धैर्य धारण नहीं करता—

मोहि प्यारी बिन कछु न सुहावे।
इत उत हेरत हूँ सुनि सजनी कितहू नजरि न आवे।
पावक की सी धाप उठत हिय उन बिन कौन बुझावे।
हीरासखीहित प्राण प्रिया मन तो बिन को समुझावे।

—अनुभव रस पृष्ठ ९९

विरह की परिपूर्ण स्थिति में राधिकारमण पुनः विशाखा से कहते हैं—

विशाखा गुण मानूंगो तेरौ।
दुख में सुख सरसाई अबीरी यही निहोरो मेरौ।
अब बिन प्यारी पू के देखें सब जग मोंहि अंधेरौ।
हीरासखीहित कृपा कीजिये जानि आपनो चेरौ।

—अनुभव रस पृष्ठ ९९

प्रकट लीला विरोध के कारण प्रिया जी के वियोग से उत्पन्न विरह दैन्य का प्रकाशन माधव सखी के समक्ष करते हैं उससे रसिक जनों के हृदय में श्री राधा आह्लादिनी का आह्लाद निरंतर विकसित होता रहता है।

प्रिया जी की सखी ने प्यारे की विरहजन्य अवस्था को देखा। तथा आई, वह राधा प्यारी के पास गई और प्रियतम की दशा का वर्णन करते हुये कहने लगी—

मान छाँड़ि किन चलो मानिनी देखि चली मोहन कुम्हिलाने।
ऐसी चूक परी कहा उनपे कै कछु मानन में इठलाने।
खान न पान प्रान सुधि नाहीं सटपटी तन सौंधि भुलाने।
हीरासखीहित कहत तजो हठ वेगि मिलो अति ही अकुलाने ॥२॥

—अनुभव रस पृष्ठ ९९

स्वामिनी के वियोग में अपने इष्टदेव को व्याकुल देखकर रसिक जनों का धैर्य भी छूट जाता है और नेत्रों से अश्रुप्रवाह होने लगता है।

वियोग-वर्णन में राधा आदि गोपियाँ —

जिस प्रकार रसिक जन बिना प्यारे कृष्ण के प्रतिक्षण व्याकुल होकर उनके नाम की रट लगाया करते हैं, उसी प्रकार वृषभानु पुत्री राधिका भी अपने प्रियतम के वियोग में दग्ध होती हैं। राधा के बिना कृष्ण का और कृष्ण के बिना राधा का वियोग में धैर्य खो बैठना स्वाभाविक ही है। प्रकट लीला विरोध के द्वारा अपने मधुर रसोपासकों के हृदय में अनन्य भावना

उपरान्त करके उन्हें आपना सने की दृष्टि से राधा-माधव युगल में वियोग की सरस सरिता को प्रवाहित किया है।

राधा की आकुलता:—

नित्य संयोगिनी प्रिया जी जब अपने प्रियतम के वियोग में उसी लीला विशेष के कारण व्याकुल हो जाती हैं तो रसिकों से फिर मौन नहीं रहा जाता और वे गा उठते हैं —

विरह की पीर सही नहिं जाय।
कहा करौं कछु बस नहिं मेरो कीजै कौन उपाय।
हरीचंद मेरी बाँह पकरि के लीजै आय उठाय ॥२॥

—भारतेन्दु ग्रन्थावली प्रेम तरंग पृ० १३९

रसरूप प्यारे मदनमोहन के वियोग की पीर का सहन करना कठिन है। जिसने एक बार भी इस माधुर्यमयी छवि को देख लिया वह उसे अपनी आँखों में अविलम्ब बसा लेना चाहता है। नेत्रों में अपने प्रिय का बसा लेने के बाद फिर वे अब किसी दूसरे को नहीं देखते।

प्रियतम की नशीली चितवन रसमय वचन और यमुना तट का मधुर मिलन जब याद आता है तो राधा प्यारी आकुल होकर कहने लगती हैं—

सो तेरे मुख पर वारी रे।
इन अँखियन को प्रान-प्रिया छबि तेरी लागत प्यारी रे।
तुम बिनु कल न परत पिय प्यारे बिरह वेदना भारी रे।
'हरीचंद' पिय गरे लगाओ पैयाँ परौं गिरधारी रे ॥२६॥

—भारतेन्दु ग्रन्थावली द्वि० भाग पृष्ठ २०९

प्रियतम के आलिंगन की स्मृति से राधा के हृदय में उथल-पुथल मच जाती है। वेदना के कारण रात्रि में निद्रा भी नहीं आती और तारों की गणना करते-करते समस्त रात्रि व्यतीत हो जाती है। प्रभात होता है राधा का धीर छूट जाता है और तब वे भूमि पर गिर ही पड़ती हैं यथा—

पिया बिन कटत न दुख की रात।
तारे गिनत सेन करवट बहु होत न कठिन प्रभात।
नैनन नींद न आवत क्यौं हू जियरा अति अकुलात।
'हरीचंद पिय बिनु अति व्याकुल मुरि-मुरि पछरा खात ॥२७॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग पृष्ठ ४००

वियोगिनी राधा की लालसा —

वियोगिनी प्रिया जी का समस्त अंग प्यारे कृष्ण की स्मृति में शिथिल हो जाता है। बुद्धि कुछ सोच नहीं पाती हँसी कभी आ नहीं पाती सुख का सारा समाज नीरस प्रतीत होता है। प्रिया जी की प्रबल अभिलाषा है कि श्याम सुन्दर घर आवें, उन्हें अपनी रूप-सुधा का पान करावें और पुनः रसिकों के चित्त को चुरावें—

आइये मो घर प्रान प्रिया मुख चन्द्र दया करिकै दरसाइये।
प्याइये पानिप रूप सुधा को बिलोकि इतै दृग प्यास बुझाइये।
छाइये सीतलता हरीचंद जू हा हा लगी हियरे की बुझाइये।
लाइये मोंहि गरे हँसि कै उर गीयमें प्यारे हिमन्त बनाइये ॥७॥

—भारतेन्दु ग्रन्थावली द्वि० भा पृ ८१

प्यारे के संयोग को प्राप्त करने की लालसा कभी नहीं मिटती और संयोग-सुख के रसास्वाद से भी कभी हृदय तृप्त नहीं होता। नैन निरंतर चकोर की भाँति मदनमोहन के मुख चंद्र को निहारने के लिये तरसते रहते हैं और प्राण प्राणनाथ के बिना रह नहीं सकते। अस्तु, राधा कहती हैं —

रे निरमोही छबि दरसाइजा।
काम घातकी श्याम विरह घन मुरली मधुर सुनाइजा।
'ललित किशोरी' नैन चकोरनि दुति मुख चंद दिखाइजा।
भयो चहत यह प्राण बटोही रूसे पथिक मनाइजा ॥१०८॥

—अभिलाष-माधुरी पृष्ठ १२६

प्रिया जी की इस विरहानुभूति से साधक के हृदय में एक प्रकार का कंप उत्पन्न हो जाता है और उसकी वृत्तियाँ भी प्रियतम कृष्ण की स्मृति में लीन हो जाती हैं।

वियोगिनी राधा की चिन्ता —

मिलन की मधुर चिन्ता में सर्वदा कृष्ण को स्मरण करती हुई वियोगिनी राधिका के नेत्रों के समक्ष क्षण-क्षण में प्रभु की मधुर मुस्कान और तिरछी चितवन की छवि छा जाती है। वे तभी अपनी प्रिय सखी से कहती हैं —

मैंने देखी री आज मोहन की हँसन।
अधरन पै अद्भुत अरुणाई, मुतियन की लर पाँति दसन।

या शोभा के दृग रहे प्यासे पीबे लगे भरि भरि के पसन ।
नारायण तब सों मोहिं सजनी सुधि न रही निज बदन बसन ।
—व्रजविहार पृ० ११९

अपनी सुधि का विस्मरण और नंदनंदन की सुधि का स्मरण करते ही राधा के हृदय में वियोग-वेदना की हूक उठने लगती है, और उनकी स्थिति विशाल सागर के बीच डूबने वाले पोत की तरह हो जाती है, किन्तु प्राण प्राणनाथ के पास पहुँचने के लिए आकुल हैं। वे प्रेम-पाश में फँसे रहने के कारण निकल भी नहीं पाते। राधा को अपने विस्मृत अपराध की चिन्ता सता रही है। दग्ध की लालसा में दिन रात पपीहे की तरह पी-पी की रट लगाने वाली प्रिया जी को यह पता नहीं कि यह वियोगजन्य वेदना किस अपराध का दण्ड है। वे चिन्तित हैं और जानना चाहती हैं कि इस दोष का भागी कौन है? उन्होंने तो निरंतर अनन्य भाव से श्यामसुन्दर को ही अपनाया है और संसार के समस्त बंधनों को भी तोड़ डाला है फिर भी यह वियोग राधा सोचती हैं और चिंता से व्याकुल हो जाती हैं। समस्या का समाधान नहीं दृष्टिगोचर होता। उनके कुंजबिहारी तो ऐसे नहीं थे। उन्होंने तो सदा अपने प्रेम की रक्षा की है। कुछ भी हो, राधा तो नित्य ही उनकी हैं वे जो चाहें करें। राधा के शब्दों में रसिक मानो अपने आराध्य से पूछ रहा है—

पिया रे सजी कौन से दोस ।
इतनी हमहूँ तो सुनि पावें फेर करें संतोष ।
तुमरे हित सब तज्यो आस इक तुम्हरी ही पियराधारी ।
एक तुम्हारे ही कहलाये जग में गिरधर धारी ।
जो कोऊ तुमरो होई सोई या जग में वहु दुख पावै ।
यह अपराध होइ तो भाखौ जासों धीरज आवै ।
कियो और तो दोस कछु नहिं अपनी जानि पियारे ।
तुमरे ही ह्वै रहे जगत में एक प्रेम-प्रन धारे ।
जो अपुने ही को दुख देनौं यहै आपकी बानी ।
तो यहाँ नहिं ताको अपने मुख प्यारे प्रगट बखानो ।
जासों चतुर होइ जग मैं कोउ तुम सों प्रेम न सानै ।
'हरीचंद' हम तो अब तुमरे करौ जाई मन भावै ।।४८।।
—भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग पृ० ३८९

यदि प्रियतम कृष्णका कहलाना ही अपराध है तो राधिकाको चिंता नहीं।

राधा की अनन्यता—

राधा तो कृष्ण की मनसासेवी ही चाहे कोई कुछ भी कहा करे। कृष्ण की प्यारी छवि के अतिरिक्त अब उनके नैनों में कोई अन्य मूर्ति नहीं समा सकती। उनके मुखारविन्द की शोभा, मधुर मुरली की ध्वनि, रास का नृत्य और यमुना-तट का विहार राधा के हृदय में स्मृति द्वारा कंपन उत्पन्न कर देता है और वे अपनी सखी से कहने लगती हैं—

सखि सुन्दर स्याम सलोना ।
कोयन चितै विहँसि मुसकान्यो चितवन में कछु करि गयो टोना ।
जब तें देखी ललित माधुरी अनरस लगत अलोना ।
मन तो अब चितचोर सों अटक्यो होनी होय सो होना ॥१४॥

—अभिलाष-माधुरी पृ० २२४

श्यामसुन्दर के प्रति अनन्य भावना से सराबोर राधा जब उनके वियोग को नहीं सहन कर पाती तो उनके गुणों का स्मरण करने लगती है। इस स्थिति में प्रेम की कठिनता का अनुभव नहीं होता है किन्तु कृष्ण प्रेम की अनन्यता ने उनके हृदय में प्रिय संयोग के हेतु एक तड़पन पैदा कर दी है। श्याम की मनोहर मूर्ति को वे भुला नहीं सकती, यथा—

अरी मैं समझ्यो नेह नवीन भई मेरी सुधि-बुधि सगरी छीन ।
यह दुख जस तस विदित तुमहिं सब दूषन पलक तजि दीन ।
वहीं सुभाय मनोहर मूरति मनमोहन रसभीन ।
तजि लिहाज हठ करत मिलन हित होय चहति लवलीन ।
बैरिनि भई अरी इन अँखियाँ जिन यह गति मम कीन ।
गोवर्धन प्रभु बिलग भयी गति बिलग नीर जिमि मीन ॥२॥

—वि० मा० पृ० ७२०

वियोगिनी राधा का उन्माद—

नित्य संयोगिनी राधा की प्रकट लीला विशेष के कारण उत्पन्न वियोग दशा को देखकर ललितादिक का हृदय उत्साह से भर जाता है, किन्तु राधा प्रेम के रंग में ऐसी सराबोर है कि उन्होंने स्वयं को घनश्याम समझ कर राधा नाम का परित्याग ही कर दिया है। कृष्ण के अन्य भावों की भाँति ही राधा की समस्त चेष्टायें एक अपूर्व आवेग के साथ प्रकट होती हैं, यथा—

राधे भई आपु घनश्याम ।
आपुन को गोविन्द कहत हैं छाँड़ि राधिका नाम ।
वैसेइ मुकि मुकि के कुञ्जन में कबहुँक बेनु बजावैं ।
कबहुँ आपनो नाम लेइ कै राधा राधा गावैं ।
कबहुँ मौन गहि रहत ध्यान करि मूँदि रहत दोउ नैन ।
'हरीचंद' मोहन बिनु ब्याकुल नेकु नहीं चित चैन ॥२॥

— भारतेन्दु ग्रंथावली द्वि० भा० पृ० ६२६

चित्त की इस बेचैनी में श्याम रँगीली राधा को सब कुछ श्याममय प्रतीत होने लगता है। इसका अनुभव करते हुए भक्त कहता है—

श्याम विरह में सूझत सब जग, हमको श्यामहि श्याम हो इकरंगी ।
जमुना श्याम गोवरधन श्यामहि श्याम कुञ्ज बन धाम हो इकरंगी ।
श्याम घटा पिक मोर श्याम सब श्यामहि को है काम हो इकरंगी ।
"हरीचंद" याही तें भयो है श्यामा मेरो नाम हो इकरंगी ॥८५॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली पृ० ५१७

समाधि की यह अवस्था जब क्षण भर में समाप्त हो जाती है, तो प्रिया भी प्यारे के वियोग में पृथ्वी पर गिर पड़ती है। श्वासों की गति अवरुद्ध हो जाती है और वे उपायहीन हो जाती हैं। अपने काव्य में रसिक प्रेम के इस आदर्श का चित्रण कर प्रेम साधना के मार्ग में मतवाले होकर निकल पड़ते हैं। राधा-कृष्ण की यह प्रच्छन्न-वियोग लीला भक्तों के रसास्वाद के लिये ही होती है वैसे तो राधा-कृष्ण नित्य संयोगी हैं।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी में कृष्ण भक्त कवियों की माधुर्यात्मक प्रवृत्ति

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की माधुर्यात्मक प्रपत्ति

प्रपत्ति का स्वरूप

प्रियतम कृष्ण स्वयं आनंदसुधासागर और आनंदस्वरूप हैं। ऐसे आनंदधाम की ओर उन्मुख होना ही भक्ति है और उनकी इच्छा पर अपने आपको छोड़ देना ही प्रपत्ति है। वस्तुतः प्रपत्ति का अर्थ प्र प्रकर्षेण पत्ति पतनं भगवान की ओर चलना है तथा आत्मनः अपने आपको भगवान् में निक्षेप नितरां क्षेपः एकदम डाल देना आत्मनिक्षेप है। पांचरात्र विष्वक्सेन संहिता में कहा गया है कि भगवत् सेवा रूप प्राप्य वस्तु की प्रबल आकांक्षा वाले विभिन्न उपायहीन अधिकारी के निवेदन में पर्यवसित होने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति का रूप है। भगवान को पाने की उत्कट अभिलाषा रखने वाले अधिकारी व्यक्ति के हेतु प्राप्ति रूप परिणाम में उन्हीं को सिद्धोपायरूप में समझ करके आर्त होकर नित्य सेवा में स्वीकृत करने के हेतु निरंतर उनसे प्रार्थना करते रहने का नाम ही प्रपत्ति है।[1] यथार्थ रूप में यह वह राजपथ है जहां अंधा भी दौड़ता हुआ बेखटके जा सकता है।

प्रपन्न को अपने इष्टदेव से मिलने की निरंतर आकुलता बनी रहती है। मर्यादिकी प्रपन्न भक्त तो यह जानता है कि प्रभु मेरे हैं, किन्तु अनुग्रह प्रपन्न की दृष्टि में 'मैं भगवान का हूं' यह भाव सर्वदा बना रहता है इतना ही नहीं यह प्रपन्न यह भी समझता है कि मेरी रक्षा का उत्तरदायित्व इष्टदेव

---

१ बुद्धिरध्यवसायात्मा प्राप्यार्थध्यवसायिनी।
प्राप्येप्सोरनुपायस्य प्रपत्तेः निष्पाते।
अनन्य प्राप्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायां च प्रपत्ति शरणागतिः॥

—पांचरात्र-विष्वक्सेन संहिता शरणांक पृ० ६१

पर ही है। मार्जारकिशोर प्रपन्न भक्त यथार्थ में बन्दरी का वह बालक है, जो स्वयं अपनी माता को दृढ़ता के साथ पकड़े रहता है यद्यपि बानरी माँ को उसकी चिंता नहीं रहती और वह अपने खेलकूद में पूर्ववत् ही प्रसन्न रहती है तथा बालक स्वयं ही अपने गिरने पड़ने की सम्हाल रखता है। किन्तु अनुग्रह प्रपन्न को भगवान ठीक उसी प्रकार पकड़ते हैं, जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को पकड़कर उसका योगक्षेम वहन करती है। यहाँ शिशु को किंचित् मात्र भी चिंता की आवश्यकता नहीं होती। शिशु भले ही गलती कर जाय, किन्तु माँ भूल नहीं कर सकती। भगवान की तो यह प्रतिज्ञा है कि जो एक बार भी शरणागत होकर हृदय से यह कहता है कि हे नाथ! मैं आपका हूँ— मुझसे रक्षा के लिए प्रार्थना करता है, मैं उसे अभय कर देता हूँ।[1] प्रपन्न की अवस्था तो पत्नी की सी होती है, नौकर या सेवक के समान नहीं। स्वामी के अप्रसन्न होने पर सेवक तो कहीं भी जा सकता है किन्तु पत्नी को पति के सिवाय दूसरा आश्रय कहाँ है? इसी प्रकार प्रपन्न भी अपने सर्वस्व-इष्टदेव को त्याग कर दूसरी जगह कैसे जा सकता है? जिस प्रपत्ति का यह ऐश्वर्य हो उसी के सम्बन्ध में भगवान शंकर पद्मपुराण के उत्तरखंड में अपनी प्रियतमा पार्वती जी से कहते हैं कि सत्कर्मयोग ज्ञानयोगादि निष्ठा वाले साधक, सिद्धोपाय निष्ठ भगवत्चरण-शरण करने वाले की करोड़वीं कला की भी समता नहीं कर सकते।[2] इष्टदेव पर तथा अपनी प्रपत्ति साधना पर साधक का महाविश्वास होना वांछनीय है, क्योंकि विश्वास के अभाव में प्रपत्ति साधक को तत्क्षण त्याग देती है।

प्रपत्ति का एक कण भी यदि साधक को प्राप्त हो जाय, तो जन्म-मृत्यु के भीषण भय से छुटकारा हो जाता है और समग्र प्रपत्ति यदि प्राप्त हो गई, तो फिर प्राप्त करने के लिये शेष कुछ नहीं रहता। इस स्थिति में पहुँचकर प्रपन्न की दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट फल युगल सरकार की सेवा ही है। समस्त

---

१ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
—श्वेताश्व० ६ १८

२ सत्कर्म निरता शुद्धा सांख्ययोगविदस्तथा।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमामपि।
—पद्मपुराण, उत्तर खण्ड

सांसारिक तथा अलौकिक सभी सत्य प्रपत्ति से उपलब्ध हो जाते हैं। जब प्रपन्न चातक पक्षी की भाँति दृढ़ निष्ठावाला हो जाता है, तभी प्रपद्य (शरण्य) में भी कपोत की भाँति सर्वस्व छोड़कर शरण में आये हुए की रक्षा करने की दृढ़ता होती है। उपायान्तरों में निर्लिप्त रहने वाला अर्थात् आसक्ति रहित और प्राप्य वस्तु में धृतिमान् पुरुष ही इस प्रपत्ति का सच्चा हकदार है। वर्णाश्रम का यहाँ कोई नियम लागू नहीं होता। समस्त वर्ण आश्रम के लोग तथा स्त्री, शूद्र अन्त्यजादि प्रपन्नता को धारण कर सकते हैं—यही श्री की यही आज्ञा है[1]— भगवान के चरण-कमल में अखंड प्रेम रखने वाले सभी जन (चाहे वे समर्थ हों चाहे असमर्थ), भगवच्छरणागति के नित्य अधिकारी हैं। केवल दीनता की आवश्यकता है। जिस दैन्य को प्रियतम इष्टदेव चाहते हों वही दैन्य प्राप्त करने का सर्वप्रथम प्रयास होना चाहिये, तभी यथार्थ प्रपन्नता प्राप्त होगी।

शरणागति शब्द को प्रपत्ति का पर्यायवाची ही समझना चाहिये क्योंकि निक्षेप, न्यास, सन्यास त्याग एवं शरणागति शब्द प्रपन्नों की दृष्टि में एक ही हैं। अनुग्रह प्रपन्न को तो श्रीपति अपनी ओर ऐसे खींच लेते हैं जैसे चुम्बक जड़ लोहे को बरबस अपनी ओर खींच लेता है।[2] प्रपन्न जब निवेदन करता है, तो यही कि मुझ शरणागत को अपनी ओर खींचिये—श्री मद् भागवत् पुराण के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद जी ने अपने प्रभु से यही कहा था।[3] जिस शरणागति का संकेत ऊपर दिया गया है वह भी अपने में परिपूर्ण

---

१ अनन्योपायत्वमस्य प्राप्येष्वप्यधिकारिता।
प्रवृत्ती सर्व वर्णस्य नारीशूद्रादियोगतः।
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकाम फलप्रदा
इति सर्वत्र शास्त्री सर्वेषां विहिता यतः।
—लक्ष्मीतन्त्र संहिता सारभाग पृ० ९९

२ आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः।
लोहमपि चुम्बकाश्मा संमुखमात्रं जड़ं यद्वत्।
—श्री शंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् २५१

३ स त्वं हि नित्य विजितात्मगुणः स्वधाम्ना कालो वशीकृतविसृज्य विसर्गशक्तिः।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम्।
—श्रीमद्भागवत ७.९.२२

तथा रहस्यात्मक है। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने 'शरण' शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की है। उनका कथन है कि भगवान की शरणागति अधिकारी भेद तथा साधन-अभ्यास के तारतम्य से तीन प्रकार की है, यथा—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः।

उपर्युक्त श्लोक में तीन शब्द विचारणीय हैं—

१—तस्यैवाहम्—मैं उस प्रभु का ही हूँ।—मृदु भगवत् शरणागति।

२—ममैवासौ—मेरा ही वह प्रभु है। मध्य शरणागति।

३—स एवाहम्—मैं ही वह प्रभु हूँ। सर्वोत्तम शरणागति।

जैसे सागर की लहरें विख्यात हैं लहरों का सागर नहीं कहा जाता, क्योंकि लहरें सागर के ही अधीन रहती हैं—सागर न हो तो लहरें नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार जीव प्रभु के हैं—ऐसा विख्यात है, जीवों के प्रभु नहीं कहा जाता। यथार्थ में जीव प्रभु के अधीन हैं, प्रभु जीव के अधीन नहीं है। अतः मैं उस प्रभु का ही हूँ— इस प्रकार के भाव का नाम मृदुभगवतशरणागति है।

जिस समय भक्त प्रवर बिल्वमंगल जी वृन्दावन को गमन कर रहे थे कि मार्ग में बालरूप धारण कर कृष्ण मिले तथा सहारा देकर कुएँ में गिरने से भी बचाया—ऐसा भी कहा जाता है, किन्तु जब वे बलपूर्वक हाथ छुड़ाकर चल दिये तब बिल्वमंगल ने तुरत कहा कि हे प्रियतम! यह तुम्हारा आश्चर्यजनक पराक्रम नहीं हो सकता कि आप बलपूर्वक बाँह छुड़ाकर चल दिये। आपकी पराक्रम तो तब था जब आप मेरे हृदय से निकल कर भाग जायँ अर्थात् हे प्रभु! आप तो मेरे ही हैं—इस प्रकार के भाव का नाम मध्य शरणागति है।[1]

मैं वासुदेव हूँ— जिसका ऐसा भाव हो गया हो उसे तुम दूर से ही त्याग देना, क्योंकि वहाँ तुम्हारा जाना अनुचित है—[2] विष्णुपुराण में

---

१ हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।

—भक्त बिल्वमंगल कृत

२ जगदिदमहं च वासुदेवः परमपुमान परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान विहाय दूरात्।

—विष्णुपुराण १ ७ १२

यमराज ने अपने दूतों से यही कहा था। सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार की दृढ़ धारणा सर्वोत्तम शरणागति है। अनुग्रह प्रपत्ति या शरणागति की जो चर्चा ऊपर की गयी, उसी के ये तीन अंग हैं। क्योंकि इसमें प्रपन्न या शरणागत अपने आपको प्रियतम इष्टदेव को सौंपकर सर्व प्रकार से सर्व उपाय से रहित हो जाता है और भगवान की कृपा कटाक्ष की चिन्तना करता है—इसे दृप्ता शरणागति भी कहते हैं। यहाँ पर आत्मसमर्पण का बड़ा महत्व होता है—बिना इसके साधना आगे नहीं बढ़ सकती। भगवान श्यामसुन्दर की प्रपत्ति साधना के लिये यहीं पर आत्मसमर्पण की प्रेरणा उनकी आह्लादिनी शक्ति स्वरूपा श्रीराधा से ग्रहण करना चाहिए। बिना इनके आश्रय के कृष्ण प्रपत्ति संभव नहीं होती।[1] इस स्थिति में प्रपन्न की चित्तवृत्ति अपने आराध्यदेव के चरण-कमल में वैसे ही आकर्षित हो जाती है, जैसे अंकोलवृक्ष के बीज मूल वृक्ष से सुई चुम्बक से, पतिव्रता अपने पति से, लता वृक्ष से और नदी सागर से मिल जाती है। जो प्रपन्न या शरणागत निर्भय होकर, विघ्न बाधाओं की चिंता न करते हुए भगवान के समीप चला जाता है, उसे वे केवल स्पर्श ही नहीं करते वरन् अपनी गोद में उठाकर अपने को धन्य मानते हैं। उस समय शरणागत भी उनके स्पर्श को प्राप्त कर उनकी कृपा-कटाक्ष के द्वारा अपने को निर्मलतम अनुभव करता है और तत्क्षण से ही उसका हृदय प्रभु का स्थायी निवास स्थल हो जाता है। इतना ही नहीं प्रीति से सराबोर होने के कारण उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद की यही स्थिति हो गई थी।[2] इस स्थिति में पहुँचते ही प्रपन्न विरक्त हो जाता है, क्योंकि जब स्वयं को ही उसने समर्पित कर दिया, तो उसके हृदय में आकांक्षा उठने का प्रश्न ही नहीं होता। महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं उद्धव जी से कहते हैं कि जिन भक्तों ने

---

१ श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये।

—छान्दोग्योपनिषद् ८-१३-१

२ स्वगात्रमूर्ते पतितं तमर्भकं विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात्कराम्बुजं कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम्
स तत्कर स्पर्शधुताखिलाशुभः सपद्यभिव्यक्त परात्मदर्शनः।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः।

—श्रीमद्भागवत सप्तम् स्कन्ध

मेरे प्रति अपना आत्मसमर्पण कर दिया है वे मुझे छोड़ ब्रह्मपद इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पाताल का साम्राज्य, योग सिद्धियाँ—यहाँ तक कि सायुज्य मोक्ष भी नहीं चाहते ।[1]

स्वर्ग से आवृत पर्वत जिसके महत्व का गान करते हैं अपार जलराशि से युक्त सागर जिसकी भक्ति की व्याख्या करता है और ये असीम दिशाएँ जिसकी विशालता की प्रतीक हैं उसी के प्रति प्रपन्न होना श्रेयस्कर है। अत्यंत प्रबल आकांक्षा भगवान के नित्यकैंकर्य को प्राप्त करने की प्रपन्न में होती है—श्री रामानुजाचार्य के शरणागति गद्य में इसका अपूर्व प्रत्यक्षीकरण हुआ है, वे कहते हैं—भगवान के युगलचरणारविन्दों के प्रति पारमार्थिक अनन्यभावापन्न ऐकान्तिक पराभक्ति, पराज्ञान एवं परमभक्ति से परिपूर्ण निरंतर विशदतम् अन्य प्रयोजन से रहित असीम निरतिशय, अत्यंत प्रिय भगवद्बोधजनित-अनन्त अतिशय प्रीति से उत्पादित सभी अवस्थाओं के अनुरूप, सम्पूर्ण दास्यभाव-विषयक एकमात्र अनुरागमय नित्य कैंकर्य की प्राप्ति की अपेक्षा से पारमार्थिक भगवच्चरणारविन्द शरणागति मुझे निरंतर यथार्थ रूप से प्राप्त हो । तुम्हें भी प्राप्त हो । उसी से सब कुछ सम्पन्न होगा ।[2] यह नित्यकैंकर्य मुझे प्राप्त हो गया—इस भावना का उदय तभी होगा जब साधक या प्रपन्न के हृदय में मन-समर्पण के लिये एक तड़प उत्पन्न हो जाय और साधक यह कह उठे—

---

१ न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीर पुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ।
—महाभारत

२ पारमार्थिक भगवच्चरणारविन्द युगलैकान्तिकात्यन्तिक परभक्ति परज्ञान परमभक्ति कृतपरिपूर्णानवरतनित्यविशदतमानन्य प्रयोजनानवधिकातिशयप्रिय भगवदनुभवजनितानवधि कातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूप नित्यकैंकर्य प्राप्त्यपेक्षया पारमार्थिकी भगवच्चरणारविन्द शरणागतिर्यथा वस्थिताविरतास्तु मे । अस्तु ते । तयैव सर्वं सम्पत्स्यते ।
—शरणागतिगद्यम (श्रीरामानुजाचार्य कृत)
पृ० ५४२ सन्तवाणी अंक—गीताप्रेस गोरखपुर

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा।
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा गृहीतमनसेऽमनसे च तुभ्यं।
दत्तं मया मम मनस्तदिदं गृहाण।

इतना ही नहीं जिस प्रकार पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपनी माँ की प्रतीक्षा करते रहते हैं जिस प्रकार क्षुधा से पीड़ित बछड़े अपनी माता के दुग्ध पान के हेतु आकुल रहते हैं एवं जिस प्रकार पति से बिछुड़ी हुई पत्नी अपने प्रवासी पति से मिलने के लिये आतुर रहती है उसी प्रकार कमल नयन के सान्निध्य के लिये मेरा हृदय छटपटाये तभी नित्य प्रपन्नता की सार्थकता है।

प्रपत्ति के प्रकार—

परमात्मा की शक्ति का नाम है माया। यह माया अपने बल से सभी को पराजित करती रहती है और स्वयं भगवच्छरणापत्ति से ही पराजित होती है। अस्तु, साधक को भगवान का आश्रय ग्रहण कर अपने उद्धार का सारा भार उन्हें सौंपते हुये, समस्त धर्मों का त्याग करना चाहिए तथा अपने प्रियतम इष्टदेव के द्वादश गुणों का निरंतर चिन्तन करते रहना चाहिये—

(१) वात्सल्य	(२) सौशील्य	(३) सौलभ्य
(४) स्वामित्व	(५) कारुण्य	(६) मार्दव
(७) सौहार्द	(८) शरण्यत्व	(९) कृतज्ञत्व
(१०) सत्य प्रतिज्ञत्व	(११) पूर्णत्व	(१२) औदार्य

अपने आराध्य देव के वात्सल्य का चिन्तन करने से अनुग्रह प्रपन्न को अपने अपराधों के उचित दंड की शंका प्राप्त हो जाती है। उनके सौशील्य का स्मरण करने से आश्रित को जातिहीनता का आभास तक नहीं होता अर्थात् नीच जाति हो मैंने कारण भगवान की शरण योग्य नहीं हूँ–इस चिंता का निवारण हो जाता है। सौलभ्य का स्मरण करने से षडैश्वर्यपूर्ण भगवान को जिन्हें देवता भी पाने में असमर्थ हैं, पाना सुगम हो जाता है। स्वामित्व के चिन्तन से प्रपन्न को अपनी अरक्षा का भय नहीं रहता अर्थात् भगवान मेरी रक्षा करेंगे ऐसी दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। अपने इष्टदेव के कारुण्य की याद करते ही प्रपन्न 'भगवान मेरी उपेक्षा करेंगे' को यह भय नहीं रहता। हृदय की कोमलता के कारण अपने आश्रितों के दुःखों को देख सकने में असमर्थ होने के स्वभाव को मार्दव कहा जाता है—इस भय का निवारण इस

गुण का स्मरण करने से हो जाता है। अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर दूसरों की रक्षा में लगना ही सौहार्द है। भगवान के इस गुण की याद करने से शरणागत की यह चिन्ता छूट जाती है कि भगवान अपने कार्यों को त्याग कर मेरी रक्षा कैसे करेंगे? ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त के असाधारण उपाय होने का गुण 'शरण्यत्व' नाम से विख्यात है। समस्त साधनों से रहित होने के कारण प्रपत्ति में मेरा क्या अधिकार है—इस विचार से साधक की निवृत्ति इस गुण को स्मरण करते ही हो जाती है। किसी प्रपन्न की थोड़ी सेवा को बहुत करके स्वीकार कर लेना ही कृतज्ञत्व है। जो प्रभु अनन्त कोटि ब्रह्मांड के अधिपति हैं, वे मेरे पत्र-पुष्प कैसे ग्रहण करेंगे—इस भाव का अपहरण इस गुण की चिन्तना से तुरंत हो जाता है। अपने वचन का पालन करना ही सत्य प्रतिज्ञत्व है। इस गुण का ध्यान करते से यह निश्चय हो जाता है कि प्रभु मुझे अभय कर ही देंगे। सर्वप्रकार से संपन्न होने के कारण प्रत्युपकार की अभिलाषा न रखना ही पूर्णत्व है। प्रभु की दया आदि के प्रत्युपकार के लिये मेरी सामर्थ्य कहाँ है? इस क्षोभ का निवारण इस गुण से ही जाता है। स्वयं को भी समर्पित कर देने को औदार्य कहते हैं। मेरे इष्टदेव मेरे हार्दिक भाव को प्राप्त करायेंगे—इसका दृढ़ निश्चय उनके इस गुण को याद करते ही हो जाता है।[1] जिन्होंने शरणागति या प्रपत्तिमार्ग का सहारा लिया है ऐसे साधकों को उपर्युक्त भगवद् गुणों की याद सर्वदा सर्वत्र करना चाहिए। अनुग्रह प्रपन्नों या शरणागतों की यह प्रपत्ति या शरणागति जिसके स्वरूप एवं महत्व का वर्णन किया गया उसके छ. प्रकार अहिर्बुध्न्य संहिता में बतलाये गये हैं[2] यथा—

---

१ प्रपन्न सुरतरु मंजरी ग्रन्थी १०८ आचार्यवर सुन्दरवरदाचार्य कृत संस्कृत भाष्य पृ० १०

२ षोढा हि वेद विदुषो वदन्त्येनं महामुने।
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

—अहिर्बुध्न्य संहिता ३७-२८-२९

(भक्ति का विकास पृ० २७२ पर उद्धृत)

१—आनुकूल्यस्य संकल्पः	(भगवान के अनुकूल कार्यों को करने का संकल्प)
२—प्रातिकूल्यस्यवर्जनम्	(भगवान के प्रतिकूल कार्यों का त्याग)
३—रक्षिष्यतीतिविश्वास	(भगवान की रक्षा में विश्वास)
४—गोप्तृत्व वरणं	(भगवान की निरंतर प्रार्थना)
५—आत्मनिक्षेप	(भगवान की कृपा पर अपने को छोड़ देना)
६—कार्पण्य	(अपने शक्त्यभिमान—गर्व का नाश तथा सच्ची दीनता का उदय)

आनुकूल्यस्य संकल्पः—

गीता में उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन को बतलाया है कि मैं सबका आत्मा हूँ। अर्थात् समस्त चेतन और अचेतन विश्व में वे समाये हुये हैं। अस्तु, जिस प्रकार एक ही परिवार के लोग एक दूसरे के अनुकूल कार्य करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रपन्न को भी सभी की प्रशस्ति करते हुये अनुकूल कार्य भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिए। सनत्कुमार जी का भी यही वचन है।[1]

प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् —

प्रपन्न जब अनुकूलता का संकल्प कर लेता है, तो प्रतिकूलता का त्याग हो ही जाता है। जो बातें प्रपत्ति साधना में बाधक हों उन्हें अविलम्ब त्याग देना ही प्रतिकूलता है। जैसे—

१—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि स्वकीय भाव का त्याग।

२—चेतनस्वरूप जीव की स्वतंत्रता के भाव का त्याग।

३—सद्गुरु एवं इष्टदेव को त्याग कर दूसरे की अधीनता की भावना का त्याग।

४—सभी आत्मीय भगवान के वश में हैं—इसमें सन्देह का त्याग।

५—श्रुति, स्मृति आदि प्रभु की आज्ञा न मानना—इसका त्याग।

---

१ सर्वभूतात्मभावेन सर्वेषामानुकूल्यं विनिश्चयेत्।
एतद्व्रतं प्रपन्नस्य प्रोक्तं कुर्यात्सनातन।

प्रपन्नसुरतरु मंजरी पृ० ६७

६—प्रभु को छोड़ कर अन्य की उपासना—इसका त्याग।

७—असद् शास्त्रों की इच्छा करना—इसका त्याग।

उपर्युक्त प्रतिकूल भावनाओं को प्रथम प्रकार की प्रतिकूलता में समझना चाहिए और प्रपत्ति की अभिलाषा करने वालों को तुरन्त इन्हें छोड़ देना चाहिए। दूसरे प्रकार की प्रतिकूलता वह है जिसमें भगवान के स्वरूप पर ही आवरण पड़ जाय। जो भाव भगवान की प्राप्ति में बाधक हैं, उन्हें भी फौरन छोड़ देना ही कल्याणकारक है जैसे—

१—भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति की गई प्रपत्ति की बराबरी अन्य देवताओं से करना—इसका त्याग।

२—श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवों में ब्रह्मत्व की भावना का त्याग।

३—भगवान के अवतार में मनुष्य की भावना का त्याग।

४—भगवान की प्रतिमा आदि में अनीश्वरता की भावना का त्याग।

५—भगवान की कथा वार्ता में होने वाली लौकिक बुद्धि का त्याग।

६—भगवान में गुण शक्ति की हीनता के भाव का त्याग।

७—भगवान के गुणों को मायिक मानने की भावना का त्याग।

८—शरणागति रूप साधन को लघु प्रयत्न जानना—इसका त्याग।

९—प्रपत्तव्य भगवान में अविश्वास—इसका त्याग।

१०—प्रभु की सेवादि में अपने को कर्ता समझना—इसका त्याग।

११—भगवान की शरणागति से विमुख पुरुषों के संग का त्याग।

१२—भगवान के भक्तों में जाति भेद भावना का त्याग।

प्रपन्न के लिए सप्त तथा द्वादश भावनाओं का तत्काल त्याग ही श्रेयस्कर है।

रक्षिष्यतीतिविश्वास

श्री जी ने सनत्कुमार संहिता में स्पष्ट से कहा कि शरण्य प्रभु में समस्त शक्ति तथा सर्वदा कृपा गुण की पूर्ति होने से और उनके साथ जीव का सेव्य सेवक भाव होने से (जो अनादिकाल से जुड़ा हुआ सम्बन्ध है) उनकी आज्ञानुसार गतिमान होने वाले हम आश्रितों की वे अवश्य रक्षा करेंगे—ऐसा अटल विश्वास ही समस्त दुष्कृत का विनाश करने वाला है। सयुक्तिक अनेक प्रमाणों से यह दृढ़ निश्चय करते हुये कि सर्वेश्वर ही सर्वप्रकार से

निरंतर रक्षक हैं, मनोवांछित फल की प्राप्ति के हेतु उन्हीं को साधन-उपाय मानना ही शरणागति का प्रमुख अंग है।[1] तात्पर्य यह है कि भगवान रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास प्रपन्न को करना ही चाहिये।

गोप्तृत्ववरण—

दया के सागर अर्थात् परम दयालु, सर्व प्रकार से शक्ति-सम्पन्न तथा समस्त देहधारियों के एक मात्र स्वामी होते भी प्रभु बिना निवेदन के रक्षा नहीं करते हैं अस्तु निरंतर बुद्धि तथा मन को प्रार्थना में लगाना चाहिये। गोप्तृत्ववरण का यही रहस्य है।[2]

आत्मनिक्षेप—

अशरण शरण इष्टदेव की अनुकम्पा के अवलम्ब से ही प्रपत्ति साधना सिद्ध होगी—इस भाव को रखते हुये उनको आत्मसमर्पण कर देना ही आत्मनिक्षेप है। लक्ष्मी संहिता में इसे भी स्पष्ट किया गया है।[3]

---

१ शक्ते सूपचरत्वाच्च कृपायोगाच्च शाश्वतात्।
ईशेशितव्य सम्बन्धाद निदं प्रथमादपि।
रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः।
स विश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतनाशन।
स्वयता गोप्तता ज्ञात्वा प्रपत्तव्यस्य पुनितत:।
रक्षिष्यतीति विश्वासादभीष्टोपायकल्पनम्।
—लक्ष्मीतंत्रसंहिता-भागवत सम्प्रदाय पृ०६५

२ कल्याणानपि व्यक्त तवतं स्वाम्यपि देहिनाम्।
अप्रार्थितो न गोपायेदिति तत्प्रार्थनामतिः।
गोपायिता भवेत्येवं गोप्तृत्व वरणं स्मृतम्।
प्राक्सापयवतामिव प्रपत्तरत इष्यते॥
—वही (भाग०सम्प्रदाय) पृ० ६५

३ प्रपत्तेस्तु प्रपत्तव्य प्रसादाद्दररता तथा।
तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता।
केशवार्पण पर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते।
उपाये च फले चैव स्वयत्न निवर्तनम्।
स्वाम्यायत्तमिति ध्यात्वा निक्षेपस्यार्पिता तथा।
—लक्ष्मीतंत्रसंहिता (भाग०पृ ६५)

कार्पण्य —

अपने कार्यों की असिद्धि में कर्तापन के अभिमान का भाव होते हुये दैन्य का उत्पन्न हो जाना ही कार्पण्य है। प्रयत्न से भी सफलता प्राप्त नहीं होती अपितु बाधायें उपस्थित हो जाती हैं और परिणाम भी विपरीत होता है—इन सब बातों की निवृत्ति तथा आराध्यदेव की कार्यशक्ति पर विश्वास करते हुये साधक को दीनता धारण करना ही यहाँ श्रेयस्कर होता है।[1]

उपर्युक्त अभिव्यंजित प्रपत्ति के सभी प्रकार आर्तप्रपन्न के समय एक साथ घटित हो जाते हैं और दृप्त प्रपत्ति में, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, उत्तरोत्तर ही आते हैं।[2] किन्तु सर्वस्व समर्पण करने की प्रधानता दोनों में ही निरंतर विद्यमान है, अन्यथा प्रपत्ति प्रपत्ति नहीं रह जाती है और इसके अभाव में प्रियतम का अनुग्रह प्राप्त करना भी असंभव हो जाता है।

माधुर्यात्मक प्रपत्ति—

देहादि सर्वस्व समर्पण या आत्मसमर्पण की भावना का, जिसे आत्म-निवेदन भी कहते हैं उदय पत्नीभाव में ही होता है सेवक भाव में नहीं—इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। माधुर्य के एक मात्र भण्डार हैं श्रीकृष्ण यह स्मरण रखते हुए शरणागति ग्रहण करना चाहिये। सुन्दर गोपबालकों से आवृत समस्त कलाओं के आधार, रास मण्डल में लीला करने वाले, कामदेव से भी अधिक सुन्दर तथा समस्त देवताओं के पूज्य श्रीकृष्ण की ही चरण शरणों के लिए है, क्योंकि वे गोपियों के घनीभूत प्रेम हैं यदुवंशियों के मूर्तिमान सौभाग्य हैं और पृथिवी की अत्यंत गोप्य संपत्ति भी हैं। उन्हीं के चरण कमल से गिरती हुई मकरन्द की बूंदें ही यथार्थ में समस्त सुख तथा ऐश्वर्य का भण्डार हैं। अनुग्रह प्रपन्न इन्हें अपने हृदय में धारण करता है

---

१ शक्यानामप्युपायानां परित्यागोऽथ कर्मणाम् ।
अधिकारस्य वा सिद्धे दैन्यात्मानुभावतः ।
उपायानैव सिद्धयन्ति ह्यपायबहुलास्तथा ।
इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते ।

—वही पृ० ६६ लाप०

२ आर्त प्रपत्तावित्येवार्तेनार्ता सर्विर्पितया ।
दृप्त प्रपत्ता ते तानि भविष्यन्त्युत्तरोत्तरम् ।

—वही पृ० ६६ लाप०

माधुर्यमयी इस प्रपत्ति साधना में गृह, लज्जा, कुल, धर्म आदि सभी का त्याग करना पड़ता है और कहना पड़ता है कि श्रीकृष्ण स्वरूप ही केवल (शृंगार) माधुर्य का आश्रय है, सर्वरस का आश्रय है, सर्व भुवन का आश्रय है, सर्वजीवन का आश्रय है और मेरा भी परमाश्रय है। भक्त-प्रवर तथा अनन्य प्रपन्न बिल्वमंगल जी ने भी उसी का आश्रय लिया था और कहा था, "मैं तो ऐसे प्रभु का आश्रय लेता हूँ जिसके हस्तकमल में वेणु है, जिस वेणु से वे गोपियों को व्याकुल कर रहे हैं और स्वयं भी व्याकुल हो रहे हैं जिसके चरण कमलों ने श्वेतारुण पटल (गुलाब) की इस समय शोभा धारण कर रखी है, जिसके मधुर अधरों की उल्लसित कान्ति के द्वारा मुख कमल सरस हो रहा है।"[1] उनकी दृष्टि में यही आश्रय जीवन भी है और मरण भी। क्योंकि इस आश्रय से ही समस्त कामनाओं का नाश होकर भगवत्प्रीत्यर्थ कामनाओं का उदय होता है। भगवत्प्रीत्यर्थ कामनाओं के उदय हो जाने पर शरणागत कहता है कि हे गोपी-व्रत से आमन्त्रित रहने वाले। हे व्रजेश्वर! हे रास क्रीड़ा में सम्यक आसक्त तथा हे गोपियों के वस्त्रों को हरण करने वाले! प्रसन्न होइये। हे कदम्ब पर बैठने वाले! हे नर्मोक्ति के पंडित! आपकी वन्दना करता हूँ। हे गोपियों के स्तव से आत्मविस्मृत होने वाले! गोपिकाओं ने आप से वस्त्र मांगे थे। हे यमुना का स्रोत ही जिनका वस्त्र है ऐसी अर्थात् नग्ना, अर्धनग्ना, शोभायमाना, गोप कन्या के आकर्षण में आसक्त! हे गोपाएँ यमुना से उत्थित उनके भाव से आमन्त्रित! हे स्कन्ध में उनके वस्त्र के धारणकारी! हे स्मितभाषी! हे गोपियों को नमस्कार के लिए आदेश देने वाले! हे उनके हाथों द्वारा वन्दित! हे गोपिकाओं के अंजलि जोड़ने के लिए प्रार्थी! हे गोपियों से नमस्कृत! हे गोपियों के वस्त्र देने वाले। हे गोपियों की कामना और कामनातीत वस्तु के दानी! हे गोपियों के चित्त के महान चोर! हे उनके काम-विष का उद्धारकारी सर्पेन्द्र! तथा हे गोपियों के भाव से विभावित! आप मुझे अपना गोपी-दास्य दीजिये। इन

---

१ पल्लवारुणपाणिपङ्कज सङ्गिवेणुरवाकुलं।
फुल्लपाटल पाटली परिवादि पाद सरोरुहम्।
उल्लसन्मधुराधर द्युति मञ्जरीसरसाननं।
वल्लवीकुचकुम्भकुङ्कुम पङ्किलं प्रभुमाश्रये।

—श्रीकृष्ण कर्णामृत ९

के प्रति-माधुर्यमय प्रपन्न की यही वाणी होती है श्री सनातन गोस्वामिपाद कृत 'श्री कृष्ण लीलास्तव' दशम् स्कंध । श्री सनातन गोस्वामिपाद कृत 'श्रीकृष्ण लीलास्तव' दशमस्कंध ।

जिस विशुद्ध आत्मसमर्पण की भावना की प्रधानता माधुर्यप्रपत्ति में है 'उसका ज्वलंत प्रमाण है—भागवत में वर्णित चीरहरण का प्रसंग । इससे स्पष्ट है कि भगवान का सान्निध्य शुद्धात्मा ही प्राप्त कर सकता है त्रिगुणात्मक शरीर नहीं, तभी तो कृष्ण ने नग्न स्थिति में आकर ही गोपियों से वस्त्र ले जाने को कहा था । अनात्म उपाधियों में आसक्त रहने से प्रियतम से मिलन नहीं हो सकता, क्योंकि यह एक प्रकार का आवरण है । नंगे होने की लज्जा उसी को होती है जो अपने को शरीर मानता है, आत्मा नहीं और साथ ही भगवान को भी शरीरधारी साधारण मनुष्य समझता है परमात्मा नहीं । सारांश यह कि बिना अनात्म उपाधियों से विरक्ति पाये सच्चा आत्मनिवेदन नहीं हो सकता । सच्चे आत्म निवेदन के हेतु, चतुर गोपियों के मन की मनोरथ शय्या पर शयन करने वाले कुच-वन में बढ़ी हुई (विरह) अग्नि को पान करने वाले एवं श्री वृषभानु किशोरी की अंगकान्ति से जिनके अंग प्रत्यंग चमत्कृत हो रहे हैं तथा जिनके नेत्रों में अंजन सौन्दर्य को बढ़ा रहा है—ऐसे ही श्रीकृष्ण को कोटिशः प्रणाम प्रपन्न करता है । माधुर्यमयी प्रपन्नता से सराबोर साधक ऐसे प्रियतम इष्टदेव श्रीकृष्ण से कहता है कि आप दर्शन देकर मेरी रक्षा तथा पालन करें कैसा पालन ? सर्वप्रकार से पालन समस्त ओर से पालन सब भावों से पालन सभी रसों से पालन सबकाल में पालन तथा सभी स्थान पर पालन । यह पालन नित्य दर्शन के अभाव में नहीं हो सकता । इतना ही नहीं यह पालन तभी होगा जब प्रियतम श्रीकृष्ण गोपियों की भाँति माधुर्यमय प्रपन्न के कंठ में भी उसी प्रकार हाथ डालकर नृत्य करेंगे । केवल कंठ में हाथ डालकर प्रियतम के साथ नृत्य करने में भी प्रपन्न संतुष्ट नहीं होता—वह कहता है कि जब मैं प्रपन्न हो गया, तो मुझे वैसी ही कृपा चाहिए जैसी दीनों को मिलती है । श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों के एकमात्र आश्रयस्थल हैं । वे मेरे जैसे सभी दीन-दुखियों को हृदय से लगा लेते हैं । अस्तु मुझे भी लगायेंगे । वे

---

१ अद्भुतम वचन वागमृतम स्वादम् विमलरूपं प्रकाम ।
अपावयन्नाशित्य सते तवामानन्दो कीर्तये स्याम ॥
—यजुर्वेद १२।१२
—'भारतीय साधना और सूर साहित्य' द्वि० सं० पृ०२८०

कब हृदय से लगायेंगे, कब उदार नेत्रों से मेरी ओर देखेंगे, कब मन्दस्मित से मुझे आश्वासन देंगे, कब मृदुल वचनोद्गार से मुझे द्रवित करेंगे और कब मेरे में ऐसी प्रीति उत्पन्न करेंगे जैसी प्रीति वंशी उनके अधरों से करती है।

अष्टछाप के भक्त कवियों की प्रपत्ति —

रस स्वरूप, रस रीति के मर्मज्ञ एवं रस-लीला परायण प्रियतम कृष्ण के हृदय से लगने के लिये मधुर भाव को सर्वात्मसमर्पण के साथ इष्टदेव का हो जाना पड़ता है। इस समर्पण के अभाव में उपासक को अपने प्रभु का आश्रय प्राप्त नहीं होता। प्रियतम से निरंतर मिलने की आकुलता और चातक की सी दृढ़ता मधुर रस का पान करने वाले प्रपन्न में ही संभव है। तभी वह अपनी समस्त चेष्टायें अपने आराध्य देव के अनुकूल करने का संकल्प कर अपनी साधना में रत हो जाता है। अनुग्रह प्रवण की यह प्रपत्ति साधना इष्टदेव के प्रति प्रियतम अथवा पति भाव में ही चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर आत्म निवेदन में उसे बदल देती है। यहाँ पर उपासक का उपास्यदेव न तो ब्रह्म होता है, न ब्रह्म के समान वरन् ब्रह्म से भी बढ़कर। इसी प्रभु को वह आत्मसमर्पण करता है। प्यारे इष्टदेव कृष्ण के पद-पंकज की सेवा और गोपियों के समान नित्य संयोग की अभिलाषा को अपने अन्तःकरण में लिए हुए रसिक प्रपन्न प्रतिक्षण अपने प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ता है। अष्टछाप के कवियों ने सर्वात्मभाव से अपने माधव को अपना सब कुछ सौंप दिया था और निरंतर उन्हीं की याद में तन्मय रहकर चिन्तामुक्त हो गये थे। इन कवियों ने ही भगवान के पूर्व कथित द्वादश गुणों का स्मरण करते हुए, प्रपत्ति के समस्त सोपानों को पारकर वह स्थिति प्राप्त कर ली थी जहाँ भेद नाम की कोई वस्तु नहीं होती। चातक की भांति आश्रित होकर इन भक्तों ने अपने प्रभु से सर्वप्रथम कहा था—

> तिहार चरन कमल को मधुकर, मोहि कब जू करोगे।
> कृपावंत भगवंत गुसाईं यह बिनती चित जू धरोगे।
> सीतल आतपत्र की छैंयाँ कर अम्बुज सुखकारी।
> प्रेम प्रवाह नैन रतनार कृपा कटाच्छ मुरारी।
> परमानंददास रस लोभी भाग्य बिना कोउ पावे।
> जापर कृपा करें नंदनंदन ताहि सबै बनि आवे ॥८१७॥

—परमानंदसागर पृ. २८७

भक्तों को यह विश्वास है कि बिना नंदनंदन की कृपा-कटाक्ष के चरण-कमल का सामीप्य उपलब्ध नहीं होता और यह कृपा-कटाक्ष भी सबको नहीं मिलती, मिलती है तो केवल भाग्यवान को। विषयरत रहने वाले को तो इस कृपा-कटाक्ष की छाया भी नहीं दिखलाई देती। मन, वचन और कर्म से प्रभु की इस कृपा-कटाक्ष को प्राप्त करने वाले भक्त अत्यंत हुलास से श्यामसुन्दर की सेवा का व्रत लेते हैं और अपने अनुराग में कमी नहीं आने देते। निस्सन्देह ऐसे भक्त मदनमोहन की महिमा को जानकर ही ऐसा करते हैं। वे अपने नेत्रों में अपने राधा-माधव को बसाये रहते हैं, श्रवणों से सर्वदा उनकी कीर्ति सुनते हैं तथा वाणी से उनका गुणगान करते हुये उनकी सेवा के समक्ष मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं—

सेवा मदन गोपाल की मुकति हू ते मीठी।
जानै रसिक उपासिका सुक मुख जिन दीठी।
चरन कमल रज मन बसी सबै धर्म बहाये।
स्रवन कथन चिंतन बढ्यौ पावन जस गाये।
बेद पुरान निरूपि कै रस लियौ निचोई।
पान करत आनंद भयो डार्यो सब छोई।
परमानंद बिचारिकै परमारथ साध्यो।
रामकृष्ण पद प्रेम बढ्यो लीलारस बाँध्यो ॥८३३॥

—परमानंदसागर पृ०२९९

इस प्रकार मदनगोपाल की सेवा में व्रती रसिक प्रपन्न अपने प्रभु के पद-प्रेम में तन्मय होकर समस्त धर्मों का त्याग करते हुये एकमात्र प्यारे कृष्ण की शरण में चले जाते हैं। उनकी यह धारणा है कि निर्गुण रस में निमग्न भी राधावल्लभ की एकमात्र शरण ग्रहण करने से समस्त दुःखों का नाश और समस्त प्रकार के ऐश्वर्य का विकास हो जाता है। भला ऐसे संरक्षक से कौन प्रेम नहीं करेगा, जो सदा एक रस हो और शरणागत के साथ ऐसा व्यवहार करता हो जैसा उसके माता-पिता तथा बन्धु आदि कोई नहीं कर पाते ?

तुम तजि कौन सनेही कीजै।
सदा एक रस को निबहत है ताको चरन रज लीजै।
यह न होई अपनी जननी ते पिता करत नहिं ऐसी।
बन्धु सहोदर कोऊ न करत है मदनगोपाल करत है जैसी।

मुख अरु लाक देत हैं ब्रजपति अरु वृन्दावन वास बसावत ।
परमानन्ददास को ठाकुर नारदादि पावन जस गावत ॥८५६॥

—परमानन्द सागर पृ० १००

प्रेम के एकमात्र देवता के इस रसमय व्यवहार के कारण प्रपन्न को इतना भरोसा हो जाता है कि फिर वह वृन्दावन में रहता हुआ सब कुछ सहन कर लेता है। चाहे कोई उसे कितना ही भला-बुरा क्यों न कहे वह इसकी किंचित चिंता नहीं करता और श्यामसुन्दर के प्रेमानंद में मग्न रहकर उन्हीं का गुणगान करता हुआ कहने लगता है —

ब्रजवसि बोल सबन के सहिये।
जो कोऊ भली बुरी कहै लाखौं, नँदनंदन रस लहिये।
अपने गूढ़ मतै की बातें काहू सों नहिं कहिये।
परमानंद प्रभु के गुन गावत आनंद प्रेम बढ़ैये ॥८३१॥

—परमानंद सागर पृ० २९१

आराध्यदेव के गुण-गान के आनंद की कोई सीमा नहीं होती। इस आनंद रस रंग के चढ़ते ही शरण में आने वाले साधक का अभिमान दलित हो जाना स्वाभाविक है। तत्पश्चात् तो वह मधुर भाव-सागर की तरंगों में लहरें खाता हुआ निरंतर राधावर की सेवा में लीन रहकर अपनी समस्त कामनाओं का नाश कर देता है यथा—

लग जो यो वृन्दावन रंग।
देह अभिमान सबै मिटि जैहैं अरु विषयन को संग।
सखी भाव सहज होय सजनी पुरुष भाव होय भंग।
श्रीराधावर सेवत सुमिरत उपजत लहर तरंग।
मन को मैल सबै छुटि जैहैं मनसा होय अपंग।
परमानंद स्वामी गुन गावत मिटि गये कोटि अनंग ॥८३७॥

—परमानंद सागर पृ० २९४

विषयवासनाओं से पराजय से बहुत ऊपर उठकर प्रभु के सान्निध्य का लाभ जब मधुर रसोपासक प्रपन्न को हो जाता है, तब वह आनंदातिरेक से विरक्त उठता है किन्तु प्रेम-अधिक्य में वियोग का अनुभव करके तुरंत ही अपने आराध्यदेव से उनके उन दुग्ध-भवन की छाया की याचना करने लगता है जिसने गोकुल की रक्षा, दैत्यों का संहार, राधा का स्पर्श और वेणु में गोपियों के प्रेम को मूर्तिमान कर दिया था—

कबहूँ हरि हौं यौं दया ।
हस्त कमल की हमहूँ ऊपर फेरि वोही छया ।
जिहि प्रसाद गोकुलपति धारयो कर सम अद्रि उठायो ।
जिहि कर अंबुज परसि चारु कुच राधा भली मनायो ।
जिहि कर कमल बास लीला रस धेनुक दैत्य फिरायो ।
जिहि कर कमल कोप मूठे भरि मूसल कंस गिरायो ।
जोहि कर कमल बेनु हरि लीनो गोपिन प्रेम बढ़ायो ।
जिहि कर कमल दास परमानंद सुमिरत यह दिन आयो ।।८७१।।

— परमानंद सागर पृ० १०६

पूर्वक्रमेण अपने भगवान की रक्षा-शक्ति में विश्वास करते हुये ही यहाँ पर प्रपन्न ने उनके वरद हस्त की छाया को चाहा है तथा दीनों के हेतु कल्पतरु के समान नंदनंदन करुणासागर के सान्निध्य लाभ का संदेश दिया है—

जाइये वह देश जहाँ नंदनंदन भेंटि ये ।
निरखिये मुख कमल कांति विरह ताप मेटिये ।
सुन्दर मुखरूप सुधा लोचन पुट पीजिये ।
संपट सब निमिष रहित अंचय अलय कीजिये ।
नख सिख मृदु अंग अंग कोमल कर परसिये ।
मन अनन्य भाव सौं भजि मन क्रम वचन सरसिये ।
रास हार मुख विलास लीला सुख पाइये ।
भगतन के यूथ सहित रसनिधि अवगाहिये ।
इहि अभिलाष अंतरगति प्राननाथ पूरिये ।
सागर करुना उदार त्रिविध ताप चूरिये ।
छिन छिन पल कोटि कलप बीतत अति भारी ।
परमानंद प्रभु कल्प तरु दीनन दुखहारी ।।८४६।।

—परमानंद सागर पृ० २९७

ऐसे करुणासागर इष्टदेव श्रीकृष्ण के समीप वही पहुँच सकता है जो नंदनंदन को निरंतर अपने हृदय में प्रीतिपूर्वक धारण करने वाले व्रजवासियों की रसरीति को अपना ले और सर्वभाव से प्रतिक्षण प्रार्थना में रत हो जाय । गुरु-कृपा के अवलम्ब से साधक इसका शुभ पंथ प्राप्त करता है—

ब्रजवासी जाने रस रीति ।
जाके हृदय और कछु नाहीं नंद सुवन पद प्रीति ।
करत महल में टहल निरंतर जाम जाम सब बीति ।
सर्वभाव आत्मा निवेदित रहे त्रिगुनातीति ।
इनकी गति और नहिं जानत बीच जवनिका भीति ।
कछुक लहत दासपरमानंद गुरु प्रसाद परतीति ।।८४८।।

—परमानंद सागर पृ० २९८

गुरु-कृपा से रस रीति को सहज प्राप्त कर लेने पर भी प्रपन्न को देवों के देव राधिकावल्लभ प्यारे लगते हैं और वह समस्त साधनाओं के अनुसार स्वरूप उनका स्मरण करता हुआ समस्त विषयों को त्याग कर मधुप के समान उनके चरण-कमल का रस पान करने लगता है। इस प्रकार के साधक के हृदय में अपने प्रभु के प्रति अनन्य निष्ठा और दृढ़ प्रीति का सतत् विकास होता है। अपने प्रभु के स्वभाव को जानकर प्रपन्न निरंतर उनकी गंभीरता और उदारता की सराहना करता रहता है। वे प्रभु भी अत्यंत अनुग्रहपूर्वक अपनी शरण में आये हुये भक्त के छोटे-छोटे गुणों को भी मेरु के समान मानते हुये बड़े से बड़े अपराध को बूंद के समान गिनते हैं और भक्त के विरह में स्वयं आकुल होकर उसे पाने के लिये उसके पीछे-पीछे घूमते हैं—

प्रभु को देखो एक सुभाइ ।
अति-गंभीर-उदार उदधि हरि, जान सिरोमनि राइ ।
तिनका सौ अपने जन को गुन मानत मेरु-समान ।
सकुचि गनत अपराध-समुद्रहि बूँद-तुल्य भगवान ।
बदन-प्रसन्न कमल सन मुख ह्वै देखत हौं हरि जैसें ।
बिमुख भये अकृपा न निमिष हूँ फिरि चितयौं तौ तैसें ।
भक्त विरह-कातर करुनामय डोलत पाछें लागे ।
सूरदास ऐसे स्वामी कौ देहि पीठि सो अभागे ।।८।।

—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ० १

कभी भक्त भगवान के पीछे पीछे घूमता है और कभी भगवान भक्त के। भगवत द्वारा भक्त के स्वीकार के कारण अनुग्रह प्राप्त की अपनत्वनिष्ठा कम नहीं होती। ऐसे भक्त का मन यदि तनिक भी आराध्य प्रभु के पास से इधर-उधर हटा तो वह फौरन उसे डांटने लगता है कि—

करि हरि सौं सनेह मन साँचौ ।
निपट कपट की छाँड़ि अटपटी इन्द्रिय बस राखहि किन पाँचौ ?
सुमिरन कथा सदा सुखदायक विषधर-विषय विषम विष-बाँचौ ।
सूरदास प्रभु हित कै सुमिरौ जो, तौ आनंद करिकै नाचौ ॥८३॥
—सूरसागर प्रथम खंड (ना॰ प्र॰ स॰) पृ॰ २७

स्नेह से पूरित भक्त जब अपने मन को डाँटता है तो उसके पीछे उसके आराध्य प्रीतम के संयोगानन्द की उपलब्धि की आकांक्षा छिपी होती है क्योंकि वह समझता है कि मन का विषयासक्त होना इस अपूर्व रसमय संयोग में बाधक होगा । अस्तु, वह बार-बार कहता है—

हरि बिनु मीत नहीं कोउ तेरे ।
सुनि मन, कहौं पुकारि तोसौं हौं भजि गोपालहिं मेरे ।
या संसार विषय विषसागर रहत सदा सब घेरे ।
सूरस्याम बिनु अंतकाल में कोउ न आवत नेरे ॥८५॥
—सूरसागर प्रथम खंड (ना॰ प्र॰ स॰) पृ॰ २८

जो भगवान निरंतर अपने भक्त के पीछे-पीछे घूमता हो वह तो मित्र, स्वामी आदि सबसे महान होता है और चंचल मन के स्थिर हो जाने पर उसके लिये वरदानी सिद्ध हो जाता है । इस मन के भगवच्छरणागति में पहुँचते ही भक्त को स्याम-स्यामा की वृन्दावन राजधानी ही प्यारी लगती है और तब वह संसार के तुच्छ सुखों की परवाह न करते हुये सर्वोपरि अखंडानन्द में तन्मय होकर झूम उठता है—

अबै तो यहै बात मन मानी ।
छाँड़ौं नाहिं स्याम-स्यामा की वृन्दावन रजधानी ।
भ्रम्यौ बहुत लघु धाम विलोकत छन भंगुर दुखदानी ।
सर्वोपरि आनंद अखंडित सूर-मरम लपिटानी ।
—सूरसागर प्रथम खंड (ना॰ प्र॰ स॰) पृ॰ २८

अन्तःकरण में श्रीहरि का स्मरण करने से और श्यामसुन्दर की सर्वात्मभाव से सेवा करने से भक्त को किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता । किन्तु दैन्य के साथ प्रभु से निरंतर निवेदन करते रहना परमावश्यक माना गया है । बिना दैन्य के अभिमान का नाश नहीं होता और अभिमान के नष्ट हुए बिना साधक को अपने प्रभु की शक्ति पर सन्देह बना रहता है । अस्तु साधक अत्यंत दैन्य के साथ कहता है:—

हरि, हौं महापतित अभिमानी।
परमारथ सौं विरत विषयरत, भाव भगति नहिं नैकहु जानी।
× × × ×
नवलकिशोर जलद-तनु सुन्दर बिसर्‌यो सूर सकल सुखदानी ॥१४९॥

—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ० ४९

इसलिये हे प्रभु—

कृपा अब कीजिये बलि जाउँ।
नाहिन मेरैं और कोउ, बलि, चरन-कमल बिन ठाउँ।
× × ×
तुम कृपाल, करुनानिधि केसव, अधम-उधारन-नाउँ।
असरन सरन नाम तुम्हरौ, हौं कामी कुटिल निभाउँ।
× × ×
सूर पतित पावन पद-अम्बुज सो क्यों परिहरि जाउँ ॥१२८॥

—सूरसागर प्रथम खंड (ना० प्र० स०) पृ० ४१

कृपा प्राप्त करते हुये भी कृपा की प्रार्थना और दीनता रहते हुए भी दीनता की भावना प्रपत्ति के सर्वोत्कर्ष का प्रतीक है। यह प्रपत्ति ही इस मधुर प्रपत्ति का प्राण है। जैसे प्राणी प्राण के बिना नहीं रह सकता वैसे ही भक्त प्रपत्ति के बिना नहीं रह सकता क्योंकि वृन्दावन की सुरम्य वनस्थली में राधादि के साथ विहार करने वाले अपने सदय प्रभु के सिवाय उसकी दृष्टि में कोई दूसरा दीनदयाल नहीं आता, परन्तु वे करुणा के सागर श्याम-सुन्दर उसे जैसे रखें वह रहने को तैयार रहता है। सूर शरणागति की भावना में रत, इस प्रकार अपने को अपने इष्टदेव का बनाकर, अनन्य अत्यंत दीनता एवं निष्ठा के साथ कह उठता है—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे।
सब तजि तुम सरनागत आयौ दृढ़ करि चरन गहे रे।
तुम प्रताप-बल बदत न काहूँ निडर भये घर-चेरे।
और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तैं पाये सुख जु घनेरे ॥१७०॥

—सूरसागर प्रथम खंड (ना०प्र०स०) पृ० ५५

संसार के समस्त धर्मों का त्याग कर भगवान की शरण में चले जाना ही प्रपत्ति की सर्वमहान्-क्रिया है। अष्टछापादि के सभी भक्त कवियों ने भी

प्रकार इसे समझकर विरक्त जीवन व्यतीत किया है और जिस प्रकार भगवान उनके पीछे फिरते हैं उसी प्रकार वे भी उनके पीछे फिरते हुए उनकी शरण ग्रहण कर कहते हैं—

> प्रभु, मैं पीछौ लियौ तुम्हारौ।
> तुम तौ दीनदयाल कहावत, सकल आपदा टारौ।
> महा कुबुद्धि कुटिल, अपराधी, औगुन भरि लियौ भारौ।
> सूर कूर की याही बिनती, लै चरननि मैं डारौ ॥२१८॥
>
> —सूरसागर प्रथम खंड (ना. प्र. स.) पृ. ७१

इसी प्रकार दीन भक्त भगवान का हो जाता है और कृपालु प्रभु भी अपने भक्त के वश में होकर संपूर्ण योग क्षेम का वहन करते हैं। सूरदास के शब्दों में कृष्ण अर्जुन से स्वयं कहते हैं—

> हम भक्तन के, भक्त हमारे।
> सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे।
> × × ×
> जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि बिचारौं।
> सूरदास सुनि भक्ति विरोधी चक्र सुदर्शन जारौं।
>
> —सूरसागर प्रथम खंड (वे. प्रे.) पृ. २१

अपने भक्तों की भाँति ही सर्वेश्वर कृष्ण भी भक्तों की रक्षा का संकल्प कर लेते हैं और भक्तों के विश्वास के अनुसार पूर्ण कृपा कर त्रिविध संताप का अविलम्ब हरण कर उन्हें कृतकृत्य कर देते हैं। कितना विश्वास है इष्टदेव की कृपा पर—

> तुम बिनु को ऐसी कृपा करै।
> संत सरन वत्सल करुनानिधि त्रिबिध संताप हरै।
> सुफल कियो मेरौ जनमु महाप्रभु प्रभुता कहि न परै।
> पूरन ब्रह्म-कृपा कटाच्छ तें भव का कुमन तरै।[1] ॥४०॥

ऐसे कृपालु प्रभु का संयोग पाने के बाद भक्त को फिर किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वह तो उनका नित्य संयोग ही चाहता है और निरंतर उनकी माधुर्यमंडित छवि का अवलोकन कर सब कुछ न्योछावर करने का उपक्रम करता है। इतना ही नहीं वह अपने भगवान से इसी नित्य संयोग की प्रार्थना भी करता है।

---

1 कुंभनदास पद-संग्रह (विद्या विभाग, कांकरोली, राजस्थान)

स्याम सुन्दर प्रान-प्यारे ! छिनु जिनि होहु निन्यारे।
नैकु की ओट मीन ज्यों तलपत इनि नैनान के तारे।
मृदु मुसुकानि, बंक अव लोकनि डगमग चलति सहज में सुढारे।
चतुभुज प्रभु गिरिधर-वामिक पर कोटिक मन्मथ वारे।[1]

ऐसे प्रपन्न को प्रभु का क्षण भर वियोग भी मछली के समान तड़पा देता है। उस रूप को देखकर उसे स्वर्ग का सौन्दर्य भी तुच्छ जान पड़ता है क्योंकि स्वर्ग में उनकी धारणा के अनुसार न तो वृन्दावन के कुज हैं और न मलयें, न वहाँ बंसी की ध्वनि है और न प्रेम की पुलक और प्यारे इष्टदेव भी तो वहाँ नहीं मिलेंगे फिर वह बैकुण्ठ में जाकर क्या करे,

कहा करौं बैकुंठे जाइ।
जहाँ नहीं ए कुज लता द्रुम मंद सुगंध बाजत नहिं बाइ।
कोकिल मोर हंस नहिं कूजत ताको बसिबौ काहि सुहाइ।
जहाँ नहीं बंसी धुनि बाजत कृष्ण न पुरवत अधर लगाइ।
प्रेम पुलक रोमांचन उपजत मन क्रम वच आवत नहिं दाइ।
जहाँ नहीं ए भुव वृन्दावन बाबा नन्द जसोमति माइ।
गोविन्द प्रभु तजि नंद सुवन को ब्रज तजि वहाँ बसत बलाइ।[2]

जिस प्रभु से उसे काम है जब वही बैकुण्ठ में न रहकर वृन्दावन में रहते हैं, तो उसे भी वृन्दावन में ही अच्छा लगता है अस्तु भक्त अपयश से निर्भय वह केवल ब्रजलाड़िले को अपने सम्मुख चाहता हुआ प्रभुमय हो जाना चाहता है,

हमहिं ब्रजलाडिले सो काज।
जस अपजस को हमें डर नाहीं कहनी होइ सो कहु लेउ आज।
कियौं काहू कृपा करी धौं न करी जो सनमुख ब्रजनृप युवराज।
गोविन्द प्रभु की कृपा चाहिएँ जो है सकल घोष सिरताज ॥२७३॥

—गोविन्द स्वामी पृ० २१५

---

१ चतुर्भुज कीर्तन पदसंग्रह (विद्या विभाग, कांकरोली राजस्थान) पृ० ११८

२ गोविन्द स्वामी पद संग्रह (विद्या विभाग कांकरोली, राजस्थान) पृ २१५

श्यामसुन्दर भी ऐसे अनुग्रह प्रपन्न की सर्वोत्तम शरणागति की महत्ता को स्वीकार करते हुये उसके हृदय में अविलम्ब प्रवेश कर उसकी सेवा के लिये आकुल हो जाते हैं। कितनी उच्चस्थिति है इस शरणागति की जब भक्त भगवानमय और भगवान भक्तमय होकर एकाकार हो जाते हैं। भेद यहाँ सर्वथा विलीन हो जाता है, यथा—

आपनु पे आपुन ही सेवा करत।

आपुन ही प्रभु आपुन सेवक आपुन रूप धरत।

आपुने धर्म कर्म सब आपुने आपुनिय विधि अनुसरत।

छीतस्वामी गिरधरन श्री विट्ठल भक्त वत्सल भय हरन ॥१८०॥

— छीत स्वामी पृ० ७१

रीतिकालिक कृष्ण भक्त कवियों की प्रपत्ति —

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्मित काल विभाजन को ध्यान में रखते हुए इस युग में जिन प्रमुख मधुररसोपासक कवियों ने प्रभु की प्रपन्नता ग्रहण की, वे निश्चय ही परम त्यागी आचारवान् भक्त थे विषयवासना में बहने वाले विलासी नहीं। उज्ज्वल रस के प्रवाह में बहते हुये इन उपासकों ने भी कृष्ण को अपना प्राणनाथ मानकर नितांत रूप से उनके हो जाने का दृढ़ संकल्प किया था और उनका शाश्वत सामीप्य प्राप्त करने के लिये अधीर हो उठे थे। रसिक शिरोमणि कुञ्जबिहारी की शरण प्राप्त करने के हेतु इन कवियों ने श्री राधिका जी का भी स्तवन किया है क्योंकि वे मानते हैं कि बिना कृपा राधा की न तो कृष्ण का दर्शन ही प्राप्त हो सकता है और न सामीप्य ही। परम पवित्र भावना से राधा-कृपा को प्राप्त करते हुये श्याम सुन्दर को अपने हृदय मन्दिर में बैठाने का उन सबका प्रयत्न है। माधव भी तो अपनी आह्लादिनी शक्ति की आज्ञा बिना एक पग भी आगे नहीं जा सकते। अतः सर्वप्रथम वह भक्त उन्हीं महाभावस्वरूपा वृन्दावनेश्वरी का स्मरण करता है—

मोहिं श्रीराधे नाम सुहावै।

तास तरप शिव अज मुख समस्त करि उपाय सबि पावै।

जोगिन्द्रादि मुनी मन चाहत नेति नेति श्रुति गावै ।
दास किशोर अनन्य उपासिक रस पुत रसिक लड़ावै[1] ॥२।२६६॥

इस स्मरण के साथ प्रपत्ति पथ पर चलने वाला रीतिकालिक अनुग्रह प्रपन्न, अपने आराध्य देव के सुरम्य निवास स्थल वृन्दावन के समीप रहता हुआ उनकी मधुर भावना को अपने हृदय में धारण कर सहचरी स्वरूप से उनकी शरण में चला जाता है और कहता है—

मयो मन साँवरे को दास ।
प्रफुलित वदन सदन सोमानिधि मरालत विमल विकास ।
सकल कुटुम्ब विटमना तजि तजि भक्ति भाव विस्वास ।
सपति विपति अपमित आवत होत न अधिक उदास ।
रसिक अनन्य धर्मधरि सिर परि सहत विविध उपहास ।
दास किशोर उपाय रहित मिति नित्य किशोर उपास[1] ॥१॥८४॥

मन ही तो समस्त बन्धन और मोक्ष का कारण है। यदि यह प्रभु का बन गया, तो फिर साधक अत्यंत विश्वास के साथ सबको त्यागकर सुख दुख में समान भाव रखते हुए अनेक प्रकार के उपहास को सहन करके भी किशोरवय वाले रसिक शिरोमणि का हो जाता है और अत्यंत दीन होकर उनकी कृपा के हेतु निवेदन करने लगता है—

तुमरी कृपा बिना मन दीन ।
तुम अपनाय गहत कर ताको सो जन परम प्रवीन ।
तुम स्तिम्य करुणानिधि कारण जोम परम बल हीन ।
दास किशोर करत ताहूँ तुम सों ममुसत वपु लीन[2] ॥२।२८८॥

बड़ा प्रभाव है इस दैन्य में। भगवान भक्त के इस दैन्य से प्रभावित होकर क्षण भर में उसे अपनी ओर खींच लेते हैं और करुणा के रस से उसे सर्वप्रकार से सराबोर कर परम प्रवीन बना देते हैं।

इष्टदेव श्रीकृष्ण के पास पहुँचकर तो साधक उनकी बाँकी चितवन से ऐसा वशीभूत हो जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता और फिर समस्त प्रकार के भय भी भस्मीभूत हो जाते हैं, तभी वह कहने लगता है—

---

१ सिद्धांत सार संग्रह पृ० २१४
२ ,, ,, पृ० ११२
३ सिद्धान्त सार संग्रह

अधम अधारन मैं तुम जाने ।
दीनानाथ कृपानिधि स्वामी सदा दया रस सानें ।
सोचहरन सुखकरन छमापति अति उदार उर आने ।
पतित पपीहनि के आनंदघन जीवनघन पहिचाने[1] ॥२६१॥

सर्वविदित है कि वे प्यारे प्रभु पतितों का उद्धार करते हैं, दीनों पर कृपा करते हैं, समस्त दुःखों का निवारण करते हैं और आनंद की वर्षा करते हैं। प्रपन्न भी इसका अनुभव करता है और प्रभु से निवेदन करता है—

तुमही हो हरि गति मेरी ।
सर्व ठौर सब भाँति सब समय पति मेरी ।
तुमही में तुम तें निहचल रहौ मति मेरी ।
आनंदघन चातक सौं राखौ रति मेरी[2] ॥१३६॥

जिस प्रकार चातक स्वाति को प्राप्त करने के हेतु निश्चल बुद्धि से साधना में रत रहता है उसी प्रकार की रति एवं निष्ठा को अपने आराध्य प्रियतम से कामना करता हुआ शरण चाहने वाला व्यक्ति सर्वप्रकार से हरि की शरण ग्रहण कर लेता है—

हमकों तिहारी है हो सरन हरि ।
जग मंगलकारी जदुनन्दन अतर-ताप-हरन ।
अंतरजामी सब-सुखस्वामी बंछित-पूरन करन ।
करुनानिधि उदार आनंदघन जीवन-पोषन भरन[3] ॥७३९॥

समस्त जनों के हेतु कल्याण करने वाले अन्तर्यामी हरि के औदार्य का स्मरण प्राणी के जीवन को रसमय बनाकर उसे नित्य प्रार्थी बना देता है। इष्टदेव की इस प्रार्थना में तन्मय वह भक्त न तो श्रीकृष्ण की लीला को समझ पाता है और न उसे उपासना का ही भान रहता है। केवल कृपालुता की चाह ही उसे संतोष प्रदान करती है जिसके कारण माधव उसकी प्रीति को परख लेते हैं। हरि के चरणों की यह प्रीति ही तो उसकी सबसे बड़ी उपासना है—

---

१ घनानंद पृ० ४९१
२ „ „ ११२
३ „ „ २०९

प्रीति पारसू जुगल है तिन पद राखौं प्रीति ।
वृन्दावन हितरूप की यही उपासना रीति ॥४०॥

चाचा हित वृन्दावन दास कृत रसिक पथचन्द्रिका पृ० ५

राधा-माधव के चरणों की यह प्रीति जिसे प्राप्त हो जाती है, संसार में वही सौभाग्यशाली होता है। उसके हृदय में राधा-वर के चरण निरंतर बने रहते हैं। वह अनुराग के पंथ पर चलता हुआ नित्य विहार के गीत गाकर आनंदविभोर हो जाता है—

बड़भागी सोई जगु जानौं ।
जाके भक्ति भाव राधा वर चरन कमल चित आनौं ।
श्री वृन्दावन रज अनुरागी प्रेमपंथ पहिचानौं ।
नित्य निकुंज विहार सार रस भजन सजनि सुख ठानौं ।
करत मानसिक मन रंगु भीनो प्रेम रूप सरसानौं ।
(श्री श्री) रूपलाल हित सरनागति सुख सहज संपदा मानौं[1] ।

रसिकों की मान्यता है कि इस नित्य विहार की शरण प्राप्त करने के हेतु आह्लादिनी राधा की कृपा जैसा कि पूर्व में निर्देश किया जा चुका है परम आवश्यक है। भक्ति के इस मधुर प्रवृत्ति मार्ग पर वही चल सकता है, जिसकी रुचि समस्त अन्य विषयों से हटकर श्यामा के चरण-कमल में लग जाय। इस स्थिति में आ जाने के बाद प्रपन्न के समस्त संशय दूर हो जाते हैं और वह उमड़ते आनन्दाश्रुओं के साथ अपने इष्टदेव और इष्टदेवी के स्नेह में अवगाहन कर उनकी कीर्ति का गान करने लगता है। उसके हृदय में तब कुंजबिहारी राधा-माधव के चरण-कमलों की कांति जगमगा उठती है—

जा जन पर कुँवरि कृपा करै ।
सब बातनि तें मन रुचि घटि कै श्याम सुवन पथ अनुसरै ।
संसै मूल निर्मूल होहि सब लाभ हानि चिन्ता हरै ।
जुगल नेह भींज्यो रहै निसिदिन आनंद वारि स्रवन करै ।
भजन छेत्र वृन्दावन गहि रे कै काहू विधि करि नहि टरै ।
श्रीहरिप्रिया विमल जस गावत गाढ़ प्रेम चहुंघं परै ।

---

१ श्री हित० पो० सं० ला० पृ० ४९०

कौतिक कुंज केलि अनुरागी गौर स्याम पद उर धरै ।
वृन्दावन हित रूप आऊं बलि अनम भीति परिकर दरै[1] ॥२६॥

चरण-कमलों की प्रीति का इस रसमय अंकुर के हृदय में उमड़ते ही शरणागत अपनी स्वामिनी के परम प्रिय प्राणनाथ ब्रजराज मांड़िले को मुक्त कंठ से पुकारते हुए दैन्य के साथ शीघ्र ही उनकी शरण ग्रहण कर लेता है—

मेरी सुनिये अर्ज पुकार ।
कृपासिन्धु ब्रजराज माड़िले पर्यो तिहारे द्वार ।
चरन सरन आये जे तिनके मेटे दुख अपार ।
मेरी बेर कहो क्यों ब्रजनिधि इतनी करी अबार ॥६५॥

— ब्रजनिधि ग्रन्थावली पृ० १०१

अपने शरणागतवत्सल प्रभु के द्वार पर पड़े हुए प्रपन्न को क्षण भर में ही पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वे राधिकावल्लभ उसे अवश्य अपनायेंगे । वृन्दावन की उस पवित्र स्थली में जब उसका मन अपने प्यारे के समक्ष मचल जायेगा, तब तो रसमय आलिंगन पाने में तनिक भी देर न लगेगी सर्वोच्च पद मिलेगा चिर काल से हृदय में रहने वाली प्रिय-मिलन की साध पूरी हो जायेगी और मधुर रस का परम दुर्लभ आस्वाद भी हो जायगा —

जब कानन अधिपति अपनैहैं ।
तब तू मचलि परैगी द्वारे अति हित मानि अंक भरि लैहैं ।
दरसावैं लीला कुंज की आपु रीझि तोकों जु रिझैहैं ।
सब तें उच्च परम पद पावै सब तें गुरुवो सो सुख दैहैं ।
मना रिझाइ प्रभो को मन बसि सबै मनोरथ वांछित पैहैं ।
जानतु प्रीति माहिली प्रीतम तेरी कृत निरथा नहिं वैहैं ।
दासा भयो राधिका वल्लभ भांति भांति प्रनिततनि अपनैहैं ।
वृन्दावन हित रूप निकर रस हीये की रसना अचवैहैं ।

—वृन्दावन वन प्रकाश पृ० १०

इसे पाने के लिए साधक आतुर हो उठता है, क्षण भर की भी देर उसे असह्य होती है इसी वियोग की वेदना को बताते हुये वह बार-बार कहता है—

---

१ रसिक पथ चन्द्रिका पृ० २१

अहो हरि बिलम्ब नहीं करिये।
दीनबन्धु दयाल करुना करि बिपत्ति हरिये।
कहौ तुम बिन कहौं कासों बृथा दुख भरिये।
लाज मेरी तोहि ब्रजनिधि बेगि इत करिये'[1] ॥४५॥

वेदना से व्याकुल भक्त की इस पीर को उसके इष्टदेव प्रभु ही जान सकते हैं। सांसारिक जन केवल स्वार्थ के कारण उससे सम्बन्ध रखते हैं किन्तु प्रभु का सम्बन्ध नित्य है। यह सम्बन्ध तो भगवान भक्त पर कृपा करने के लिये ही रखते हैं। इसका अनुभव करते हुये भक्त अपने भगवान के चरणों में अपने चित्त को एकाग्र होकर लगाता हुआ निरंतर उनके गुणों के गीत गाता है—

हरि बिनु को सनेह पहचानै।
सब अपने स्वारथ के साथी पीर न कोऊ जानै।
यह जिय जानि स्याम स्यामा के चरन कमल चित ठानै।
ब्रजनिधि महत पुरान सकल हरि हित के हाथ बिकानै[2] ॥४६॥

आधुनिक कृष्ण भक्त कवियों की प्रवृत्ति —

प्रथम चातकों की प्यास को बुझाने के लिये दीनों की दशा पर द्रवित होने के लिये और विरहाग्नि से दग्ध भक्तहृदय को अपनी मधुर रस धारा से शीतल करने के लिये ही इस युग के रसिक भक्तों की दृष्टि में श्यामसुन्दर 'घनश्याम' कहलाते हैं। उनकी कृपा की अभिव्यंजना करते-करते वेद भी नेति-नेति कहकर रह जाते हैं। वे मदनमोहन ही तो भक्त के सर्वस्व हैं—उसके प्राण हैं और उसकी प्रत्येक चेष्टा में व्याप्त हैं। यदि ऐसा न होता तो पतितों का उद्धार न होता। पतितों का पाप यदि डाल-डाल पर है, तो पतितपावन पात-पात पर रहकर उन्हें निर्मल कर देते हैं। इसीलिये तो शरणागत भक्त है तो गोपाल को देखता है तो गोपाल को और देखता है तो भी गोपाल ही था। ये गोपाल ही उसके नैनों के तारे, प्राणों के प्यारे और जीवन के सहारे हैं। ये इस प्राणी के पति हैं गति हैं और रति भी हैं। इसीलिये वह उनके चरणों में अपनी प्रीति को समर्पित करता है और भवजाल से बचने की चेष्टा करता है—

---

१ ब्रजनिधि ग्रन्थावली पृ० २०१
२ ब्रजनिधि ग्रन्थावली पृ० २०१

नेह हरि सों नीको लागै ।
सदा एक रस रहत निरंतर छिन छिन अति रस पागै ।
नहिं वियोग भय नहिं हिंसा जहँ सतत मधुर ह्वै जागै ।
"हरीचन्द" तेहिं तजि मूरख क्यों जगत्रास अनुरागै ॥३०॥
—भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० ५४७

इस चेष्टा में प्रपन्न भगवान की कृपा के अवलम्ब से न मिटने वाली लालसाओं को मिटाता है और योग ज्ञान जप तथा तीरथ आदि साधनों की कठिनता का अनुभव करता हुआ प्रभु की शरण में चला जाता है। उसका कथन है—

गोपालहिं रुचत सहज व्योहार ।
निश्छल बिनु प्रपंच निर कृत्रिम सब विधि बिना विकार ।
सहज प्रेम पुनि नेम सहज ही सहज भजन रस-रीति ।
सहज मिलनि बोलनि चलनि सब सहजहिं प्रीति प्रतीति ।
हाव भाव चितवनि कटाक्ष अनुराग सहज जो होय ।
× × ×
पूजा दान नेम व्रत के पाखंड न हरि को भावैं ।
आदि रसिकता ज्ञान ध्यान औ हरि-पद नेह न लावैं ।
तासों सहज प्रेम पथ अनुपम सहजहिं प्रगटि चलायो ।
हरीचन्द, को सहजहिं निज करि निज जस सहज गँवायो ॥३४॥
—भारतेन्दु ग्रन्थावली ५४८

ऐसे प्रपन्न साधक के प्रभु परब्रह्म से भी बढ़कर हैं अस्तु समस्त साधनों से हीन तर दीन वह उनसे डरते-डरते कुछ कहने की हिम्मत करता है। जिसके दरबार में बड़े सिद्ध देवता मुजरा नहीं पाते उसके सामने जाते ही वह समस्त विधियों को भूल जाता है और बेअदबी की शंका से डरने लगता है किन्तु वेदों में वर्णित दीनबन्धु का स्मरण करते ही वह आनंद से झूम उठता है और अपने प्रभु से दैन्य के साथ कहता है—

कीनिहैं अरज़ तुम्हरो भारी ।
फिर तुमको कोऊ नहिं कहिहै मोहन पतित उधारी ।

वेदादिक सब झूठ होइँगे ह्वै वे जैहैं अति ख्वारी।
तासों कोउ विधि बाह लीजिये हरीचंद को तारी।[1]

किन्तु यह उद्धार कैसे होगा ? भक्त को बिसारने से तो उद्धार का यह महत् कार्य संभव न होगा। पतितों की पीर का एक मात्र अनुभव करने वाले प्रियतम तुम्हारी दयालुता से ही शरण में आये हुए की रक्षा संभव हो सकेगी, इसीलिये—

नाथ बिसारे तें नहिं बनिहै।
तुम बिनु कोउ जग नाहिं मरम की पीर पिया जो जनिहै।
हँसि है सब जग हाल देखि कोउ नाहिं दीनता गनिहै।
उलटी हमहिं सिखावनि दैहै मेरी एक न मनिहै।
तुम्हरे हाइ कहाँ हम जैहैं कौन ओथ में सनिहै।
'हरीचंद' तुम बिनु दयालता और कोउ नहिं ठनिहै।[2]

परम दयालुता के साथ शरणागत को अपना लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में एक समय की बात है कि श्यामसुन्दर किसी गोपी के साथ रति-रत मग्न थे। गोपी के चरणों में पड़े हुये नूपुरों की झंकार से वातावरण गूँज रहा था, कृष्ण वे नूपुर उतारने लगे। गोपी ने तुरन्त कहा—

प्रीतम नूपुर मति ना उतारो।
इनकी धुनि सुनि पार परोसिनि, कहाँ करैगी हमारो।
भले करो जग चरचा मेरी, तुम निज प्रण नहिं टारो।
नारायण जे चरण शरण की तिने न कीजै न्यारो।[3]

भक्त की कितनी ही चरचा जगत क्यों न करे किन्तु वह अपने भगवान के प्रण की रक्षा अवश्य करायगा। उसे पूर्ण विश्वास है कि अपनी रक्षा के लिए न सही, किन्तु अपने प्रण को निभाने के लिये तो उसके प्रभु उसे अवश्य ही अपनायेंगे। यह समय तो भक्तों को अपनाकर उनके तारने का ही है।

पतितन तारिबे की परी।
रह्यो न ठौर कुंज की गलियन पापिन भीर भरी।

---

१ भारतेन्दु ग्रंथावली प्रेम फुलवारी पृ० २०९
२ भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग कृष्ण चरित्र पृ० ६०४
३ व्रजविहार पृ० १५०

लसित किशोरी नींद बिबस सब निशि तें द्वार अरी।
पहिली नजर करी मो मुजरा कलँगी शीस धरी।
राधा गोविन्द पद सरोज रति लपटी धूरि परी।
अब बकसीस ईस मुहिं दीजै वृन्दावन डगरी।[1]

प्रपन्न के प्रभु बड़े शक्तिमान हैं। उन्होंने बंशी के नाद से यमुना के प्रवाह को अंगुलि मात्र से प्रलय घन वर्षा को और तनिक संकेत से उमड़ते हुये सिन्धु को रोक दिया था। उसे इन सब बातों की आवश्यकता नहीं। वह तो अपने अनन्य प्रेम पर विश्वास करता हुआ कहता है कि करुणासागर का करुणाप्रवाह रुक जाय तो मैं जानूँ। यह करुणा प्राप्त होगी किन्तु कैसे? जब आराध्यदेव के स्मरण से उसका हृदय द्रवित हो जायगा, अश्रुजल प्रवाहित होगा और उच्छ्वास चलने लगेंगे, तब यह निधि उसे मिल जायगी। नैया को भव सागर से पार लगाने के लिये यह करुणा का प्रवाह ही तो पतवार का काम करता है। कृत्रिम पतवार से झंझावातों के बीच पार जाना प्रपन्न की दृष्टि में असंभव है।

कितना आश्चर्य है? बिना उस प्रभु की करुणा के मतवाला मन भी तो परास्त न होगा और जब तक यह परास्त नहीं होता, तब तक उद्धार कहाँ? किन्तु करुणा का प्रवाह रुक नहीं सकता। इसके कारण ही तो अधमों के उद्धार में प्रभु की नाम जमी है और भक्त भी इसी के सहारे उनके चरणों का सामीप्य पाना चाहता है, यथा—

राधा रमण चरण जो पाऊँ।
शुक समान दृढ़ कर गहि राखौं नलिनी सम दुलराऊँ।
सौरभजुत मकरंद कमलवर सीतल हिये लगाऊँ।
विरह अगिन दृग तपनि किशोरी सहजे मिरदि नसाऊँ।
—अभिलाष माधुरी पृ० १०१

अपने आराध्य देव के चरणों को प्राप्त कर लेना ही प्रपन्न के प्रपत्ति मार्ग का लक्ष्य है। प्रभु के चरणों का स्पर्श होते ही उसका दग्ध हृदय शीतल हो जाता है और तब वह उन चरणों को फिर नहीं छोड़ता। चरण-ग्रहण के उपरांत दीन का हृदय प्रभु की कृपा कोर के लिये छटपटा उठता है और आँखें निरंतर रूप-सुधा का पान करने के लिये मतवाली हो जाती हैं —

---

१ अभिलाष माधुरी पृष्ठ १००

अँखियाँ रूप-सुधा-मदमाती।
बिन देखें वह जुगल सुघर छवि यह आतुर अकुलातीं।
लागि परीं रति चरन कमल की भव कैसे सचुपातीं।
ललित माधुरी दरसन दीजै काहो को ललचातीं।[1]

दर्शन की शाश्वत लालसा को अपने चित्त में लिये हुए साधक की जो राधा माधव की ओर सदा के लिये लग जाती है संसार का नाता छूट जाता है हृदय में प्रेम की तरंगें उठने लगती हैं और प्रीति में निरंतर परिवर्धन ही होता रहता है—

लगी मो राधा मोहन ओर।
लीनो चरण शरण मम मैंने जग-सूँ नाती तोर।
प्रेम तरंग उठति हिय माँही उमग्यो रस वर ओर।
हीरासखी हित प्रीति बढ़े नित यह विनती हरि मोर।[2]

उपर्युक्त स्थिति तक पहुँचने के लिये मन को निरंतर अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ता है, क्योंकि जब तक समस्त वृत्तियों समेत मन प्रभु के पास नहीं रमता तब तक सच्ची शरणागति नहीं होती। इसलिये अनन्यों ने सदा मन को युगल चरण की आशा में रत होने की शिक्षा दी है यथा—

करि मन युगल चरन की आस।
इन सम हितू और नहिं दूजो तजि सबहिन की पास।
गौर स्याम अलबेली मूरति वृन्दाविपिन निवास।
नित्य विहार निकुंजनि प्रति दिन रास विलास।
यमुना नीर तीर सुखदायक लखि हिय होत हुलास।
भक्त अनन्य रसिक अनुरागत तिन पद रमन प्रकास।
गुल्म लतनि की और सघन तहँ विरमत समत पलास।
हीरासखी यही सुखधन अबमी माँहि प्रकास।[3]

सुरम्य वृन्दाविपिन के मध्य गौर-श्याम की अलबेली मूर्ति का रास विलास, हृदय को आनन्दातिरेक से पूरित करने वाला यमुना का निर्मल जल और निरंतर राधा-माधव के मधुर रस का आस्वाद करने वाले रसिक रूप

१ ललित माधुरी पृ० १११
२ अनुभवरस पृ० १९
३ अनुभव रस पृ० २७१

संपत्ति को यदि इस मन ने न चाहा तो नितांत रूप से यह मूढ़ है। इसी मन को समझाते हुये भक्त कहता है—

रे मन ! सठ तज मूढ़ हठ, भज वृन्दावन चन्द।
सहजहिं दम्पति पाइये नेति बदत जिहि छन्द।
भज मन वृन्दाविपिन घन जो चाहत सुख मूढ़।
अनायास जहाँ पाइये दम्पति रसनिधि गूढ़।
रे मन ! प्रथम सुभाव तजि भजि वृन्दावन एक।
सूकर कूकर होयगो खर कपि जन्म अनेक।
रे मन ! श्री हरिव्यास भजि सकल सुजन को मूल।
श्री राधा-पद पाइये भक्ति सदा शिव फूल।

—किशोरीदास[1]

निःसन्देह वनवीथियों में विचरण करने वाले निश्चिन्त मन के साधकों को प्रपत्तिमार्ग श्रेयस्कर होता है। वे अपना तन-मन अपने इष्टदेव को समर्पण कर ही भगवान की आराधना में रत रहते हैं और कठिनाइयों का अनुभव करते हुये अपने प्रभु से निवेदन करते हैं—

कृपालु नंदनंदन वृषभानु की लली अहो अपनाइये।
मेरी भूल है अनादि भी यह तो बिसारिये।
हो कृपासिन्धु दीनबन्धु गिरते सम्भालिये।
यह दासी स्वामिनी की दासियों में धारिये।[2]

—सर्वेश्वर शरण देवाचार्य

इष्टदेव के समक्ष किये हुये इस निवेदन से प्रपन्न भक्त प्रिय धाम का अधिकारी होता है, जिस में उसके प्रभु के चरण-कमल मकरंद की रस धारा शाश्वत रूप में बरसती रहती है और आह्लादिनी का आह्लाद प्रखर होता रहता है। दास्यासक्ति के अवलम्ब से साधक प्रियधाम निवासिनी अपनी स्वामिनी से उनकी कृपा की याचना करता है। रूप-सुधा को निरन्तर निहारने की कामना व्यक्त करता है—

अहो निकुंज बिहारिनि रानि।
कृपा सँभारि सँभारे रहियो मैं तो अतिहि अयानि।

१ निम्बार्क माधुरी पृ० ११७
२ श्री सर्वेश्वर, वर्ष ७, अंक २, पृ० ६

नयननि में तुव रूप, नाम मुख, मन चरननि रति मानि ।
'नरहरि सखि' अवलोकि ललित मुख फूली हिय न समाति ।[1]
—नरहरि सखि

रूपछवि के पान की शाश्वत लालसा और अपने भगवान को रिझाने की नित्य अभिलाषा ही तो रसिक भक्तों को ब्रजरज को प्राप्त करने के हेतु पागल बना देती है। इस पवित्र रज में लोटते हुये वे श्याम-श्यामा के चरणों के समक्ष त्रिभुवन के राज्य को भी नहीं चाहते। प्रभु की कृपा से अपना निर्वाह करने वाले उन अनन्यों को संसार में कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। वे तो प्रभु से केवल यही कहते हैं —

प्यारे ! अब कुछ और न चाहिय ।
भाँति सबै करि कृपा सुधारेउ अब ऐसेहि निरबाहिय ।
मैं तो तिहारे हाथ बिकानी जानत ही रहि का हिय ।
'ललित प्रिया' आसा ब्रजरज की नेह करौ सौ साहिय ।
—नि० मा० पृ० ११६

शरणागतवत्सल राधा-माधव की यह कृपा साधारण जनों के लिये अति दुर्लभ है। यह तो उसी को प्राप्त होती है, जो ऐश्वर्य को स्वप्नवत् जानकर उसका परित्याग करते हुये अपनी भावना को दृढ़ कर लेता है। साधक के अनन्य चिंतन के संबल से तो मन एकाग्र होकर प्रभु में लग जाता है और तब वह इष्टदेव की कृपा की महत्ता का अनुभव कर पा सकता है—

श्यामा श्याम के गुण गैहौं ।
जासु कृपा भया सुलभ रजु यह फिरि-फिरि सीस चढ़ैहौं ।
× × ×
दम्पति चरन सरोज मंजु मह मन-मधुकर अरुझैहौं ।
'ललितप्रिया' नहि भूलि भरम अब काहू और रिझैहौं ।
होनहार जाई होय सही सोइ बल्लभ केरी कहैहौं ।
—नि० मा० पृ० ११५

---

१ 'ब्रजभारती' वर्ष ११, अंक ६, पृ० ३१
नोट— गोस्वामीचरणदास देवाचार्य का पद का नाम ललितदास का ललितप्पा की छाप का यही पद पर प्राप्त है।

छठा अध्याय

हिन्दी कृष्ण काव्येतर अन्य माधुर्य उपासनायें

हिन्दी कृष्ण काव्येतर अन्य माधुर्य उपासनाएँ

ज्ञानाश्रयी साधकों में माधुर्य

जीवन में जिस दिव्य संयोग की कल्पना ज्ञानाश्रित संत कवियों ने की, उसमें निस्सन्देह अमरत्व का संदेश निहित है। एक अलौकिक आतुरता के साथ प्रियतम के उस संयोग को प्राप्त करने के हेतु इस परम्परा के साधकों के हृदय में प्रेम का स्फुरण तथा परिवर्द्धन होता है। वहाँ साधक की समस्त वृत्तियों का समन्वय होकर उसके हृदय में एकमात्र प्रियतम को प्राप्त करने की लालसा जाग उठती है और वह इस संसार से बहुत ऊपर उस दिव्य लोक में पहुंच जाता है जहाँ धूप चन्द्र के बिना ही निरंतर प्रकाश हुआ करता है। शाश्वत प्रकाश के बीच उसकी आत्मा ज्योतिमान हो उठती है और तब साधक और साध्य का पता नहीं चल पाता है। यह आत्मा रूपी स्त्री परमात्मा रूपी प्रियतम का जब तक सान्निध्य प्राप्त नहीं कर लेती तब तक उसकी अपूर्णावस्था रहती है और वह अपने प्यारे के मधुर मिलन के लिये निरंतर आकुल रहकर उसकी याद में तड़पती रहती है। निर्गुण भक्ति धारा के साधकों ने इस आकुलता का जैसा वर्णन अपने काव्य में किया है निश्चित ही भक्ति साहित्य में वह बेजोड़ है। संतों की यह आकुलता ही माधुर्य का रस-सागर है, जिसमें संसार के समस्त बन्धन समाप्त हो जाते हैं और सनातन सम्बन्ध मधुरतम होकर दृष्टिगोचर होने लगता है।

"तात्त्विक दृष्टि से प्रभु निर्गुण एवं सगुण दोनों ही है। प्राकृत गुणों से विहीन होने के कारण वह निर्गुण और स्वीय गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण है।"[1] जहाँ तक भक्ति अथवा उपासना का सम्बन्ध है,

---

१ डा० मुंशीराम शर्मा—भक्ति का विकास पृ० ८१०

स्पष्ट है कि जब तक द्वैत की स्थिति साधक और साध्य रूपा न होगी तब तक भक्ति नहीं हो सकती। ज्ञानाश्रयी साधकों ने साधना की इस कठिनाई का अनुभव किया था और तब अपने प्रेम के अवलम्ब से उस निर्गुण को सगुण बनाकर उससे प्रेम किया था। ये ज्ञानी संत कहने को तो निर्गुणमार्गी थे, किन्तु इनकी साधना सगुण वैष्णवों की भाँति ही होती थी यद्यपि इनकी उपासना में पूजा के बाह्य साधनों का प्रयोग न था। सगुण वैष्णवों की प्रेमा भक्ति का उन पर पूरा-पूरा प्रभाव था इसीलिये इन्होंने भाव भक्ति को अपनाकर तप, जप संयम तीर्थस्नानादि बाह्य साधनों को छोड़ दिया था। इस भाव भक्ति के सहारे इन्होंने अपने मन को इतना सराबोर कर रखा था कि वह सांसारिक विषयों से पूर्णत विरक्त रहकर प्रभु के शाश्वत रूप-माधुर्य का पान करने में संलग्न रहे।

जिस प्रेमाभक्ति से नारदादि[१] उस परम प्रभु का निरंतर चिन्तन करते थे, कबीर आदि संतों ने भी उसी प्रणाली को अपना कर गोविन्द[२] माधव को अपना इष्टदेव माना था और गोपियों की भाँति ही उस प्रियतम के प्रेम में पागल होकर झूम उठे थे।[३] इस प्रकार नारद के प्रभु और गोपियों के गोविन्द कबीर आदि संतों के पति परमात्मा थे—इन्ही परमात्म-पति ने अपनी संत रूप प्रियाओं के साथ रमण करके "राम" की संज्ञा प्राप्त की थी। इसक प्रेम रस के खुमार का प्रभाव इन्हीं साधकों ने समझा था और मतवाले होकर सब कुछ भूल गये थे[४]। ऐसे प्रेमी को सभी प्यार करते हैं। जिस

१ भगति नारदी मगन सरीरा।
इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥२७८॥
—कबीर ग्रंथावली (ना०प्र०स०) पृ०१८१

२ हमरा मन माधव गोविन्द परमेसर इहु सार मन कहिये।
जो गुरु प्रभु गोविन्द की सेवा सो गुप्त राम न सहिये।
—वही, पृ०२६४

३ प्रेमाधीना छाकया डोले क्यों का क्यों ही वानी बोले।
जैसे गोपी भूली देहा ताको चाहे वासो नेहा।
—सुन्दरदास, संतसुधासार पृ०२७७

४ हरि रस पीया जानिये, जे कबहु न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै नाहीं तन की सार ॥८॥
—कबीर ग्रंथावली पृ०११

प्रकार स्त्री अपने प्रियतम के अभाव में शृंगार करना भूल जाती है उसी प्रकार ये संत उस निराकार के स्नेह को भुलाकर सब कुछ भूल जाते हैं[1] और कहने लगते हैं कि 'हे वृन्दावन में गायों को चराने वाले मनहरण कृष्ण! तुम्हीं तो मेरे स्वामी हो, कबीर तेरा ही दास है। हे कमल को धारण करने वाले! तुम्हारे ही स्वरूप को देखकर तो गोपियां मोहित हो गई थीं, अस्तु मेरा मन भी तुम्हारे चरणों में लग गया है। कबीर की यह बेचैनी ठीक वैसी ही है जैसी श्यामसुन्दर के प्रति वृन्दावन की व्रजवासिनियों की थी। काशी में रहते हुये भी कबीर के हृदय में अपने उसी परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम था जो वृन्दावन में रहता है।[2] रूप के आकर्षण ने उनकी आँखों को विवश कर दिया था उस मनमोहन को अपने भीतर छिपा लेने के लिए[3] और हाथों को विवश कर दिया था उनकी सेवा करने के लिये! इन साधकों का यह विश्वास है कि मुरारी उसी के साथ रमण करते हैं, जो उनकी निरंतर सेवा का व्रत लेता है।[4] समस्त साधनाओं से ऊपर माधुर्य रस में अवगाहन करने वालों को ही इस पद का महत्व ज्ञात है, तभी तो वे बिना

---

१ जैसे नारी नाह बिन भूली सकल सिंगार।
त्यूं रज्जब भूला सकल सुनि सनेह दिलदार।
—रज्जब-संत सु०पृ०१९६

२ आप पास धन तुलसी का बिरवा माँझ बनारस गाउँ रे।
ताका सरूप देखि मोही ग्वालनि मोको छोड़ि न आव न जाहु रे।
तोहि चरन मन लागो सारिंगधर सो मिलै जो बड़भागी।
वृन्दावन मनहरन मनोहर कृष्ण चरावत गाउ रे।
जाका ठाकुर तुही सारिंगधर मोहि कबीरा नाउ रे।
—कबीर ग्रंथावली (ना०प्र०स०) पृ०२९९

३ नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
नां हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउं।
—कबीर ग्रंथावली पृ०१९

४ कहै कबीर हरि गुण गाइ लै सतसंगति रिदा मंझारि।
जो सेवग सेवा करै ता संगि रमै मुरारि।
—वही पृष्ठ १२७

जाति पाँति की चिंता किये हुये लज्जा को दूर भगाकर आठ याम अपने प्रियतम का ध्यान अपने हृदय में रखते हुये, अत्यंत गोप्य रीति से साधना रूपी गोकुल के निराले मार्ग पर प्राणनाथ से मिलने के लिये बेधड़क चले जाते हैं। मधुर प्रेम के इस प्रशस्त पथ पर चलने वाले के पास न तो सांसारिक मैं-तुम का भेद रहता है और न अन्य बाह्याडम्बरों का ध्यान।[1] इस प्रशस्त पथ पर चलते चलते साधक को वह स्वर्ण अवसर प्राप्त हो जाता है, जब वह अपने प्राणप्यारे को अपने सामने देखता है और आनंद में तन्मय होकर कह उठता है—

> अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे।
> ज्यौं भावै त्यूं होहु हमारे।
> बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े घरि बैठे आये।
> चरननि लागि करौं बरियाई प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
> इत मन-मंदिर रहौ नित चोषै कहै कबीर परहु मति धोखै।
>
> —कबीर ग्रंथावली पृ० ८७

इनके प्राणप्रियतम प्रभु कभी तो उनकी आत्मा में रमण करते हैं और कभी उनके नैनों के समक्ष अपने रूप-माधुर्य का पान कराते हैं। ये प्रभु ध्यान मग्न इन संतों के हृदय रूपी मन्दिर से जब क्षण भर के लिये भी अदृश्य हो जाते हैं तो ये प्रेमी वियोग की अग्नि में तपने लगते हैं और जब पुनः उनकी झाँकी का दर्शन होता है तो ये आनन्द-विभोर हो उठते हैं—

---

१ प्रीति की रीति नहीं कछु राखत जाति न पाँति नहीं कुल-गारो।
प्रेम के नेम कहूँ नहिं दीसत लाज न कानि लग्यो सब खारो।
लीन भयो हरि सौं अभिअंतर आठहु जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह गोकुल गाँव को पैंडो ही न्यारो ॥१॥

इन्द्र बिना विचरै वसुधा परि जा घट आतम ज्ञान अपारो।
काम न क्रोध न लोभ न मोह न राग न दोष न म्हारो न थारो।
योग न भोग न त्याग न संग्रह देह दशा न ढाँको न उघारो।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह गोकुल गाँव को पैंडो ही न्यारो ॥२॥

—संत सुधासार पृ० ६११

अब घर पाया हो मोहन प्यारा।
सखी अचानक अज अविनासी उघरि गये हम तारा।
भ्रमि रह्यो मेरे आँगन में, टरत नहीं कहुँ टारा।
रोम रोम हिय माँही बसा, होत नहीं छिन न्यारा।
भयी अचरज "चरनदास" न पैये खोज कियो बहुबारा।

— संत सुधासार द्वि० खं० पृ० १२७

संतों के इस अविनाशी मोहन प्यारे के रूप रस का पान प्रत्येक के नेत्रों का काम नहीं। वह तो उन्हीं दिव्य नेत्रों को होता है जो प्रेम के अंजन से अँजे हुए होकर चमकते हैं। इन मधुर नेत्रों के द्वार से ही वह अविनाशी मोहन संतों के हृदय निकुंज में आकर बैठ जाता है और फिर निकाले नहीं निकलता। गोपियों के साथ रमण करने वाला मोहन इन प्रेमी संतों की आत्मा के साथ उसी प्रकार का संयोग सुख लेता देता है जैसा वृन्दावन के निकुंजों में लेता था। इस निकुंज में सदा वसन्त रहता है और सदा कामिनी कंत के विलास का कौतूहल भी। प्रेम में तन्मय संतात्मारूपी प्रियाओं के बंधन में बँध जाना यही उसके लिये स्वाभाविक है। मनमोहन प्यारे के इस संयोग में किसी अन्य के अवलम्ब की अपेक्षा नहीं होती। साधक अपनी प्रेम-साधना में निरंतर रत रहकर इन्हें प्राप्त कर लेता है और तब उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। वह मगमगान करता है, रस-सुधा का पान करता है और अपने प्रमादमान हृदय निकुंज में अपने प्रभु के साथ रमण का सुख प्राप्त करते हुये कहने लगता है—

बहुत दिनन थें मैं प्रीतम पाये।
भाग बड़े घरि बैठें आये।
मंगलाचार माँहि मन राखौं, राम रसाँइण रसना चाषौं।
मंदिर माँहि भया उजियारा, ले सूती अपना पिय प्यारा।
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हीं, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हों।

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ८७

इस प्रकार कृष्ण भक्तों की भाँति अपने हृदय में किशोरी भाव का अनुभव करते हुए ये संतात्मारूपी प्रियायें अपने सौभाग्य की सराहना करती हुई अपने को धन्य समझती हैं। जिस प्रकार नन्दनन्दन कृष्ण रास क्रीड़ा का रसास्वाद कराते कराते वृन्दावन के निकुंज-अजिर से अदृश्य होकर विरहिनि

से अपनी गोपियों तथा प्रेमियों को तपाकर कुन्दन बना देते हैं, वैसा ही यहाँ भी होता है। संतों के हृदय-निकुंज से निकल कर जब वे माधुर्यमूर्ति अपने भक्तों को अपनी विशेष लीला का आस्वादन कराते हुये उनकी छवि का अनुराग होकर अवलोकन करते हैं, तो नित्य रमण करने वाली संतात्मा वियोग से अत्यंत दुखी होकर कहने लगती है—

कहा करौं कैसे मिलै रे, तलपै मेरा जीव।
दादू आतुर विरहनी कारण अपने पीव।

—संत सुधा॰ पृ॰ ४२१

विरह की इस पीर को या तो देने वाला ही जानता है या सहने वाला। इस पीर से संतजनों के प्रियायें भी जर्जर हो जाती हैं और निरंतर अपने साथ रमण करने वाले राम को पुकारती हुई उन्हें संदेश के द्वारा अपनी विरहावस्था से अवगत कराने की दृष्टि से कहती हैं—

दादू विरह न सह सकौं, मो पै रह्या न जाई।
कोई कहो मेरे पीव को, दरस दिखावै आई।

— संत सुधा॰ पृ॰ ४२९

वियोग से व्यथित इन साधकों की आत्मा को प्रकृति का सौन्दर्य वैसे ही काट-काट खाता है जैसे सूर आदि की गोपियों को कृष्ण के बिछुड़ जाने पर खाने पड़ता था। इस स्थिति में जैसे-जैसे उन्हें अपने प्रियतम के साथ अनुभव होने वाले संयोग-सुख की याद आती है वैसे ही वैसे वे विरहाग्नि में दग्ध होने लगती हैं यथा—

जब जब सुरति आवती मन में तब तब विरह-अनल पर जारै।
नैननि देखौं बैन सुनौं कब यह वेदन जिय मारै।
चातग मोर कोकिला बोलत मानों करवत मदन-सिर सारै।
पावस रितु रंगति सब वसुधा दारुन दुख उर दीनी धारै।
चन्दन चन्द सुगंध सहित सबहों, मानों अर्क मुकंमम कारै।
सुन री सखी यह विपत हमारी, बिन दरसन अति विरहा जारै।
गरीबदास, सुख तबहीं लेवौ जबहीं जोति ही जोति निहारै।

—संत सुधासार पृ॰ ५ ५

संतों की धारणा है कि बिना उस प्रियतम को रिझाये उसका दर्शन मिलना दुर्लभ है। उनका कथन है कि रिझाने की यह विधि यदि जान ली

नहीं होती तो न तो यह दुख ही उठाना पड़ता और न यह जीवन ऐसे ही व्यतीत हो जाता—

> जिस बिधि पीव रिझाइये, सो बिधि जानी नाहिं ।
> जोबन जाइ उतावला सुन्दर यहु दुख माँहि ।
>
> —संत सुधासार पृ० ६११

अपने आराध्य प्रियतम के दर्शनों के लिये तड़पती हुई भक्तों की आत्मा की आकुलता निरंतर बढ़ती ही जाती है । प्रतीक्षा करते-करते आँखों में झाँईं पड़ गई और पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये, किन्तु प्यारे प्रभु का पुन दर्शन नहीं होता । प्राण भी तो नहीं निकलता ! पता नहीं वे चितचोर रस पान कराने के बाद कहाँ चले गये—

> अजहूँ न निकस प्राण कठोर ।
> दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर ।
> चारि पहर चार्‌यौ जुग बीते, रैनि गँवाई भोर ।
> अवधि गई अजहूँ नहिं आये, कितहूँ रहे चितचोर ।
> कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर ।
> दादू ऐसें आतुर बिरहणि जैसें चन्द चकोर ।
>
> —संत सुधासार पृ० ४२६

सच्चा भक्त अपने आराध्य की अनुपस्थिति में कभी हताश नहीं होता । उसका आशावलम्बन इतना सुदृढ़ है कि एक-मात्र उसी के सहारे वह अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देता है । भक्तों की आशा ही तो उनके जीवन का परम स्वाद है रस है । इस आशा की धुरी है उनका अपना अटूट विश्वास । संत कवि सुन्दरदास की निम्नांकित पंक्तियाँ उसी विश्वास को व्यक्त करती हैं—

> सुन्दर और कछू नहीं एक बिना भगवंत ।
> ताकौं पतिव्रत राखिये, टरि कहै सब संत ।
>
> —संत सुधासार पृ० ६१७

रस-भावना के पातिव्रत्य का पालन करते हुए इन रसिकों ने भी एक निष्ठ होकर मनहरण प्रियतम की उपासना की और अपने मोहन नंदकिशोर में परमात्मा का चमत्कार लक्षित किया । इन्हीं प्रिय प्रभु से उनकी लगन चकोर की भाँति लग गई, जिसे वे ही गुन सकते थे—

तुम ही सूँ टेका लगी जैसे चन्द्र चकोर।
अब कासूँ सथा करौ मोहन नंदकिसोर।

—संत सुधासार द्वि० खं० पृ० २०८

हृदय में विराजित प्रेम की यह लगन इन ज्ञानी साधकों को विह्वल बनाकर उनके नैनों में झलकती है। इसके कारण वे रसमत्त हो जाते हैं और अपने प्राणनाथ के चरणों को पकड़ने के लिये आकुल हो जाते हैं। उन्होंने अपना सर्वस्व अपने प्रभु को समर्पित कर दिया है क्योंकि उनकी मान्यता है कि जो कुछ उनके पास है उसके एक-मात्र स्वामी, उनके आराध्य प्रियतम ही हैं, अतः उनको उनकी वस्तु का समर्पण होना ही चाहिये।[1] गोपियों के समान उत्कृष्ट आत्मसमर्पण की भावना से सराबोर ये साधक दिन रात उस आत्माराम को नहीं भूलते और यही कहते हैं—

प्राणपति न आये हो विरहिण अति बेहाल।
बिन देखे अब जीव जातु है बिलम न कीजै लाल।
विरहिणि व्याकुल केसवा निसदिन दुखी बिहाइ।
जैसे चंद कुमोदिनी बिन देखे कुमिलाइ।
छिन छिन दुखिया दरधिये, बिरह बिथा तन पीर।
घरी पलक में विनशिये, ज्यूँ मछरी बिन नीर।
पीव-पीव टेरत दिन भई स्वाति सुरूमी भाव।
सागर सलिता सब भरे, परि चातिग कै नाहिं चाव।
दीन दुखी दीदार बिन "रज्जब" धन बेहाल।
दरस दया करि दीजिये, तौ निकसै सब साल।

—संत सुधासार पृ० ५१७

वियोग को परिलक्षित करने वाली प्रायः सभी दशाओं से ये रसिक व्यथित हो रहे हैं। लाल को देखने की लालसा से ही उनका प्राण अभी तक अटका है। केशव की याद में अब वे अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते। प्राणनाथ को टेरते-टेरते बहुत समय व्यतीत हो गया किन्तु दर्शन की आशा अब भी लगी है। उनके नैन हरि के साक्षात्कार के मधुर रस का पान

---

१ मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मेरा।

—कबीर ग्रन्थावली पृ० १९

करने के लिये निरंतर तरसते रहते हैं, चित्त की शांति खो जाती है और शरीर वियोग के कारण सूख जाता है—

माइ हो हरि-दरसन की आस !
कब देखौं मेरा प्रान-सनेही, नैन मरत दोउ प्यास ।
पल छिन आध घरी नहिं बिसरौं सुमिरत सास उसास ।
घर बाहर मोंहि कल न परत है निसदिन रहत उदास ।
मई साच सोचत मोहि सजनी, सूकै रगतरु मांस ।
"सुन्दर" बिरहिन कैसे जीवै, बिरह बिथा तन त्रास ।

—संत सुधासार पृ० ६३१

प्रियतम के मधुर संयोग का रस जिसने एक बार भी लिया फिर वह सदा के लिये मतवाला हो जाता है। इस रस का पान करने के हेतु अनेक बाधाओं के होते हुए भी रसिक साधी बार-बार अपने प्रिय को पुकारता हुआ रहता है—

रतिवन्ती आरति करै, राम सनेही आव ।
दादू औसर अब मिलै यहु बिरहिन का भाव ।

—संत सुधासार पृ० ४२७

विरहिन के भाव को हृदयंगम करना जितना कठिन है, उससे कहीं अधिक कठिन कार्य है उसके प्यारे प्रभु के रहस्य को जानना। इसीलिये रसिकों ने ज्ञान से अपनी अल्पज्ञता को नाप कर प्रेम से अपने प्रभु को सर्वस्व सौंप दिया था और हृदय में उनकी रहस्यमयता का अनुभव वसुंधरा के विशाल निर्माण को देखकर कर लिया था। जिस मधुर उपासना के अवलम्ब से अपने रहस्यमय प्रभु एवं पिया को पाने की चेष्टा इन संतों ने की उसमें विरह के तीव्र निवेदन के साथ तन्मयता और अनुराग की प्रबलता विद्यमान है। उनकी इस उपासना में प्रियतम को सुख देने एवं प्रसन्न करने की भावना का समावेश है स्वयं की कामनातृप्ति का अवकाश नहीं। अपनी इस साधना में संतों ने गोपियों के प्रेम धर्म का अनुसरण तो किया किन्तु सूर आदि कृष्ण भक्तों की भाँति गोपियों के माध्यम से अपने भावों को प्रकट करने की पद्धति नहीं अपनाई। ये लोग अपनी भावाभिव्यंजना तथा उपासना के स्वयं ही माध्यम थे। हाँ एक बात अवश्य रही कि इष्टदेव के रूपमान संयोग-वियोग के अभाव में रस की दशाओं का प्रमाणीकरण न हो सका। ध्यान देने की बात यह भी है कि कृष्ण भक्तों के मधुर काव्य में जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में मतवाली

होकर विरह-व्यथित हो जाती हैं और कृष्ण राधिका के वियोग में, इस प्रकार का दृश्य संत काव्य में नहीं दिखाई देता। अपने भक्त के विरह में व्याकुल भगवान की भावना का भी यदि थोड़ा सा चित्रण ये संत कर सकते तो निस्संदेह अभिव्यंजना की दृष्टि से (उपासना की दृष्टि से नहीं) इनका काव्य अधिक मधुर होता वैसे इनके मधुर प्रेम में किसी प्रकार की कसर नहीं दिखलाई देती। इस माधुर्य के कारण ही इनके युग में चमचमाती हुई तलवारें फौरन म्यान में चली गई थीं। कोटि बरस तक किसी का जीना संभव नहीं हुआ और न इस लोक में किसी का अमर पद पाना ही बड़ा महत्वपूर्ण रहा, इसीलिये इन संतों ने समाज को, नित्य रमण करने वाले प्रियतम से प्रेम करने का उपदेश किया और कहा जीवन की सफलता इसी में है—

कोटि बरस क्या जीवणां अमर भये क्या होय।
प्रेम भगति रस राम बिन का दादू जीवनि सोय।।

—संत सुधासार पृ० ४७२

प्रेमाश्रयी साधकों में माधुर्य

ज्ञानियों के ब्रह्म में योगियों के परमात्मा में और भक्तों के भगवान में परम सौन्दर्य के कारण जैसा आकर्षण विद्यमान है प्रेमाश्रयी साधकों के 'प्रिय" में उससे कम दृष्टिगोचर नहीं होता। ये प्रेमाश्रयी साधक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत 'सूफी संत' नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सूफी ही उजड़ी हुई बस्तियों को बसाते हुए जन-जन के हृदय में प्रेम का बीज बोते हुये अपने उस प्रिय प्रभु को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, जो नित्य सौन्दर्यवान एवं आनन्द का सागर है। पृथ्वी और आकाश का कण-कण इसी के तेज से प्रकाशमान होकर गतिशील होता है। इन प्रेमियों का यह इष्टदेव तो उस पारस के समान है, जो सभी को कुन्दन बनाने की क्षमता रखता है। सूफियों की दृष्टि में प्रेम ही उस प्रिय को प्राप्त करने का एक-मात्र अवलम्ब है। कृष्ण भक्तों के इष्ट की भांति सूफियों का आराध्य प्रिय भी चितचोर रूप से युक्त है। अपने उस अव्यक्त प्रिय की छाया को इन्होंने परम आभामयी एवं पवित्र संपन्ना नारी में देखा और उसके संयोग को पाकर परम माधुर्य का रसास्वादन किया। प्राचीन सूफियों में बहुत संयोगी इस प्रिय के संयोग का कोई बाह्य माध्यम न था और इन्होंने इसके एकान्त दिव्य मिलन का अनुभव करते हुये सांसारिक

वस्तुओं से अपनी आँखें बिलकुल मोड़ ली थीं।¹ किन्तु जायसी की साधना ने प्रेम की शक्ति से सांसारिक पति-पत्नी के संयोग में परमात्मा आत्मा के मधुर मिलन की झाँकी को प्रत्यक्ष करते हुए प्रेम मार्गियों को एक नई दिशा भी दी और प्रेम के अलौकिक आदर्श का प्रतिपादन भी किया। सांसारिकता से प्रेमी का सम्बन्ध न होने के कारण इन प्रेमियों ने संसार को उस परम प्रभु के प्रेम का प्रसार ही मान लिया और भगवत्-प्रेम में सराबोर हो गये। इन सूफी भक्तों की दृष्टि में साध्य भी वही प्रेम है और साधन भी। इस प्रेम के कारण अम्ल, मधुर अरूप रूपवान, ताम्र स्वर्ण अग्नि प्रकाश, दुःख आनन्द, सूली सिंहासन, काँटा फूल, और मृत्यु जीवन बन जाता है। कितना सामर्थ्यवान है यह प्रेम, जिसने जड़ को चेतन और शुष्क को सरस बनाकर रस सागर में डुबो दिया। गोपियाँ इसी प्रेम में मतवाली हो गई थीं और राधा ने इसी प्रेम से श्याम सुन्दर के हृदय को जीतकर उनका नित्य संयोग प्राप्त कर लिया था। भला प्रेममार्गियों से यह बातें छिपी रह सकती हैं! उन्हें इसका सब रहस्य पूर्व से ही ज्ञात रहता है और तभी वे अपने लक्ष्य (प्यारे प्रभु) को पाने के लिये इसी प्रेम के मार्ग पर बेधड़क चलते हैं। उनका तो यह अटल विश्वास है कि जिस प्रेम ने उन्हें इस जगत में लाकर छोड़ा है वही प्रेम उन्हें उस स्थान पर भी ले जायेगा जहाँ उनका परम रूपवान प्यारा रहता है²। रामानुजा भक्ति

---

1 'It is true that in the experience of union with God, there is no room for a mediator Here the absolute divine unity is realised and of course we find especially among the ancient sufis a feeling that God must be the sole object of adoration that any regard for other objects is an offence against him

"The Idea of Personality in Sufism Page 62

2 Sufis take the course af love and devotion to accomplish their highest aim because it is love which has brought man from the world of unity to the world of variety and the same force again can take him to the world of unity from that of variety

—Sufi Message By Proff. Inayet Khan Q. in P. 56 Kabir ka Rahasyavad.

की भाँति यह प्रभुप्रेम लोक-मर्यादा की चिंता से दूर भगवत् पक्ष की मधुर साधना का चित्र खींच देता है। पद्मावत में, प्रेममार्गी रसिक जायसी का यह ईश्वरोन्मुख प्रेम, अपनी सम्पूर्ण छवि के साथ उपस्थित हुआ है और प्रियतम के प्रेम में वशीभूत उनकी आत्मा प्रारंभ से ही अपने प्यारे के वियोग में तड़पती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार 'जायसी की उपासना' माधुर्य भाव से प्रेमी और प्रिय के भाव से है।[1] प्रियतम के इस पूर्ण सम्बन्ध के आधार के ही कारण प्रेमाश्रितों की इस साधना की विशेष महत्ता है। जिस प्रेम गाथा के सहारे जायसी ने अपने प्रेम सिद्धान्तों का प्रचार किया, उसका एकमात्र कारण था अपनी साधना को मधुर रूप में उपस्थित करना। यह प्रेम गाथा केवल दिखावा है, किन्तु इसके अन्तर में परमसंतोषी प्रभु के संतोष की अपार रसराशि छिपी है। प्रेमाश्रित भक्तों की भाँति जिसके हृदय में उसे पाने की टीस उत्पन्न हो जाय, वही सच्चा साधक है और वही उसे प्राप्त भी कर सकता है। साधक का अहं यहीं समाप्त हो जाता है और प्रिय-दर्शन की उत्कट अभिलाषा का उदय हो जाता है। दर्शनों की यह लालसा उसके हृदय में मिलन की आकुलता को पैदा कर हृदय में सर्वस्व त्याग की भावना का समावेश कर देती है। कृष्णभक्ति रस मधुरिमा का आस्वाद करने के लिये इसी कारण विरक्त हो गये थे। पद्मावत काव्य का रत्नसेन भी उस माधुर्य को प्राप्त करने के लिये संसार के समस्त बंधनों को छोड़कर जोगी बन जाता है और प्रेम-पथ की विघ्न बाधाओं की चिंता न करते हुए प्रिय-मिलन के हेतु चल पड़ता है। संसार में इस समय सिवा उस प्रियतम के प्रेम के राजा को कुछ नहीं दिखाई देता—

तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
पेम छाँडि नहिं लोन किछु जो देखा मन बूझि।

—जायसी ग्रंथावली पद्मावत-राजा सुआ सम्वाद खंड पृ०१९

रत्नसेनरूपी भक्त ने बड़े विश्वास के साथ अपने को प्रेम के समुद्र में डाला था और कहा था—

प्रेम समुद्र जो अति अवगाहा। जहाँ न वार न पार न थाहा॥
जो एहि खीर-समुद्र महँ परे। जीव गँवाइ हंस होइ तरे॥

—वही, राजा—गजपति सं०ख०पृ०६०

---

१ जायसी ग्रंथावली—भूमिका पृ० १११—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

किन्तु उद्धार तो उसी का होता है जो इस प्रेम के समुद्र को नाँघ जाता है। इसे लाँघने पर अमरावती के समस्त सुख प्राप्त हो जाते हैं। रत्नसेन ने तो उसी समुद्र में अपनी नौका उतारी थी, जो प्रेम-समुद्र का अंग मात्र है। ऐसे प्रेमी को न तो स्वर्ग की चाह है और न नरक की चिंता। उसका तो एक मात्र लक्ष्य है—प्रेम-मार्ग पर जाने वाले प्रिय का संयोग प्राप्त करना।[1] स्वर्ग को तुच्छ समझने वाली और मोक्ष का तिरस्कार करने वाली कृष्ण की गोपियों की निष्ठा के समान निष्ठा को अपने हृदय में धारण कर रसिक योगी (रत्नसेन, आत्मा से परमात्मा के संयोग के हेतु जाता है। प्रेम की पवित्रता और पद्मावती का ईश्वरत्व जायसी के इस प्रेम-काव्य में इसीलिये स्वतः सिद्ध है। जायसी को इस प्रेम को लेकर भगवत्पक्ष में भी बढ़ाना था। ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय पहले भक्त के हृदय में होता है। ज्यों ज्यों यह प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों भगवान की कृपा-दृष्टि भी होती जाती है यहाँ तक कि पूर्ण प्रेम दशा को प्राप्त भक्त भगवान को भी प्रिय हो जाता है, प्रेमी होकर प्रिय होने की पद्धति भक्तों की है। भक्ति की साधना का क्रम यही है कि पहले भगवान हमें प्रिय लगें पीछे अपने प्रेम के प्रभाव से हम भी भगवान को प्रिय लगने लगेंगे।[2] इस दृष्टि से परम प्रेमी जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती की सृष्टि की थी। दोनों एक दूसरे के प्रेमी और प्रिय हैं। जैसे प्राप्त करने के लिये रत्नसेन योगी हुआ था। जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है)। यह योग आत्मिक था। यहाँ भगवान भक्त के लिये समान है और भक्त भगवान के लिए। रत्नसेन पद्मावती को ईश्वर मानता है और पद्मावती रत्नसेन को। दोनों दोनों को प्राप्त करने के हेतु माधुर्यरस-सरिता में बहते रहते हैं। सिंहल द्वीप खंड में रत्नसेन से भेंट होने पर स्वयं शंकर जी ने पद्मावती के ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया है और कहा है कि पद्मावती का निवास स्थान वहाँ है जहाँ न तो भौंरा जा सकता है और न किसी पक्षी का ही प्रवेश हो सकता है। शंकर जी के निर्देशात्मक सिद्धि गुटके से ही रत्नसेन वहाँ पहुँचकर उसका दर्शन प्राप्त कर सकता है और तब दिव्य संयोग।[3]

---

१ जायसी ग्रंथावली पद्मावत—सात समुद्र खंड पृ० ६६

२ जायसी ग्रंथावली पद्मावत—भूमिका पृ० ५४

३ कहाँ देख पद्मावति रामा। भौंर न जाइ न पंखी नामा।
अब तोहि देउँ सिद्धि एक जोगू। पहिले दरस होइ तब भोगू।
—जायसी ग्रंथावली—सिंहलद्वीप खंड पृ० ६६

इधर पद्मावती स्वयं रत्नसेन को पत्रिका भेजते हुये जो लिखती है, उससे भी उसका ईश्वरत्व कवि की दृष्टि में सिद्ध हुआ है।[1] इतना सब होते हुये भी पद्मावती अपने पत्र में लिखती हुई कहती है कि—

आवहु सामि सुलच्छना, जीव बसै तुम्ह नांव।
नैनहिं भीतर पंथ है, हिरदय भीतर ठांव।

—जायसी ग्रंथावली—राजा गढ़छेंका खंड, पृ० १०१

रत्नसेन की तरह पद्मावती का प्रेम भी प्रबल है उसके नेत्र उसके प्रियतम के लिए प्रवेश-द्वार हैं और हृदय उसके प्रियतम का निवास-स्थल। इस रमणीय स्थल पर वह अपने स्वामी को आने आग्रह का करती है। इस पद्मावती ने जब तक अपने प्रभु का नाम नहीं सुना था, तब तक किसी पीर का अनुभव नहीं किया था, किन्तु प्रियतम का नाम सुनते ही उसका धैर्य छूट जाता है और वह भी उसी प्रकार व्याकुल होती है, जिस प्रकार रत्नसेन। कृष्ण भक्ति के रसिक संतों ने भी राधा-कृष्ण की इस आकुलता का बड़ा सरस वर्णन प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार चन्द्रमा को देखने वाली चकोर की सारी वृत्तियां प्रिय में एकाग्र हो जाती हैं उसी प्रकार रत्नसेन की वृत्ति पद्मावती में और पद्मावती की रत्नसेन में दृष्टिगोचर होती हैं। जायसी का विश्वास है कि प्रेम के पंथ के पार दिव्य लोक में प्रियतम का सामीप्य जिसने प्राप्त कर लिया उसका संयोग नित्य है। उस उत्तम कैलास में ही आनंद का निवास है और अमरत्व का भी, यथा—

प्रेम पंथ जो पहुँचै पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥
तेहि पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख-वासू॥

—बोहित खंड (जायसी ग्रंथावली) पृ० ६२

रत्नसेन ने उस उत्तम कैलास में पहुँचकर जब प्रिय के आमंत्रण का (हीरामन तोते के द्वारा लाया हुआ पत्र) पत्र पाया, तो वह आनन्दविभोर हो गया और कहने लगा—

जहाँ पिरीतम वै बसहिं, यह जिउ बलि तेहि बाट।
वह जो बोलावै पाँव सौं, हौं तहँ चलौं लिलाट।

—राजा गढ़छेंका खंड (जायसी ग्रंथावली) पृ०१०१

---

१ हौं रानी पद्मावती सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं मैं तेहि के प्रथम करै अपनास।
—जायसी ग्रंथावली–राजागढ़छेंका खंड पृ० १००

इधर तो प्रेमी अपने प्रिय के निकट मस्तक के बल जाने के लिये तैयार है और उधर प्रिय अपने प्रेमी के वियोग में बेहाल है। पद्मावती को अब एक-एक क्षण युग के समान बीत रहा है। प्रिय मिलन के अभाव में उसका सारा शरीर व्याकुल है। विरह ने काल का सा रूप बनाकर उसके शरीर को जीर्ण शीर्ण करना प्रारंभ कर दिया है। सखियाँ पद्मावती की इस विरहाकुल अवस्था को देखकर अत्यंत दुखी हैं किन्तु—

बिरह काल होइ हिये पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा॥
खिनहिं मौन बाँधे खिन खोला। गही जीभ मुख आव न बोला॥
खिनहिं बेझि के बानन्ह मारा। कँपि कँपि नारि मरै बेकरारा॥
कैसेहु बिरह न छाँड़ै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहूँ दिसि रोवहिं, अंधर धरति अकास।

—जायसी ग्रंथावली—रामचन्द्र शुक्ल सं० पृ० १०७

चन्द्रमुखी पद्मावती को राहु रूपी विरह ने ग्रसित कर मृत तुल्य कर दिया। प्रीति की लता में बंधी हुई पद्मिनी विवश है। प्रेमाश्रित जायसी की धारणा है कि प्रीति-लता में फँस कर दुख उठाने वाले को ही प्रियतम की प्राप्ति होती है और तब उसी के द्वारा माधुर्य रस का पान भी। यथा—

प्रीति बेलि उरझी जब तब सुझाइ सुख-साख।
मिलै पीरीतम आइकै दाख-बेलि रस चाख।

—जायसी ग्रंथावली—रामचन्द्र शुक्ल सं० पृ० १०८

सूफी संत कवियों में प्रिय-विरह की भावना अत्यधिक तीव्र है। विरह ही उनकी साधना का एक मात्र आधार है। ऊपर हमने जायसी पद्मावती के कतिपय अंश उद्धृत करके इस तथ्य को देखा है। अन्य सूफी कवियों ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। कुतबन कृत मृगावती में भी राजकुमार की दोनों रानियाँ प्रियमिलन की उत्कंठा में ही सती होती हैं—

रुकमिनी पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न पाई॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता।[1]

---

१ आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ९७

इधर पद्मावती स्वयं रत्नसेन को पत्रिका भेजते हुये जो लिखती है, उससे भी उसका ईश्वरत्व कवि की दृष्टि से सिद्ध हुआ है।[1] इतना सब होते हुये भी पद्मावती अपने पत्र में लिखती हुई कहती है कि—

आवहु सामि सुलच्छना, जीव बसै तुम्ह नांव।
नैनहि भीतर पंथ है, हिरदय भीतर ठांव।

—जायसी ग्रंथावली—राजा गढ़छेंका खंड, पृ० १०१

रत्नसेन की तरह पद्मावती का प्रेम भी प्रबल है, उसके नेत्र उसके प्रियतम के लिए प्रवेश-द्वार हैं और हृदय उसके प्रियतम का निवास-स्थान। इस रमणीय स्थल पर वह अपने स्वामी को आने का आग्रह करती है। इस पद्मावती ने जब तक अपने प्रभु का नाम नहीं सुना था, तब तक किसी पीर का अनुभव नहीं किया था, किन्तु प्रियतम का नाम सुनते ही उसका धैर्य छूट जाता है और वह भी उसी प्रकार व्याकुल होती है, जिस प्रकार रत्नसेन। कृष्ण भक्ति के रसिक संतों ने भी राधा-कृष्ण की इस आकुलता का बड़ा सरस वर्णन प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार चन्द्रमा को देखनेवाली चकोर की सारी वृत्तियाँ प्रिय में एकाग्र हो जाती हैं, उसी प्रकार रत्नसेन की वृत्ति पद्मावती में और पद्मावती की रत्नसेन में दृष्टिगोचर होती है। जायसी का विश्वास है कि प्रेम के पंथ के पार दिव्य लोक में प्रियतम का सामीप्य जिसने प्राप्त कर लिया उसका संयोग नित्य है। उस उत्तम कैलास में ही आनंद का निवास है और अमरत्व का भी, यथा—

प्रेम पंथ जो पहुँचै पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥
तेहि पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख-बासू॥

—बोहित खंड (जायसी ग्रंथावली) पृ० ११

रत्नसेन ने उस उत्तम कैलास में पहुँचकर जब प्रिय के आगमन का (हीरामन तोते के द्वारा पाया हुआ पत्र) पत्र पाया, तो वह आनन्दविभोर हो गया और कहने लगा—

जहाँ पिरीतम वै बसहिं यह जिउ बलि तेहि बाट।
वह जो बोलावै पांव सो, हौं तहँ चलौं लिलाट।

—राजा गढ़छेंका खंड (जायसी ग्रंथावली) पृ० १०१

---

१ हौं रानी पद्मावती सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं मैं तेहि के प्रथम करै अपनास।
—जायसी ग्रंथावली-राजागढ़छेंका खंड पृ० १००

इधर तो प्रेमी अपने प्रिय के निकट मस्तक के बल जाने के लिये तैयार है और उधर प्रिय अपने प्रेमी के वियोग में बेताब है। पद्मावती को अब एक-एक क्षण युग के समान बीत रहा है। पिय मिलन के अभाव में उसका सारा शरीर व्याकुल है। विरह ने काल का सा रूप बनाकर उसके शरीर को जीर्ण शीर्ण करना प्रारंभ कर दिया है। सखियाँ पद्मावती की इस विरहाकुल अवस्था को देखकर अत्यंत दुखी हैं, किन्तु—

विरह काल होइ हिये पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा॥
खिनहिं मौन बाँधे खिन खोला। गही जीभ मुख आव न बोला॥
खिनहिं बेझि के बानन्ह मारा। कंपि कंपि नारि मरै बेकरारा॥
कैसेहु विरह न छाँड़ै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहुँ दिसि रोवहिं, अंधर धरति अकास।

—जायसी ग्रंथावली—नागरीप्रचारिणी सभा खं० पृ० १०७

चन्द्रमुखी पद्मावती को राहु रूपी विरह ने ग्रसित कर मृत तुल्य कर दिया। प्रीति की लता में जकड़ी हुई पद्मिनी विवश है। प्रेमाश्रित जायसी की धारणा है कि प्रीति-लता में फँस कर दुख उठाने वाले को ही प्रियतम की प्राप्ति होती है और तब उसी के द्वारा माधुर्य रस का पान भी, यथा—

प्रीति बेलि अरुझै जब तब सुरुझहिं सुख-साख।
मिलै पीरीतम आइके दाख-बेलि रस चाख।

—जायसी ग्रंथावली— नागरीप्रचारिणी सभा खंड पृ० १०८

सूफी संत कवियों म प्रिय-विरह की भावना अत्यधिक तीव्र है। विरह ही उनकी साधना का एक मात्र आधार है। ऊपर हमने जायसी ग्रन्थावली से कतिपय अंश उद्धृत करके इस तथ्य को देखा है। अन्य सूफी कवियों ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। कुतबन कृत मृगावती में भी राजकुमार की दोनों रानियाँ प्रियमिलन की उत्कंठा में ही सती होती हैं—

रुकमिनी पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता।[1]

---

१ आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ९७

विरह अवधि अवगाह अपारा । कोटि माँहि एक पर स पारा ॥
विरह कि जगत अंबरिया आही । विरह रूप यह सृष्टि सबाही ॥
—मधु मालती

जायसी के ही पदचिन्हों का अनुसरण करने वाले सूफी कवि उसमान भी विरह की स्थिति का अनुभव करते हैं—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला । जहँ तहँ भौंर कुसुम रँग भूला ॥
आहि कहाँ सो भंवर हमारा । जेहि बिनु बसत बसंत उजारा ॥
—चित्रावली

प्रेम ही परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है । इस तथ्य पर विश्वास प्रकट करते हुये नूर मुहम्मद का यह कथन है कि ये—

आगम पुर इन्द्रावती कुँवर कलिंजर राय ।
प्रेमहु ते दोउन्ह कहँ दीन्हा अलख मिलाय ।
—इन्द्रावती

अपनी साधना की इस मान्यता को सार्थक करने के हेतु ही सूफियों ने विरह के महत्व का प्रतिपादन किया है । वे कहते हैं कि विरह से ही प्रिय के संयोग का सुख मिलता है और प्रेम में परिपक्वता भी आती है । प्रभु के वियोग की चरम परिणति संयोग में होती है । रत्नसेन पद्मावती से और पद्मावती रत्नसेन से मिलकर एकाकार हो जाते हैं । रस की बरसात में भीगते हुये दोनों को अपनी सुधि-बुधि नहीं रहती । सरोवरों में खेलने वाले हंस के जोड़े की भाँति वे तन्मयता की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं ।[1]

सूफियों की साधना में भी कृष्ण भक्तों की भाँति ही गुरु-कृपा एवं प्रभु-कृपा से प्रेमियों को यह दिव्य संयोग मिलता है । सूरदास के शृंगार वर्णन की भाँति ही जायसी ने भी षोडश शृंगार का वर्णन किया है । जरा सी अश्लीलता का आभास पाते ही ये सूफी अपने वर्ण्य विषय में अलौकिकता का

---

१ कौतुक केलि करहिं दुख नसा ।
कुंदहिं कुरलहिं जनु सर हंसा ॥
जनहुँ औटि कै मिलि गये, तस दूनौ भए एक ।
कंचन कसत कसौटी हाथ न कोऊ टेक ॥
—जायसी ग्रन्थावली पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड
(ना० प्र० स०) पृ० १११।१४०

अविलम्ब समागम कर लेते हैं, जिससे साधकों को सूक्ष्मातिसूक्ष्म का सान्निध्य प्राप्त करने में तनिक भी रुकावट न हो। अपनी रचनाओं में कहीं कहीं तो जायसी आदि कवियों ने आत्मा-परमात्मा के मिलन के वैसे ही वर्णन प्रस्तुत किये हैं जैसे सूरसागर में प्राप्त होते हैं। 'भक्ति का विकास' नामक ग्रन्थ में डा० मुंशीराम शर्मा ने जायसी द्वारा रचित एक 'महरी बाइसी' नामक (२२ पदों से युक्त) ग्रन्थ का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—'जायसी ने इस स्थल पर योगयुक्ति पूर्वक मन को मारने भोगों से विरत होने तथा कतिपय अन्य साधनों का उल्लेख किया है। अन्त में आत्मा और परमात्मा के विवाह का वर्णन किया है। बारहवें पद में आत्मा का शृंगार-वर्णन वैसा ही है जैसा सूरसागर में राधा का शृंगार है। वही आभूषण हैं और वैसी ही उपमायें हैं। आत्मा रूपी प्रिया अपने प्रिय परमात्मा को गंभीर गुणों से संयुक्त और महनीय रूप में अनुभव करती है। यह प्रिय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में विद्यमान है। इसकी प्राप्ति तभी होती है जब अपने आपको समाप्त कर दिया जाता है।'[1] रत्नसेन ने अपने को समाप्त करके ही पद्मावती को प्राप्त किया था। जिन जिन बाधाओं का समावेश जायसी द्वारा पद्मावत में किया गया है उनसे यह स्पष्ट है कि प्रेमाश्रित रसिकों ने नितान्त शुद्धरूप से त्याग एवं सहिष्णुता को अपनाकर अपनी उस दिव्य भावना को भगवान के प्रति लगाने का संकेत किया है जो सांसारिक विषयों में आसक्त रहती है।

राम भक्ति काव्य में माधुर्य

उपासना के क्षेत्र में राम और कृष्ण के अवतारों की उपमा सर्वप्रकार से संपन्न तथा सर्वशक्तिमान के रूप में की जाती है। परब्रह्म प्रभु के ये अवतार जब इस भूमि पर होते हैं तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। जहाँ तक राम और कृष्ण के अवतारों का सम्बन्ध है वे तो अपने भक्तों के हृदय में प्रेम के परम आनन्दमय स्रोत को प्रवाहित करने तथा अपनी लीला-क्रीड़ा का प्रसार कर उन्हें रसास्वादन कराने की दृष्टि से हुये हैं। इस लीला क्रीड़ा के माधुर्य का पान करता हुआ भक्त अपने भगवान को अपने हृदय में चिरकाल से प्रतिष्ठित कर लेता है और भगवान अपने मधुर भक्तिरस की प्रतिष्ठा भक्त के हृदय में भक्त के लिये कर देते हैं। मधुर भक्ति के अनन्य से भगवान के सान्निध्य को प्राप्त कर रसिक भक्त अपने प्रियतम रूप आराध्य-

---

१ भक्ति का विकास पृ० ५४०

देव के साथ रमण करता है और प्रभु—वे भी अपने उन भक्तों में रमण कर परमानंदमय होते हुये परमानंद को प्राप्त करते हैं।[1]

पूर्व अध्यायों में अभिव्यक्त राधा कृष्ण की जिस अखिल रसामृत मूर्ति की छवि एवं लीला का विश्लेषण कराया गया वह नित्य है। उनका संयोग, लीला तथा माधुर्यादि सब कुछ नित्य है। इसी प्रकार राम भक्ति के रसिक संप्रदायों में भी सीता राम को रस स्वरूप मान कर उनकी लीला क्रीड़ा को भी नित्य रूप में स्वीकार किया गया है। इन रामोपासक रसिक भक्तों की दृष्टि में नित्य संयोगी भी सीता राम भी अपने मधुर रस का प्रसार करने के लिये ही दो हो गये हैं और नित्य नवीन लीलाओं को साकेत में करके आनंद के मधुर रस-सागर में नहाया करते हैं।

राम भक्ति में मधुर रस की साधना का प्रचलन निस्सन्देह १६वीं शताब्दि के उपरांत हुआ है। इसके पूर्व भक्तों ने राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में देखते हुए, उनकी शील, शक्ति तथा सौन्दर्य से युक्त झांकी का दर्शन किया था। भक्तों के ये इष्टदेव गीता के अनुसार पृथ्वी पर इसलिए आये थे कि उन्हें साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश करना था और साथ ही अपने धर्म की स्थापना कर सबको अभय कर देना था। किन्तु परमशांति का अनुभव करने वाले भक्तों ने राम के इसी विग्रह को अागे बढ़ाकर चुना, जो सौन्दर्य-माधुर्य से मंडित था और जिसमें उनके हृदय को रसविभत कर देने की राधा-कृष्ण की भाँति शक्ति भी विद्यमान थी।

यह बात तो निश्चित रूप से मान्य है कि सीता राम की उपासना करने वाले रसिक संप्रदायों पर श्रीमद्भागवत की रासमयी पद्धति का प्रभाव पड़ा, फलतः यहाँ भी ऐसे साहित्य का निर्माण-कार्य प्रारंभ हुआ जिसमें सहस्रों सखियों से राधाकृष्ण की भाँति ही वेष्टित सीता राम के मधुर लीला संयुक्त वर्णन प्रस्तुत किये गये। उज्ज्वलनीलमणि आदि कृष्ण भक्ति के ग्रंथों की भाँति राम भक्ति के मधुर रस का आस्वाद कराने वाले हनुमत्संहिता आदि ग्रंथों की रचना यहाँ इस संप्रदाय में भी की गई और राम की रसमयी

---

१ रमते रमिका यस्मिन् दिव्या मेव गुणात्मके ।
स्वयं रामते रामस्तेन प्रयुज्यते ।

—हि॰सं॰१८,१

उपासना करने वालों को रसिक माना जाने लगा।[1]—यह सब कुछ होते हुए भी, जिस प्रकार राधाकृष्ण की मधुर भक्ति की अभिव्यंजना हुई मर्यादा पुरुषोत्तम की लीला का वैसा स्वच्छन्द चित्रण न हो सका। राधाकृष्ण की मधुर भक्ति का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथों तथा काव्यों में जिस प्रकार राधा की अंतरंग ललितादि सखियों का वर्णन प्राप्त होता है, उसी प्रकार सीता राम के संयोग को कराने वाली चन्द्रकला आदि अनेक अंतरंग सखियाँ यहाँ भी उपस्थित की गई हैं।

राधा की भाँति सीता जी को भी राम की आह्लादिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। श्री सीता जी की कृपा से ही राम का सान्निध्य, उनकी झाँकी और उनकी सेवा प्राप्त होती है- ऐसा इन साधकों का भी विश्वास है। साधक को यहाँ पीत वस्त्र धारण करते हुए, मस्तक पर बिन्दु के साथ पीला तिलक धारण कर निरंतर यहाँ भी कृष्ण भक्ति के मधुर साधकों की भाँति किशोरी रूप की भावना करनी पड़ती है। बिना इस भाव के राम की दिव्यकेलि को राधा की दिव्य केलि की भाँति नहीं देखा जा सकता। इस लिए संयोग को देखने के लिये स्वयं श्रीहनुमान जी ने भक्तों के विश्वास के अनुसार चारुशीला नामक सखी का रूप धारण किया था।[2]

---

१ श्रीरामस्य माधुर्यलीलापि बहुरसी उज्ज्वलभाव सिद्धैः सखाभी रसा लिप्सा श्रीजानकीदासादिभिर्भावनासमाश्रय। ... तस्याः श्रीरामस्य सर्वं विरहितकौतुकेन सकलोकमोहनावेशरया तत्रैव मतावलम्बने ये मधुभावभावेन श्रीराम भजते तेषामेव रतिरसमुत्पद्यते।

—श्रीरामस्तवराज हरिदासकृत भाष्य पृ० १६३

२ पीत वसन कटी युगल पीत शु तिलक सिंगार।
बिन्दु चन्द्रिका मुद्रिका सहित नाम शुभ सार।
सुरस भावना जो हिय धारे। रास मध्यादि हरषि प्रभु प्यारे॥
गुप्त विहार न देखन पावहिं। हठवश धरेउ युवति वपु तावहिं॥
हनुमदादि शिव आदि अतिप्रिया। निरखहिं गुप्त रहस्य अपारा॥
चारुशीला हनुमान और शिव गुणशीला नाम।
चन्द्रकला श्री भरत पुनि लखन मधुमता नाम॥

—प्रेमलताशरण कृत मधुर उपासना रहस्य
(रा० भ०सा०में० म० उ० पृ०३४८)

जिस प्रकार विलासी पुरुषों को स्त्री प्यासों को जल भ्रमरों को कमल, कमलों को सूर्य मुनियों को ज्ञान प्यारा होता है, उस भक्तों को प्रभु भी वैसे ही प्रिय होते हैं। महाराजदास जी ने तो यहाँ तक कहा है कि—

दीपक पतंग जिमि राग है कुरंग जिमि,
मणि है भुजंग पूत पावक अहार हो।
नीर हू को मीर जिमि प्राण को शरीर जिमि,
मैन को पलक मोर घनरव प्यार हो।
चातक को स्वाति जल पातक को पाप भल,
सती शिव पिय रति भावै जिमि मार हो।
जन महाराज कर जोरि कहै बार-बार,
तिमि प्रिय लागो सिया कोशला कुमार हो।
—सीताराम शृंगार रस—१

जिनके प्रेम का आदर्श यह जो उन्हें पतिरूप में ही प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि वे ही समस्त जीवों के एकमात्र प्रियतम हैं—

देखेउ पंथ खोजि सब भाई।
जीव मात्र तिय, पति रघुराई।
—प्रेमलताजी कृत—बृह० उपा० १०—२

ऐसे प्यारे सीतापति रघुनाथ को कृष्ण रसोपासक भक्त की भाँति ही, रामोपासक भी आह्लादिनी सीता जी के साथ नित्य क्रीड़ा में रत रंगमहल में देखता है। युगल आराध्य प्रभु भी अपने भक्त के मन की वीणा के मधुर स्वरों में ऐसा रस उँडेल देते हैं कि वह मत्त होकर गा उठता है —

रंग महल दोउ राजत रंग रसीले।
सावन संक अवम की सान्निधि भुज अंसनि गुन सीले।
नैन की चतुरावनि भ भावनि भावनि बोलनि बान्न हँसीले।
परहित भाव मिले दंपति अर्पित करि नित केलि नवीले।
सखि जन मन की प्रीति चातुरी मिलो बहुरत रति सो रसीले।
कृपा निवास श्री जानकी वल्लभ रहसि उपासिक हीले।
—कृपानिवास पदा० ३

१ रा०भ०सा०वै०भ०उ०पृ०२०१
२ रा०भ० सा०वै०भ०उ०पृ०१४५
३ रा०भ०सा०वै०भ०उ०पृ०२११

कितना दिव्य संयोग है यह इस संयोग में प्यारे राम के नेत्र आह्लादिनी सीता के रूप-सौन्दर्य में उलझ जाते हैं और आनन्दातिरेक में राम सीता के वश में और सीता राम के वश में होकर तन्मय हो जाते हैं। दोनों दोनों के सर्वस्व हैं। रसमयी बातें करते हैं और बड़े से बड़ा त्याग करने में तनिक भी नहीं हिचकते। निरंतर इस संयोग की कामना में रत सीता की तथा राम दोनों के प्रेम का प्रचुर मात्रा में परिवर्द्धन होता है, ऐसे अभिराम युगल प्रभु के चिंतन में रत रसिक ही उनके इस दिव्य रूप का दर्शन करते हैं—

पिय के नैन प्रिया छवि उरझे सिया दृग पिय छवि लागे।
मनु द्वै रूप सरोवर मीनन सदन पलटि सुख रागे।
प्रीतम प्राण बसे प्यारी बस प्यारी पिया के आगे।
कहि लालन मैं सर्वसु तुम्हरो मैं तुम्हरी बड़ भागे।
तुम्हरी मया बड़भागि बिलासनि बिलसहु सुख मन माँगे।
लाल रावरो हित सु अमोलक मन सम है तन त्यागे।
तुमसों लाल निहाल परम लगि मानों भाग-सुभागे।
राज रावरी वस्तु प्रान तन पगे रहा जिमि पागे।
यह सुख सुधा सदा कोउ पीवै कोउ भूले विद दागे।
कृपानिवास प्रसाद स्वाद सों प्यासा जन निशि जागे।

—कृपा० निवासपदा०—१

इस मधुर दर्शन में भक्त आनंद विभोर होकर अपने प्रभु को सब कुछ देता है। जनक दुलारी और दशरथ नंदन का गौर-श्यामल गात, नवलनिकुंज में सखियों द्वारा घिरे हुये राधा कृष्ण की भाँति ही देदीप्यमान हो उठता है—

मैं वारी युगल पर वारी।
दशरथ जू के श्याम सलोने गोरी श्री जनक दुलारी।
नवल निकुंज नवल बनिता मधि सिया सखीसि अति प्यारी।
गान सरस बीना मृदंग पुनि युगल प्रिया बलिहारी।

—युगलप्रिया पदा०—२

---

१ रा०भ०सा०मे०म०उ०पृ०२१८

२ रा०भ०सा०मे०म०उ पृ०२११

यहाँ भक्त उस छवि पर बलिहार जाता है। कितनी विचित्र है सीता राम की यह रसमयी सीमा ? पुरुषभाव में भला यहाँ कोई पहुँच सकता है ? किसी की तो गति नहीं। रात दिन सखीरूप से ही रसिक इसे देखते हैं और तनिक देर के लिए भी युगल को आँखों ओट होते देखकर व्याकुल हो जाते हैं—

ललित लीला लाल सिय की त्रिगुण माया पार।
पुरुष तँह पहुँचे नहीं केवल सखी अधिकार।
रसिक अलि जीवन यही ध्यावैं रटैं दिन रैन।
बिनु युगल रस लीला लखे छिन पल हिये न चैन।

—रसिकअलिकृत भागवतरहस्य दीपिका—[1]

अपने भक्त की व्याकुलता को देखकर प्रभु विचलित हो जाते हैं। भक्त के वश में होने के कारण वे भी आपने से नहीं हटते और उसे अपने शयन-सुख के सौन्दर्य का पान कराते हैं। भक्त भी सेवानंद का लाभ प्राप्त करने के हेतु जगमगाते हुये मणिमय मन्दिर में पहुँचकर धीरे धीरे गा उठता है—

सयन कियो पिय प्यारी सेज सुख।
विविध रंग मणिमय मंदिर में जगमगात उजियारी।
मदन मंजरी की आयसु सखि मर्ममहिं सेज संवारी।
दिव्य सुगन्ध सुमन चहुँ दिग रचि विविध रंग फुलवारी।
सीताराम अराम कीन सखि ठाढ़ि नीर भरे झारी।
चतुर सखी कर चरन पलोटहिं राहुल बात उचारी।
बीरा पीकदान सखि लीन्हे सयन भोग भरे थारी।
वादन पंच बजाय पंच सखि सप्त स्वरन रसकारी।
आइ नींद सुख सोइ रहे रघुनन्दन जनक दुलारी।
रामचरण सखि यहु जोवी रहि बहु निज महल पधारी।

—श्रीरामचरण जी कृत अष्टयाम पृ०—[2]

---

१ रा०भ०सा० मै०म०उ०पृ०२१९
२ रा०भ०सा०मै०म०उ०पृ०२२४

अपने इष्टदेव के ऐश्वर्य तथा सखियों की सेवा प्रणाली का ध्यान करते करते रसिक भक्त की आँखें तब चमत्कृत हो उठती हैं, जब वह निकुंज के मध्य पुष्प-शय्या पर निद्रित सीताराम को प्रात उठते हुये देखता है। सुरतारम्भ के अलसाये नैन, बिथुरी अलकें और स्नेह से शिथिल अंग उसके नेत्रों के समक्ष छविमान हो जाते हैं—

रंग रंगीले दोउ सोय जगेरी।
बिथुरी अलकें अलसी पलकें रंग सनेह सुरंग पगेरी।
मद रस छके बिराजत लालन ललना के रसरंग ठगेरी।
कृपा निवास श्री जानकी वल्लभ सखियन के दृग निरखि परेरी।
—कृपानि १८ पदावली[1]

रसिक इस युगल रति रस को अपनी भावमयी भाषा में गाकर माधुर्य-रसास्वाद करते भक्तों के हृदय में बाढ़ ला देता है। राधा-कृष्ण की उपासना करने वाले माधुर्योपासकों की भाँति इन रसिकों के वर्णन में भी ऐसा जादू है, जिसके कारण वे बलात विभिन्न प्रकार की साधना करने वाले वैष्णवों को अपनी ओर खींच लेते हैं। जिस प्रकार संयोगिनी सीता नित्य संयोग में तन्मय रहती हैं उसी प्रकार राम भी आह्लादिनी के साथ कृष्ण की भाँति ही निरंतर आह्लादित होने की कामना करते हुए, अपने मधुर प्रेम से प्रिया (सीता) जी को वशीभूत कर मधुर रस-सागर की तरंगों के थपेड़े खाकर तन्मय हो जाते हैं—

रंग भरे राम रसिक रस बस करि प्यारी रास भवन रस माते।
सुरति बिहार उमंग अनंगनि अंग-अंग सरसाते।
किंकनी नूपुर वलय मुखर कर लोचन रति इतराते।
कृपानिवास बिलास बिलासी सुन्दर संग सुहाते।
—कृपानिवास पदावली[2]

इस तन्मयता की अवस्था में प्यारे राम जब जनक दुलारी की कंचुकी को धीरे-धीरे खोलने का प्रयास करते हैं, तो वे हँसकर तथा चमक कर उनके हाथ को हटा देती हैं। राम, विलास में मत्त इस प्रकार सीता राम की छटा देखते ही बनती है—

---

१ रा०भ०सा०म० उ० पृ० २२७
२ रा०भ०सा०म० उ० पृ० २१२

पिय हँसि रस-रस कंचुकि खोलैं।
चमक निवारत पानि लाड़ली मुरकि-मुरकि मुख मोलैं।
टूक रही सखी-सखी कछु गावति भावन मदन किलोलैं।
कटि गहि सटकि हटकती सुन्दरि अधरनि परसि कपोलैं।
तस पटुराय लाय उर सौं उर कोक कमानि किलोलैं।
कृपानिवास बिलासी दंपति-संपति रास मझोलैं।

—कृपानिवास पदावली[1]

सखियों के सुमधुर गीतों के मध्य उठने वाली प्रेम-हिलोर में दोनों के उर से उर मिल जाते हैं और तब राम प्यारी का नीवी बंध उनमें एकाकार हो जाने के लिये, खोलने का प्रयास करते हैं। प्रिया भी मना करती है। राम नहीं मानते। वे उनके हाथ जोड़कर बलिहार जाते हैं। प्रिया भी चमकती है, तिरछी चितवन से देखती है और फिर हँस देती है—

नीवी करपत बरजत प्यारी।
रस लंपट संपुट कर जोरत पद परसत पुनि नै बलिहारी।
बदन घुमाय सिहाय महाजट तड़ित ज्यों चमकत बंक निहारी।
लमपटराय मनाय चूम रस हँसि-हँसि कृपानिवास सिय हारी।

—कृपानिवास पदावली[2]

उनके हर्षोल्लास में माधुर्य का आस्वादन करते हुए रसिक शिरोमणि राम अपनी प्यारी को प्रसन्न करने तथा रस का परिवर्तन करने के हेतु स्वयं नवयौवना किशोरी बन जाते हैं। सिययोचित शृंगार से सज्जित वे सिर पर जल का घड़ा लेकर चलते हुए जब फिरते हैं, तो श्याम उसे आनन्द में झूम उठते हैं—

रघुबर आये नवल बनि नारी।
करि सिंगार सुघर बनिता की सिर पर गगर भारी।
बीते रात पहल घर घर में रमी जाम पियनिहारी।
श्याम सखी सैंया रसिक महाबुर करत बिहार बिहारी।

—श्यामसखे पदावली[3]

---

१ रा० म० सा० म० उ० पृ० २११
२ रा० म० सा० म० उ० पृ० २१२
३ रा० म० सा० म० उ० पृ० १९९

अपने प्यारे के इस मनमोहन रूप-सौन्दर्य को देखते हुए जानकी, अपनी मधुर वाणी से उन्हें प्रसन्न कर मन्द मुस्कान के साथ राम को अपने कनकभवन में ले जाकर नित्य संयोग में डूब जाती हैं—

किशोरी जू के अनुपम रसमय बैन ।
सुधा सुधाकर शुक पिक हूँ नहिं कोकिल हूँ सम हैन ।
मन्द हँसनि रद लसनि अधर छवि फंसनि प्रिया प्रद चैन ।
अंग-अंग छवि पचि कवि थकि मति सारद बरनि सकै न ।
करत विहार अपार पिया संग कनक भवन सुख दैन ।
श्री युगल विहारिनि भरि उमग सखि सेवति हैं दिन रैन ।[1]

और तब प्रेम से विवश हो प्यारी जानकी प्यारे राम को अपना मधुर आलिंगन देकर उनके चित्त को चुरा लेती हैं—

प्रेम विवस हियरे लगत जिया लेतु चुराय ।
हँसि-हँसि रसपति आकरत भर्यो सिंगार सुराय ।
लस कपोल कुण्डल हलन अलक झलक छवि देत ।
ललकि-ललकि हिय सों लगत पलक चित्त हरि लेत ।
झूमि-झूमि झुकि-झुकि परस दिये अंस भुजमाल ।
हँसि हेरन चित चोर हीं कब दरसिहैं सिय लाल ।
अलकं उरझी चंद मुख दृग कपोल लखि पीक ।
अंजन अंजित रद सुपट सिय पिय असिय अशोक ।[2]

इस संयोग की मधुरिमा में जनक-नन्दिनी के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ आता है और वे अपने प्राणनाथ प्रभु से कहने लगती हैं—

करी सुभग सुखमद मतिवारी ।
सुघरि-सुघरि उज्ज्वल रस ढेर करी मम हो री अधिकारी ।
परम उदारनि सरस रावरी मृदुल चित्त मोहित हितकारी ।
कृपा निवास विलास भरी सिय पिय को मन बस रस विस्तारी ।
—कृपानिवास पदावली[3]

---

१ रा०भ०सा म०अ० पृ० ४१७

२ रा०भ०सा०म०अ० पृ० ३६४

३ रा०भ०सा०म०अ० पृ० ३१२

नित्य संयोग के मधुर रस से जानकी का तन-मन आनन्दविभोर हो जाता है और वे अपने रसिक प्रियतम श्रीराम की उदारता की सराहना करते हुये उनमें संयुक्त हो जाती हैं। इस छवि को देखकर सीता जी की सखियों का धैर्य छूट जाता है, तन-मन की उन्हें भी सुधि नहीं रहती और वे अपलक नयनों से इस रूप माधुरी का पान करती हैं। चन्द्रकला आदि-सखियाँ तो अपने जीवन को धन्य समझती हैं—

सियावर साँवरे छवि देख।
रहत न तन मन सुधि कछु सजनी लगत न नैन निमेख।
सजि सिंगार परस्पर दोऊ गलबाहीं कर मेलि।
युगल प्रिया अलि चन्द्रकलादिक सुफल संजीवन लेखि।

—युगल प्रिया पदावली[1]

किन्तु माधुर्य रस सागर के इस दर्शन से तो सन्तोष होने का नहीं। हो भी क्यों? वे भी तो उनके साथ संयोग सुख का लाभ उठाकर प्रियतम को प्रसन्न करना चाहती हैं और हृदय की प्रेमाग्नि को शीतल एवं अमृतमय आलिंगन से रस-सिक्त करते हुए, उन्हें अपनी कला से रिझाना चाहती हैं—

आजु रसकेलि मचावोंगी।
इन पिय प्यारे को रस बसि करि हिय-तपनि बुझावोंगी।
करि नव सप्त सिंगार मनोहर अंग-अंग भूषण सजि कै।
गाय बजाय लगाय लाल उर संग नचावोंगी।
सुनि सिय बानी रुचिर सोहानी हिय हरषानी मन ललचानी।
ज्ञानअलि यश गाय-गाय सिय पिय मन भावोंगी।[2]

—ज्ञानअलिकृत, सियवरकेलि पदावली

बिना सियावर की कृपा के यह संयोग कितना दुर्लभ है—इस बात को ध्यान में रखते हुए सखियाँ प्यारे से निरंतर दर्शन देते रहने की अपनी लालसा को प्रकट करती हैं। वे जानती हैं कि संयोग की लालसा में यदि कहीं प्रत्यक्ष दर्शन भी आँखों से ओट हो गया तो हृदय टूट जायेगा। प्रियतम तो यह भी करना जानते हैं, अस्तु वे कहती हैं—

---

१ रा० भ० मा० म० उ० पृ० ३१८
रा० भ० मा० म० उ० पृ० ३१८

सखा तुम होहु न मोहिन ओट ।
एक पलक बिन दरश कलप सम लगत कुलिश सी चोट ।
पीर पराई जानत हो नहिं यह सुभाव है खोट ।
श्री रघुराज विदेह लली पिय तजहु निठुरता कोट ।[1]

सखियाँ कितना ही उन्हें कठोर समझें, रसिक कितना ही उन्हें निठुर समझें किन्तु वे न निठुर हैं और न कठोर। वे तो रसिक से समर्पण में पीछे-पीछे फिरने लगते हैं। स्नेह परिवर्द्धन की दृष्टि से लीला विशेष के कारण वे थोड़े समय के लिये ही नित्य संयोगी होकर भी ठीक उसी तरह वियोगी हो जाते हैं जैसे सखी मंडल के बीच से कृष्ण। वियोग की इस करुण स्थिति में, उनसे प्यार करने वालों के हृदय रस सागर में एक तूफान उठता है, जो उनकी सारी मनोवृत्तियों को एकाकार प्रभु के समीप ले जाकर छोड़ देता है। कृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपियों की तरह श्रीराम के नित्य सान्निध्य में रहने वाली सखियों के हृदय भी वेदना से तड़प उठते हैं और वे पुकार कर कहने लगती हैं—

मिलि जाओ रामा प्यारे।
वन प्रमोद में खड़ी पुकारौं सुनिये रूप उज्यारे।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन मो अँखियन के तारे।
राम सखे जल बिनु मछरी ज्यों तलफत प्राण हमारे।

—रामसखे कृत पदावली[2]

प्राणनाथ के अभाव में प्राण नहीं रह सकते, ठीक वैसे ही जैसे जल के अभाव में मछली नहीं रह सकती। हृदय में हूक उठती है। प्रेमाग्नि से समस्त शरीर को तपा डाला वियोग नहीं सहा जाता और स्थिति अत्यंत दयनीय है—सखियों की भी और रसिकों की भी—

उर में उठत रैन दिन हूकें।
लगन अगिनि जरि भई हो कोयला लगी बरन फिर फूकें।
मरम मारसों मरी रही मैं नई मार महि चूकें।
कृपानिवास श्रीराम रसिक मुनि मो विरहनि कूकें।

—कृपानिवास पदावली[3]

---

१ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३२१
२ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३२५
३ रा०भ०सा०म०उ० पृ० ३२१

लगन की चोट से व्याकुल विरहिणी सखी का हृदय अधीर है। इस अधीरता को वह किसी से नहीं कह सकती क्योंकि इसका रहस्य एकमात्र उसके प्रियतम रघुवंश-मंडन ही समझ सकते हैं। किसी क्षण उसे उनके वियोग में चैन नहीं मिलती, उनकी स्मृति से वह छटपटाती है और दर्शनों के लिये प्रार्थना करती है—

हरि बिन को जाने मेरे मन की।
आठ पहर मोहिं कल न परत है प्यास बढ़ी दरसन की।
लगन चोट लागी तन मन की हमको कोर्ट चन की।
कृपानिवास श्रीराम रसिक अब सुधि लीजै विरहिन की।
—कृपानिवास पदावली—१

श्रीराम के प्रेम में पगी विरहिणी सखी को कहीं कुछ नहीं सुहाता, वह प्यारे के संयोग की रसमयी बातों का स्मरण करके वियोगावस्था में भी मधुर आलिंगन की कामना करती हुई, प्रफुल्लित हो जाती है—

रघुवर कैसे बिसरिहों बतियाँ।
कर ली हाथ सीस पर धारी मेरी तो माँगि सुरतियाँ।
नकिया ठौर भई जो बातें रस बस भीजीं मतियाँ।
स्याम सखी सैयाँ स्याम सलोने ताको लगिहौं छतियाँ।
—श्यामसखी पदावली—२

निस्सन्देह जिसका मन उसके परम सौन्दर्यमय रूप का पुजारी हो गया, उसके लिये विश्व की किसी वस्तु में कोई आकर्षण नहीं रह जाता और मन सर्वदा उसके मधुर मिलन के लिए आकुल रहता है। वियोगिनी सखी का मन भी श्रीराम के रूप-सौन्दर्य में अटक गया है और नैन उनकी छवि-माधुरी को देखने के लिए अनिमेष टकटकी लगाये रहते हैं। देखिये, प्रभु की कुटिल अलकें रतनारे नैन और मुख-कमल की झाँकी ने सखी के मनवा को विकल कर उसे किस प्रकार मिलन के लिए आतुर बना दिया है—

मेरो मन राम-छवि सों अटक्यो।
अब तो परबस जाय मिल्यौ री कोऊ कितेको हटक्यो।

---

१ रा० भ० सा० म० उ० पृ० २२२
२ रा० भ० सा० म० उ० पृ० ११९

श्याम-सरूप नैन रतनारे कुटिल अलक मुख लटको ।
लखि रघुराजहिं भानु लाज को टूटि गयो री फटको ।
—रघुराज विलास [1]

परम माधुर्य रस के स्रोत श्रीराम की नित्य आह्लादिनी सीता जी का वियोग भी लीला विशेष के कारण होता है वैसे दोनों का संयोग नित्य है, अस्तु वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस लीला विशेष में भी वियुक्त होने पर भी जानकी जी विह्वल हो जाती हैं। वियोग की बरसात सी होती है, हृदय की वेदना उन्हें हिला डालती है। मदन की चोट से व्याकुल एवं प्यारे राम की स्मृति से उत्पन्न इस वेदना का कथन नहीं हो सकता—

बरषत सुन्द बिरह बरवारी ।
करकत करक करेजो कामिनि कहि न सकत हिय हारी ।
गरजि गरजि गरजी गाहक जिय जारत जस डर डारी ।
चहुँ दिशि चमचमात बीरिनि यह मदन कृपान करारी ।
मान मरोर लिये मादक छकि मन्द मयूर पुकारी ।
जहँ तहँ छाय रहे दुखदायक विरहिनि एक विचारी ।
युगल अनन्यशरण सिय पिय बिनु वेद न अकथ अपारी ।
— संत सुख प्रकाशिका पदावली—[2]

सीता जी की इस मूक पीर ने उन्हें प्यारे के विरह में पागल सा बना दिया है। वे प्रमोद वन के वृक्ष-लता से अपने प्रियतम को पूछती हैं किन्तु कैसे बतायें? वे तरु से विहीन लता की भांति मुरझा जाती हैं, शरीर शिथिल हो जाता है और तब पृथ्वी पर गिर-गिर पड़ती हैं। अन्तरंग सखियों द्वारा समझाये जाने पर भी मनहरण की याद में वे किसी की बात तक नहीं सुन पातीं यथा—

द्रुम-द्रुम बूझ थकीं बन हेरत प्यारी बैठी आय पुलिन पर ।
तरु बिनु बल्लिलता मानो मुरझी झुकि-झुकि परति सिथिल धर।
सखि-जन धारि सम्हारि पवन कर श्रमकण हर कोई गहि पट कटिकर ।
कृपानिवास कहति कहा दुरिया राम रसिक मेरो मनहर ।
—कृपा निवास पदा०—[3]

---

१ रा०भ०सा०म०उ०पृ०३१२
२ रा०भ०सा०म०उ०पृ० ३०२
३ रा०भ०सा०म०उ पृ०३२१

इस स्थिति में भी श्री जानकी जी का मन कमल-नयन श्रीराम से मिलने के लिये तड़प रहा है। वे सखियों की किंचित मात्र भी चिन्ता न करते हुये पुकार कर कहती हैं—

हमारी सुधि लीजै राजिव नैन।
पूरण भरि हेरि फेरि अंसन भुज राखौ हिये सुख दैन।
तलफत मन छिन-छिन मिलिवै को बिनु देखे नहिं चैन।
आरत हरण वेद यश गावत क्यों न सुनौ मम बैन।
रूप सुधा छवि दृगन पियावौ करि कटाक्ष मृदु सैन।
जानकीअलि पिय बिरह बावरी नहिं सोहात दिन रैन।
—सियवर केलि पदावली[1]

प्रेमावेश में भी बार-बार श्रीराम के महत्व का स्मरण मधुर उपासना की पवित्रता एवं सर्वोत्कृष्टता का प्रतीक है। ऐसे श्रीराम की प्रिया को क्षण भर भी प्रियतम के बिना नहीं सुहाता। वे आशा भी करती हैं और संयोग की प्रार्थना भी। प्रेमावेश में कभी-कभी मान के रूठने पर, परोक्ष में उनकी व्याकुलता बढ़ ही जाती है और तब वे उनके विहार-सुख का स्मरण कर सखियों को श्रीराम से कभी न रूठने की सलाह देती हैं, आकुल हो जाती हैं—

आली मेरो रघुबर करत सोहाग।
लै कुसुमन कलमाल बनावत बिहरत मो सँग बाग।
मो प्रतिबिम्ब बिलोकि मुकुर महँ लखत तासु अनुराग।
अस रघुराज प्राण प्यारे सों रूसब परम अभाग।
—रघुराज विलास[2]

जिन राम ने अपनी प्रिया को मधुर रस का आस्वाद कराने के हेतु भाँति भाँति का विहार सुख संजोया हो, उनसे रूठना परम अभाग नहीं तो और क्या है? उनकी नित्यप्रिया राम मात्र के लिये भी ऐसा करके पश्चात्ताप करती हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिये कहती हैं—

लाल मोहिं आस तिहारी हो।
सुनिये कोशलचन्द्र के एक शरण हमारी हो।
तुम जलनिधि हम सरिता है तुम पति हम नारी हो।

---

१ म० भा० म० ज० पृ० १११
२ म० सा० म० ज० पृ० १२४

तू सागर हम सरित हैं तुम चन्द हम चकोरी हो ।
तुम नायक हम नायका गठबंधन जोरी हो ।
मात तात तुमसे भली जग-नेह लबारी हो ।
स्याम सखे अपनाये सब चूक बिसारी हो ।

—श्यामसखे पदावली [1]

पवित्र प्रेम की इस मधुर एवं दृढ़ निष्ठा के सहारे ही रसिक जन क्षण भर में ही अपने अपराधों को क्षमा कराकर प्रभु के परमप्रिय हो जाते हैं। प्रीति का तो यह प्रिय लक्षण है कि वह या तो लगती नहीं और यदि लग जाय, तो फिर छूटने का काम नहीं। रसिक अपने प्यारे प्रभु से ऐसी ही प्रीति करते हैं। यही प्रीति किशोरी भाव की अनन्यता का प्रतीक है। साधक की सारी मर्यादाएँ यहाँ विनष्ट हो जाती हैं। सियावर की इस मधुर भक्ति में प्रीति का आवेग तो अवश्य है, किन्तु राधाकृष्ण के प्रेम की उन्मुक्तता तथा उन्मत्तता की झाँकी यहाँ उतनी मात्रा में इष्टदेव के मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण प्राप्त नहीं होती, जितनी कि राधा कृष्ण के माधुर्योपासकों के वर्णन में प्राप्त होती है।

सातवाँ अध्याय

पूर्ववर्ती माधुर्योपासकों का परवर्ती भक्तों पर प्रभाव

पूर्ववर्ती माधुर्योपासकों का परवर्ती भक्त कवियों पर प्रभाव

परम्परा से प्रचलित श्रीकृष्ण की मधुररस साधना के जिस मधुरतम राग ने अपनी ध्वनि से मध्य युग के वैष्णव संप्रदायों तथा भक्तों को मोहित किया, उसकी लय में रीतिकालिक कृष्ण भक्त तो मधुरमत्त हुए ही साथ ही आधुनिक समय में रचना करने वाले कवि भी प्रभावित होकर झूम उठे। इस ध्वनि पर उनका भी अंग-अंग थिरकने लगा और तब उनके भी हृदय में प्रभु के अलौकिक सान्निध्य की सुरसुरी लेकर अपनी हृद्तन्त्री का स्पर्श करते हुए भक्ति का संगीत गा उठा। इस प्रकार हिन्दी काव्य के विकास, क्रमशः प्राप्त की उर्वरा शक्ति ने प्रत्येक शताब्दि में वैष्णव संप्रदायानुयायी भक्तों की अपेक्षा ऐसे भक्त हृदय कवियों को भी उत्पन्न किया जिन्होंने माधुर्योपासकों से प्रभाव ग्रहण कर अपनी काव्यधारा में राधा-कृष्ण की नित्य एवं मधुर लीला का समावेश कर अपने व्यक्तित्व को चिरस्मरणीय बना दिया।

अपने हृदय में कृष्ण-सान्निध्य की अनुभूति का गुण गान हुए जो अभिव्यंजना इन कवियों ने प्रस्तुत की जिसमें उसमें भी तन्मयता की व्यापकता विद्यमान है। राधा, गोपी तथा कृष्ण का पारस्परिक प्रेम इनकी भी वाणी में भाव लोक की विधि रूप से ही प्रकट हुआ है। यहाँ लौकिकता की भावना से दूर कृष्ण के सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापकत्व तथा अचिन्त्यत्व को स्वीकार करते हुये, इन्होंने उनके आह्लाद का यथासम्भव चित्रण किया है। ऐसे वर्णन को लौकिक व्यंजना की संज्ञा नहीं दी जा सकती। निश्चित ही यहाँ पर रीतिकालिक कवियों के राज्याश्रित होने का प्रभाव एवं आधुनिक कवियों की अर्थार्जन भावना तनिक भी दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी भक्तिपरक रचनायें ही उनकी इस धारणा का सबसे प्रमाण है।

आधुनिक युग के कृष्ण कविता में शुद्ध भक्त रूप में राधा-कृष्ण के नित्य विहार का जो रूप उपस्थित किया है, वह उनकी श्रद्धामयी रसानन्दर्दा

तथा भक्तिमयी मनोवृत्ति को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। जिस धरातल पर बैठकर इन कवियों ने प्रभु की प्रकट लीला विशेष का चित्रण किया है, उसमें व्यंजना के आवेग के साथ-साथ प्रेम का वह आवेग भी है, जिसने उन्हें मतवाला बना दिया है। तन्मयता में रसानुभूति को ग्रहण कर इन कवियों का संसार समाविष्ट हो जाता है और कवित्व सार्थक।

रसिक-शिरोमणि राधा माधव को प्रमुखरूप मानने वाले रसिक भक्तों ने रीति एवं आधुनिक युग के परवर्ती कवियों को भी, उनके रास विहार, संयोग वियोग तथा क्रीड़ा आदि अन्य लीला सम्बन्धी रचनायें प्रस्तुत करने की प्रेरणा प्रदान की है। मधुर रस साधना में जिस निष्ठा और लगन की आवश्यकता होती है, उससे परवर्ती कवि गण प्रभावित तो हुये, किन्तु आश्रयदाताओं के किंचित प्रभाव के कारण रस धारा की उन्मुक्त निर्झरणी प्रवाहित न हो सकी और मनोविनोद के हेतु निर्मित रंगीले काव्य के समक्ष भक्तिपरक रचनाओं का आकार सिमटा ही रहा फिर भी जो दीप्त एकाग्रता तथा रसमयता इनको अल्प मात्रा में भी की गई रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है उससे प्रेम प्रवाह की गति अवरुद्ध नहीं प्रतीत होती। वस्तु शनै शनैः अपने प्रेम रस की बूंद से रस सरिता की धारा को वेगवती बनाने वाले रीति एवं आधुनिक युग के निम्नलिखित संप्रदायानुरक्त कुछ कवियों पर अब विचार करना श्रेयस्कर होगा—

कुछ प्रमुख भक्तहृदय कवि तथा उनका विद्यमान समय

१—बिहारी लाल	वि०सं०	१६६० १७२०
२—देव	"	१७३०
३—कुलपति मिश्र	"	१७२४ १७४१
४—कालिदास त्रिवेदी	"	१७४६
५—आलम	"	१७४० १७६०
६—तोषनिधि	"	१७९१
७—द्विज देव	"	अज्ञात
८—दास (भिखारीदास)	"	१८०७
९—पद्माकर	"	१८१० १८९०
१०—मंचित	"	१८२६
११—दीनदयाल गिरि	"	१८८८
१२—ग्वाल कवि	"	१८७१ १९१८

१३—गुणमंजरी दास
१४—सत्य नारायण — वि० सं० १८८४ १९४७
१५—सरस माधुरी (ग्वालियर) — १९४१
१६—प्रेमघन — " — १९१२
१७—रत्नाकर — १९१२ १९७९
१८—कृष्णदास कायस्थ (अष्टछाप से भिन्न) — वि० सं० १९२१ १९८९
१९—ललमान दास (वृन्दावन) — १९ वीं शती
२०—हरिगोविन्द जी — वि० सं० वर्तमान
२१—स्व श्री प्रेमानंद जी — , — १९२२ ई० से १९४७
२२ स्वामी कृपालुदास जी — वर्तमान
उपासना का स्वरूप — , — वर्तमान

जिस मधुर प्रेम के आधार पर उक्त भक्तियों के हेतु विचार किया जा रहा है उसका रूप इनकी दृष्टि में अत्यंत उज्ज्वल है। अपने प्रीतम प्रभु को प्राप्त करने के हेतु यह प्रेम ही एकमात्र उपाय है। यह प्रेम बिना श्रद्धा तथा विश्वास के किसी को प्राप्त नहीं होता और यदि प्राप्त हो गया तो शनैः शनैः रसिकवर होकर साधक को रस स्वरूप से मिला देता है। इस मधुर प्रेमाश्रित भक्त की स्थिति इस धाम में ठीक वैसी ही रहती है, जैसी पुष्प-वाटिका में खिले हुए पुष्प की होती है। यहाँ भक्त की उपासना ही उसकी प्रेम वाटिका है और वह है स्वयं उस वाटिका का प्रफुल्लित कुसुम। उसके प्रभु उसके रस के आस्वादक हैं भ्रमर की तरह। भक्त स्वयं भी श्याम है और वे श्यामसुन्दर कहलाते भी हैं। रसिक शिरोमणि इन्हीं प्रभु के हेतु परवर्ती भक्त पूर्ववर्ती साधकों की भाँति ही अपनी अनुरागमयी उपासना में रत होता है और कहता है—

तजि तीरथ हरि राधिका तन-दुति करि अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग।

—बिहारी सतसई

इस अनुराग के उत्पन्न होते ही रसिक का समस्त अभिमान बह जाता है। हृदय स्निग्ध हो जाता है और प्रभु के प्रति ममता उत्पन्न हो जाती है। यहीं साधक की समस्त कामनायें समाप्त हो जाती हैं और वह चातक के समान अपने प्यारे प्रभु का ध्यान पा सका है। परवर्ती भक्तों ने भी इसकी अनुभूति की और लिखा—

देव घनश्याम रस बरस्यौ अखंड धार ।
पूरन अपार प्रेम-पूर न सह्यौ पर्‌यौ ।
विषै-बन्धु बूड़े मद मोह-सुत दवे देखि,
अहंकार-मीत भरि, मुरझि मही पर्‌यौ ।
आशा, तिसना-सी, बहू बेटी लै निकसि भाजी,
माया-मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्‌यौ ।
गयौ नहिं हेरो लयौ बन में बसेरो नेह—
नदी के किनारे मन-मन्दिर ढहि परयौ ।—देव
—ब्रजमाधुरी सार पृ० ३१०

साधक का मन यदि नेह की नदी के कूल पर पहुँच गया फिर वापस आने का प्रश्न ही नहीं उठता । साधना की सबसे बड़ी सिद्धि है लगन । यदि यह लग गई तो नित्य सुख के आस्वाद में विलम्ब नहीं होता । यह लगन पुरुषभाव में असम्भव है—इसका अनुभव करके पूर्ववर्ती माधुर्योपासकों की भाँति इन भक्तों ने भी सखीरूप तथा कान्ताभाव का आग्रह मान लिया । यथा—

महा मधुर रस सार यही सी राधा राधा बोल ।
ह्वै कै सखी वृषभानु सर्स की निर्भय ब्रजबन डोल ।
—रसिया ब्रज माधुरी पृ० ८

अथवा संसार को स्वप्नवत् समझकर प्रभु को प्रेमी रूप में स्वीकार करने की बात कही, यथा—

स्वप्नों है संसार यह रहत न जानै कोय ।
मिलि पिय मन भाँवर करौं कालि कहा धौं होय ।
—कुलपति मिश्र निम्बार्क माधुरी पृ० ३१६

इन भक्तों का भी विश्वास है—
प्रियतम केवल कृष्ण मुरारी ।
कोमल सील निधान रूपनिधि रसमय वर वपुधारी ॥
—वि० र० पृ० १०

इसी विश्वास के साथ इस युग के भक्तों ने अपनी उपासना प्रणाली को आगे बढ़ाया और राधा कृष्ण को अपनी दिव्य माधुर्य साधना का साध्य स्वीकार किया । अपने इष्टदेव को पाने के लिये दमसमपन्न की अपेक्षा रहती है । समर्पण के अभाव में साधना दृढ़ नहीं रहती और साधक की अगम

स्थिति उत्पन्न नहीं होती। पूर्ववर्ती साधकों ने अपने आराध्य प्रियतम को अपना सर्वस्व गोपियों की भाँति ही दे डाला था और समस्त संसार से वैराग्य लेकर उनके सान्निध्य हेतु ब्रज रज में लोटने लगे थे। उनके इस दिव्य समर्पण ने परवर्ती साधकों में भी यह भावना उत्पन्न कर दी, तभी तो वे कहते हैं—

अलौकिक प्रेम नगर को द्वार।
जे जन शीशवन्त हैं तिनको नहिं प्रवेश अधिकार।
सर्वसमर्पण मोल यहाँ को होत न नेक उधार।
प्रेम राज्य की रीति यही है नेक न कपट प्रचार।
जो मनमाने जाय नहिं भावै भावै नहिं संसार।

—श्रीकृष्ण वि० प० पृ० २१

प्रेमी के इस उपासना रूपी राज्य की गति निस्संदेह तीनों लोकों की प्रणाली से भिन्न है। चातक की सी अनन्यता और समस्त पदार्थों का त्याग प्रत्येक के वश की बात नहीं होती इसे तो वही कर सकता है, जो इस दिव्य रस का किंचित् मात्र भी अनुभव प्राप्त कर चुका है और अत्यंत रस रीति से मधुर भाव प्रधान करके स्वामिनी श्रीराधिका जी का स्मरण करता रहता है, क्योंकि इन्हीं के वशीभूत नंदनंदन प्रभु बिना इनकी इच्छा के किसी के समक्ष प्रकट नहीं होते—पूर्व रसिकों की दृढ़ भावना के साथ भाव का भक्त हृदय भी कहता है—

हमारैं धन स्यामा जू को नाम।
जाको रटत निरंतर मोहन नंदनंदन घनस्याम।
छिन छिन नव नव महा माधुरी बरसति आठों जाम।
'गुनमंजरि' मन कुंज मिलावै श्रीवृन्दावन धाम।

—ब्रजमाधुरीसार पृ० २२२

प्रभु के इस स्मरण मात्र से भक्त की कसौटी पर प्रेम ही खरा उतरता है। समस्त चिंताओं को तजकर और समस्त नियमों से छूटकर प्रेमी यही अभिलाषा करता है—

आयो पैठी, हँसो प्रिय आते बड़े उछाह।
हम पागल प्रेमीन कौं, और चाहिये काह॥

—भगवन्नारायण ब्रजमाधुरी पृ० १८१

कितना महत्व है इस मधुर प्रेम का जिससे समस्त देवताओं से वंदित अखिलेश्वर प्रभु क्षण भर में अधीन हो जाते हैं। उनको इस पथ का ध्यान करने

की इससे उत्तम साधना और क्या हो सकती है ? प्रेममयी यह मधुर उपासना ही समस्त सुखों का सार स्वरूप होकर इस युग के कृष्ण भक्तों की दृष्टि में भी सर्वोत्तम है। इसीलिये इसे गोप्य रखने का संदेश भक्तों ने दिया। उनकी धारणा है कि मान बड़ाई से दूर रहते हुये, दिव्य रस की अनुभूति एकाग्रता के साथ हृदय में करना चाहिये, यथा—

चाहत प्रेम गुप्त करि राखे।
यह रस दिव्य विलास करी जनि अति सुख अन्तर चाखे।

\+ + + +

मान बड़ाई त्यागि जगत की तप करि नेम निभावै।
सो मनमाल नंदलालहिं प्रिय जो निज नेह छिपावै।

—श्री कृ०वि०प०पृ०२१

निश्चित ही मधुर रस की इस गोप्य साधना से इष्टस्वरूप की रूपराशि के दर्शन होते हैं।

रूप-माधुरी—

वृन्दावन की सुरम्य लताओं के मध्य प्रिया जी के साथ विराजमान श्यामसुन्दर की भुवन मोहनी छवि का जो वर्णन रसिक भक्तों ने अपने काव्य में उपस्थित किया वह निश्चित ही सीमा से बहुत ऊपर की वस्तु है और उसकी अनुभूति भी केवल प्रेमी हृदय को ही होती है। ब्रजभाषा में अपने भावों को रूप प्रदान करने वाले परवर्ती कवियों ने भी इस रूपराशि का वर्णन कर अपनी रचनाओं को गौरवान्वित किया और उस आनन्द का आस्वाद किया जिससे अखिलरसामृतमूर्ति स्वयं प्रकाशित कर भक्तों को कृतार्थ करते हैं। ललितादिक अंतरंग सखियों से घिरे हुये राधा माधव किसे आकर्षित नहीं करते ! साक्षात् मन्मथ मन्मथः उनका नाम यहीं सार्थक हो जाता है। त्रिभंगी मुद्रा राजहंसी चाल और मधुर चितवनादि सब कुछ तो निराला है उनका। उनके शृंगार की समस्त कलायें इसी रूप में मूर्तिमान हो जाती हैं और भाव के कवि का मुखर कंठ गा उठता है—

मूर्तिमान शृंगार रस, सरित रूप छविधाम।
कमला लालित ललित पद परसत बहु घनस्याम।

—श्री कृ०वि० व पृ०२७—भगवान जी

परम सौन्दर्यमय रूप की इस झाँकी से परवर्ती कवियों के नेत्र तो मनवाम हो ही गये, साथ ही उनका हृदय भी इसे अपने में नित्य निवास देने के लिये आकुल हो उठा। अज्ञान रूपी अंधकार से आकुल हृदय में यदि ब्रजचन्द्र की चन्द्रिका प्रकाशमान हो जाय तो फिर कहना ही क्या है? कितनी सुन्दर कल्पना के साथ श्यामसुन्दर को अपने हृदय में छिपाने की बात कवि कहता है—

ए ब्रजचंद गोविन्द गोपाल सुन्यो क्यों न एतें कलाम किए मैं।
त्यों पद्माकर आनंद के नद, हो नदनंदन जानि लिए मैं।
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुरयौ जौ चहौ तौ, दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं।

रूप पर आसक्त होकर भक्त किसी भी बहाने अपने प्रभु की समीपता पाने के लिये लालायित हो उठता है। वस्तुतः भी है ऐसा रूप भी तो कहीं अन्य दृष्टिगोचर नहीं होता। पीताम्बर की चमक, कुण्डल की दमक और मुख की कान्ति पर रीझना स्वाभाविक ही है। इसे देखते ही परवर्ती भक्त हृदय का भी मन-मयूर नाचने लगता है और तब प्रेम रस से सराबोर होकर वह अपनी कविता में लिखने लगता है—

नव नीरद-दामिनि-दुति जुगल किशोर।
पथिक मुदित मन नाचत जीवन मोर।

—रामायण द्वि०भा ५०२१२

कला की सार्थकता और कविता की महत्ता इसी में है कि वह नित्य सौन्दर्य की स्निग्ध झाँकी का व्यंजना द्वारा प्रत्यक्ष करके मन को मुग्ध कर उसे सांसारिक वासनाओं से विरत कर दे। बिना इसके कविता की सफलता भारतीय दृष्टिकोण से नहीं समझी जाती। निस्सन्देह इसका अनुभव परवर्ती रीतिकालिक तथा आधुनिक रामभक्त कवियों ने किया है। तभी उनकी कविता में यथाशक्ति निकुंज राधा-माधव के उस नित्य सौन्दर्य का दृष्टिगोचर होता है। कवि द्वारा वर्णित आकर्षण की झलक का एक नमूना देखिए—

कुंजन मोर मलार [illegible] राग [illegible] आवैं।
कुंजें [illegible] पवन मनहि पुरावे।

खोर विशाल भाल पर सोभित केसर की चित भावैं।
ताम बीच बिंदु रोरी की ऐसो वेस बनावैं।
भृकुटी वक्र नैन खंजन से कंचन गंजन वारे।
मद गंजन खग-मीन सदा जे मन रंजन अनियारे।

—पंचित—[1]

उपर्युक्त रूप की जिस छवि की व्यंजना कवि ने प्रस्तुत की उससे श्रीकृष्ण की वेश-भूषा स्पष्ट होती है। मकराकृत कुण्डलों की सुषमा मस्तक का तिलक और नेत्रों की मोहकता ने आधुनिक रसिकों के चित्त का चुरा लिया है। चञ्चल चित्त को अपनी ओर खींचने की शक्ति रखने वाली कृष्ण की यह रूपराशि जब साधक के नेत्रों में समा जाती है तब रूपराशि की प्यास का परिवर्द्धन हो जाता है। साधक के दो नैन उसकी प्यास को नहीं बुझा पाते और तब वह अपने प्रभु से अपने हृदय की अभिलाषा को व्यक्त कर ही देता है। तोषनिधि की भावना पर तनिक दृष्टिपात कीजिये—

प्यासहिं पी छबि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहिं में करि देतो।
बैनन के सुनिबे हित स्रोन जितै तिन सो करतो करि हेतो।
मो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहे तोष कहै लिखितो विधि एतो।
तो करतार इती करनी करि कै कलि में कल कीरति लेतो।

—तोषनिधि—[2]

यदि करतार की कृपा हो गई तो फिर यह छवि शाश्वत रूप से दृष्टि प्राप्त होती है। इस परम्परा के भी अनुभव से यही प्रतीत होता है। वे निरंतर उसके साथ इसी का पान भी करते हैं, यथा—

ऐसिय कुंज बनी छवि पुंज रहै अलि गुंजत यों सुख लीजै।
नैन बिसाल हिये बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै।
जामिनि जाम की कौन कहै जुग जात न जानिये ज्यों छिन छीजै।
आनंद यों उमग्योई रहै पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै।

—कुलपति मिश्र—[3]

राधा माधव युगल का यह स्वरूप इन प्रभावित कवियों की दृष्टि से भी ईश्वरत्व का बोध कराता है। प्रेम के इस क्षेत्र में जिस रसिकता तथा

---

१ हि० मा० इ० पृ० ३३८
२ वही पृष्ठ २८४
३ वही पृष्ठ २५५

अनन्यता का प्रत्यक्षीकरण होता है, उससे उनकी आध्यात्मिक रसमयता स्पष्ट है यथा—

श्याम स्वरूप घटा ज्यों अनूपम मान-घटा मन राधे की झूमैं।
राधे के अंग के रंग रँग्यो पट बाबुरो क्यों घन सो मन घूमैं।
है प्रति मूरति दोऊ दुहून की त्यों प्रतिबिम्ब वही घट दूमैं।
एक ही देव दुदेह दुहूँ हरे देव दुधा यह देह दुहू में।

—देव ग्रं० मा० पृ० १८५

युगल रूप को इस चमत्कार झाँकी के सामने नत मस्तक होकर। प्रेम रस उनमें सराबोर हो जाता है और तब वे सखा रहित होकर तन्मयता के साथ प्यारे की अनन्यता में उलझ जाते हैं। दास जी लिखते हैं—

अँखियाँ हमारी दई मारी सुधि बुधि हारी
मोहू तें जु न्यारी दास रहै सब काल में।
कौन गहै ज्ञानै काहि सौंपत सयाने कौन
लोक ओक जानैं, ये नहीं हैं निज हाल में।
प्रेम पगि रहीं महामोह में उमगि रहीं,
ठीक ठगि रहीं लगि रही बनमाल में।
लाज को अँचै कै कुल धरम पचै कै, वृथा
बन्धन सबै कै भई मगन गोपाल में।

—भिखारीदास ग्रं० मा० दू० पृ० १८१

रूप दर्शन की जो लालसा पूर्ववर्ती रसिकों में पाई जाती है उससे उनके चित्त की गहराई और अगाध प्रेम किंवा रूप का दर्शन आ जाता है। उनकी इस चित्रण प्रणाली की पूरी छाप इन कवियों पर पड़ी और सब ने भी राधा कृष्ण के रूप का वैसा ही मनोरम अति गहनता से चित्रण का प्रयास किया। माधव के इस अनुपम रूप में सभी मतवाले हो जाते हैं—

चन्द्रिका-चपा सन पै झलकै जुरी है, मंजु
मुरलिका आला लगी अधर-अमोल की।
हियरा हरन हार उर पे परे हैं हार
मंगन प्रभा है अंग-अंगन अपार की।
हरिऔध, पग पगन लगि सजाने बने
आनै पनै निग में निरञ्चन नेह पार की।

ए री बीर काकी मति बावरी भनी है नाँहि
सुछबि बिलोकि बाँकी नवलकिशोर की।

—रस कलश पृ० २५१

प्रभु के अलौकिक सौन्दर्य की झाँकी का दर्शन कर गायक जब आसक्त हो जाता है तब उसकी भावुकता बढ़ जाती है और फिर वह निरंतर अपने प्रभु स्वरूप की स्मृति करता रहता है। नवलकिशोर की इस मधुर स्मृति में उसका तन मन सब कुछ प्रेममय हो जाता है और प्रकृति के कण-कण में उसी मधुर प्रेममयता के दर्शन होने लगते हैं यथा—

प्रेम ही कुंज निकुंज बन प्रेम बिछौना सेज।
प्रेम ही प्रेम पीवत जहाँ ओढ़ें ही प्रेम हेज॥४॥

—स्वामी प्रेमानंद जी

प्रेममय होकर कवि जो व्यंजना प्रस्तुत करता है उसकी उमिल में रस सागर की अबाधित तरंगें उठती रहती हैं। उसके श्यामसुन्दर कभी मुकुट धारण करते हैं और कभी मुकुट रहित घुंघराली अलकावली से सुशोभित होकर मनहरण कहलाते हैं। उनके वे अलक जब चन्द्रमुख पर आ जाते हैं, तो भक्त किसी माध्यम से कह उठता है—

चूमों कर कंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान कान्ह मो तन निहारि दै।
कालिदास कहे मेरे पास हरें हेरि हेरि
माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दै।
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु
लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे
लट उरझी है नक बेसर सँवारि दै।

—कालिदास त्रिवेदी

जिस सौन्दर्य के इस माधुर्य का रस पान करने के हेतु, आधुनिक रसिकों की दृष्टि में भी समस्त देवता तरसते रहते हैं राधा माधव का वही सौन्दर्य अपने भक्तों के हेतु ब्रजमण्डल में निरंतर अनंत मधुर रस की वर्षा करता रहता है। जितनी बरसता है उस पर रस की बहती नदी बनता। युगलकिशोर के लीला विहार में निमित्त भी उनकी इच्छा निर्दिष्ट है, और तब

रसिक उससे निसृत आनन्दमय रस का आस्वाद कर लेते हैं। अपने श्रीकृष्णाष्टक में कवि का कथन है—

आनी एक बूँद कों बिरंचि बिबुधेस सेस
सारदा महेस ह्वै पपीहा तरसत हैं।
कहै रतनाकर रुचिर रुचि जाकी पाइ,
मुनि मन मोर मंजु मोद सरसत हैं।
लहलही हात उर आनंद-उमंग लता,
दुख दव जासों ह्वै जवासा झरसत हैं।
कामिनी सुदामिनी समेत घन स्याम सोई,
सुरस समूह प्रेम बोध बरसत हैं।

—रत्नाकर हि०भाव पृ०६६

प्रेम नगर में महाराज-युगल को हृदय में बसाने से ही उनकी इस माधुरी का पान हो सकता है। आज का साधक भी बार-बार यही पुकार-पुकार कर कहता है यथा—

मूरति लाडिली-लाल कुँवर की अब तो अँखियन लेहु बसाय।
नंदनंदन वृषभानु किसोरी सहज प्रीति की अनुपम जोरी
प्रीति भई र बिहार इन मोरी।
प्रीतिपुरी के राजा दोऊ प्रानि ही रहे सुहाय।
रूपरसिक मुँ न्न पियावै अमृत मोन श्रवन अंचवावै।
जन्म-जन्म की प्यास बुझावै
दोऊ भुज भरि कै हृदय लगावै लै निज परस बसाय।

—प्रकाशक श्री, रसिया व्रजमाधुरी पृ० ९७

युगल क्रीड़ा —

प्रभु की जिस क्रीड़ा का वर्णन पूर्व के भक्तों ने किया वह निस्संदेह प्रेम से आवृत है। उनके चारों ओर प्रेम ही प्रेम दृष्टिगोचर होता है। गोपी मोर गोपाल तथा उनकी क्रिया जो करते वो भी भिन्न है, किन्तु वे सब एक मात्र प्रेम ही है और कुछ नहीं। उनकी क्रीड़ा भी प्रेम है क्रीड़ा करने वाला भी प्रेम है वह र भी प्रेम है और वर्णन भी प्रेम ही है। अन्य इस प्रेम

होकर प्रकट होने लगती है और व प्रेम विभोर होकर समस्त सांसारिकता को भूल जाते हैं। राधा माधव की इस मधुर क्रीड़ा की अनुभूति इन परवर्ती, भक्त कवियों ने भी की और अपने काव्य में उनके रास, नृत्य, हिंडोल तथा जलविहारादि अनेक प्रकार की लीलाओं की व्यंजना को प्रस्तुत किया।

रास-नृत्य—

सौन्दर्य से परिपूर्ण शरद पूर्णिमा की उज्ज्वल निशा, प्रफुल्लित वसुन्धरा की हृदयस्वरूप ब्रज-वनस्थली और धीमी गति से प्रवाहित होने वाली यमुना की कल-कल ध्वनि के संयोग को पाकर श्याम की मुरली ने जिस भाव भरे स्वर को गुंजित किया था, उससे रास का रहस्य और रस रूपी अमृत निस्संदेह प्रकट हुआ था। इस अमृत को पीकर जिस प्रकार गोपियाँ मतवाली होकर झूम उठी थीं उसी प्रकार परवर्ती काल के कवि भी इस दिव्य लीला के स्मरण मात्र से आनन्द विभोर होकर रसमग्न हो जाते हैं और अत्यंत उत्साह के साथ अनुरागमग्न होकर उसका गायन करते हैं। रास में माधव की कोमल अंगुलियों से चालित होकर जो ध्वनि उनकी वंशी से निसृत होती थी उसके चिन्तन से इस युग के कवि भी अपने को संभाल नहीं पाते और उस दिव्य संगीत की लय में बेसुध हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में इस रास को विशेष आध्यात्मिक महत्ता है, तभी तो उसकी अनुभूति में वे तन्मय हो जाते हैं, यथा—

हौं ही ब्रज, वृन्दावन मोही में बसत सदा,
　　जमुना-तरंग श्याम रंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियतु
　　कुंजनि में सुनियतु गुंजनि अलीन की।
बंशीवट-तट नटनागर नटतु मों मैं,
　　रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल-तानन की,
　　तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की।[1]

इतना ही नहीं अब उस वृन्दावन में रसिकों को अपने प्यारे प्रभु के नृत्य की छमछमाहट की ध्वनि और वंशी के सुमधुर स्वर की अनुभूति होती

---

१ 'ब्रजमाधुरी पृ० ३०५ — देव"

है, तब वे भी अपनी वाणी के आवेग को नहीं रोक पाते और स्वर मिलाकर गा उठते हैं —

थिरकि थिरकि मुरि धरत धरन पग कर गहि कर गहियाँ बनवारी ।
निरत-निरत थेइ-थेइ मुख उच्चरत कंपित ललित गति मन्द धुरारी ।
निरखि-निरखि सुर विहरत हरषहिं गौर स्याम छवि अद्भुत प्यारी ।
चिन्त सील मनि बसत कनक तजि तड़िता मनु घन मिलि सहचारी ।
छवि रसिक रासनायक विलास वन कृष्णदास मन धन प्यारी ।
घरनी नपाय रितु स्याइ-स्याइ सारद मजय थक चित हारी ।
नैमन निहार अनुमित विचार मनसिज मिहार दै सुधि सारी ।
थेइ-थेइ पुकार टटकार मार निरतत कुमार सिरि बनवारी ।'[1]

प्रत्यक्षानुभूति के अभाव में ऐसा सरस वर्णन सम्भव नहीं होता। अपने दिव्य चक्षुओं से भक्त निरंतर गोपी कृष्ण की इस नित्य रास लीला का अनुभव करता रहता है। इन परवर्ती रसिकों की अभिव्यंजना को देखकर दृढ़ता के साथ कहना पड़ता है कि वे सभी रसामृत में सराबोर होकर ही गाते हैं। राधामाधव के रास नृत्य की प्रत्येक तान और लय पर उनका मन भी थिरक उठता है। श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया जी का हुलास तथा बीन के स्वर में मिला हुआ नूपुरगीत तो साधक पर मधुर रस का कलश ही उड़ेल देता है। यहीं इनकी कला का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है।

जल-क्रीड़ा —

अनुराग के रंग में रँगे हुए राधा-कृष्ण रूप की तरंगों के हिलोरों में सने हुए मधुर रस का पान करते हुए पुलकित होकर भी तृषित ही रहते हैं। रस की विह्वलता श्रम का अनुभव नहीं होने देती किन्तु जब सुधि वापस आती है तो वे दोनों कलाकार अपनी अंतरंग सखियों के प्रस्ताव पर श्याममयी यमुना का स्पर्श करने के हेतु उसमें जल प्रवेश करते हैं। यह श्याम श्यामा की जल केलि का यहीं से समारम्भ होता है। अपने प्यारे के मधुर स्पर्श को पाकर यमुना जी की गति स्तम्भित हो जाती है और वे उस दिव्य माधुर्य का अनुभव कर अपने आपको भूल जाती हैं। रसिक विहार यमुना की इस स्थिति का अवलोकन कर प्रफुल्लित हो जाते हैं और तब उन्हें स्पर्श करने के लिए अपनी दिव्य क्रीड़ा करने लगते हैं। पूर्ववर्ती रसिकों की स्फूर्त प्रेरणा से परवर्ती

१ 'ब्रजमाधुरी' पद ११ भाग १ पृ० २ (कृष्णदास बाबाजी)

सम्प्रदायमुक्त कवि अपने हृदय-कुंज के किनारे प्रवाहित होने वाली यमुना के निर्मल जल में जब श्यामसुन्दर का जल क्रीड़ा की अनुभूति करते हैं तब उनकी लेखनी भी कुछ लिखने के लिए चंचल हो उठती है। वे और लिखते हैं —

जुगलवर जल बिच करत विहार।
जुरि नारिन, जलजल भरि छोरिन धरि लई रिझवार।
नैन सैन महि भानुसुती की, सज्जित सखिन अपार।
लै कर कमल कोऊ बरसावति कोउ चुपके कर धार।
कोउ धावति कोउ घात लगावति, करि दृग-कमलन वार।
खेलत भजत दुरत जलबिच हरि बह गो जाय मझधार।
लखि कौतुक विचित्र कालिन्दी रोक दई निजधार।
यह कृपालु येहि जलविहार पर बार-बार बलिहार।

—प्रं० र० म० पृ० २०१

कृष्ण क्रीड़ित यमुना की इस धार में इन रसिकों की चित्त भी आकर फँस जाती है और ऐसी मत हो जाती है कि फिर उन्हें अपनी स्थिति का भी ज्ञान नहीं रहता। रस के लाभ में आँखों को ना पद् दशा होती है, साथ ही इनका चित्त भी वहीं रह जाता है।

हिंडोला —

यद्यपि अखिल लोकनायक व्रजराज का रहस्य अत्यंत गोप्य है तथापि रसिक भक्तों के समक्ष उद्घाटित हो ही जाता है। प्रिया प्रियतम के रुचिर प्रेम में सने हुए भक्त इस रहस्य को हृदयंगम कर प्रभु के सान्निध्य का लाभ उठाते हैं और उनकी प्रत्यक्ष लीला-दर्शन के सुख का अनुभव करते हैं। यमुना के सुन्दर पुलिन पर आह्लादिनी के साथ विहार रत माधव की दिव्य लीलाओं में हिंडोला की बात महत्ता है। रसिकों के आनन्द के हेतु श्यामा भी प्रदर्शन श्याम-श्यामा ने रस विभोर होकर किया है। रेशम की डोर से पुष्प तथा पुष्प मालाओं से सुसज्जित परम रम्य हिंडोले पर जब सुकुमार का अखिल मन रति विद्यमान होती है तो वह दृश्य रसिकों के चित्त चमत्कृत हो उत्पन्न है और यही झाँकी जब रसिकों के स्मृति पट पर आकर उपस्थित होती है तो वे प्रेम रस मदिरा से उन्मत्त होकर गा उठे हैं —

झूलत श्यामा श्याम कोटि रति काम प्रभाकर,
भाई रति मद रत विधर जु धारि मा वर।

की सुखमा सौन्दर्य अनूप रूप रति राजत।
मृदुल माधुरी औ लावण्य ललित न भाजत।
एक ओर ललिता औ दूजी ओर विशाखा,
प्रेम-पदारथ-दानहारि सुरतरु की शाखा।
दंपति-सुख संपति अतुल निधि की रखवारिनि
कृपा जनित मुसकानि मंद की निज अधिकारिनि ॥६३॥

—हिंडोला (रत्नाकर)

हिंडोल पर विराजमान रति और काम स्वरूप प्रिया-प्रियतम इन परवर्ती भक्तों के भी मूर्तिमान भाग्य हैं और सिद्धि की राशि हैं। अनुराग की परम पवित्र भूमि पर वे दिन रात अपने प्रभु के ललित लावण्य को देखते हुये भी नहीं अघाते। सखियों द्वारा समाधि जाने वाले ये रसिक शिरोमणि निस्संदेह दिव्य हृदय की भी शोभा हैं और रसिकों के लिये क्या हैं? इसे वे रसिक महानुभाव स्वयं कहते हैं—

सुख सोभा सौभाग्य सुभग संकर उर-पुर के।
सुमन सुमुनि अरु वेद-सार सरनागत सुर के।
कल्प-लता चिंता मनि चारु सुकवि रसिकनि के,
जिय जीवन न पहान कहा अनन्य भक्तनि के ॥१६॥

—रत्नाकर प्र० भा० पृ० ७

कुंज-संयोग —

जिस अलौकिक एवं दिव्य धाम में राधे के प्रेम में तन्मय होकर श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के हेतु नित्य-विहार-सुख की झाँकी उपस्थित की थी, वह वृन्दावन रसिक भक्तों का सर्वस्व है। यहाँ का समस्त जड़ जंगम इन कवियों की दृष्टि में दिव्य एवं चिन्मय प्रतीत होता है। युगल शृंगार की नित्य-लीला का यहीं प्राकट्य हुआ है और यहीं इन्होंने अपनी आह्लादिनी शक्ति के साथ आनंद का अनुभव करते हुए दिव्य कुंजों को अपने नित्य संयोग से पवित्र भी किया है।

छवि —

युगल सरकारों के प्राकट्य-जनित सुन्दर अंग-माधुरी के दर्शन पद से राधा माधव की छवि निहारते देखे हैं तो वे मन वचन और कर्म तीनों से अपने आपको न्योछावर कर देते हैं। लोकोत्तर प्रेम की दिव्य झाँकी का

माधुर्य उनके दिव्य नेत्रों में विद्युत की भाँति बार-बार चमक उठता है और वे पूर्ववर्ती भक्तों की भाँति ही झूम-झूम कर गाने लगते हैं—

बलि जाउँ निकुंज बिहार की।
नागरि श्री वृषभानु कुँवरि अरु नागर नंद कुमार की।
जनु धरि रूप अनूप प्रगट भई, मूरति छवि सिंगार की।
करत केलि सुख मनि विविध विधि बरसावन रस धार की।
संग नवेलिन अति अलबेलिन हेलिन सुख अपार की।
पियत कृपाल रसिक निसि वासर सुधा प्रेम रस-सार की।
—प्रे० र० म० पृ० २११

युगल नर्तन —

रूप और शृंगार का यह मूर्तिमान संघात जब सरस रस की वर्षा अपने निकुंज में करता है तो निश्चित ही साधक जन उसकी मधुरता का आस्वाद करते हैं और फिर निरंतर यह छवि उनके हृदय में बसी रहती है, यथा—

दोऊ मिलि केलि कुंजनि करत।
राधिका राधेरमन की सरस छवि लखि परत।
रास रंग राते रंगीले भामिनी भुज धरत।
थमकि नाचत नचित खग लखि मोर नाचनि करत।
मधुर घघरा धरनि ऊपर नमित पगो धरत।
[illegible] सुभ सुर भरत।
रति मनोज दुहुन की दुति जनु सुगंग मिलि हरत।
विमल यदुनाथ कविवर छवि न हिय तें टरत।
—प्रमोद [illegible] पृ० ४६।

यमुना के कूल पर आच्छादित लताओं के कुंज में प्रिया-प्रियतम के द्वारा किया हुआ नृत्य सखियों के साथ रसिकों को भी पुलकित कर देता है। इस नृत्य में रसमग्न दम्पति जब थकित हो जाते हैं तो हम निकुंज में पहुँच जाते हैं जहाँ की छवि का वर्णन कवि [illegible] ही देखकर करने को धन्य मानते हैं। प्रेम की इस रति की कैसी ही अभिव्यक्ति नितांत असंभव है क्योंकि उसका रसास्वादन अनुभूति मात्र [illegible] है। प्रतिदिन इस प्रेम के मधुर संचार की अभिलाषा में राधा-माधव तत्पर रहते हैं। उचित भी है। नित्य संयोगियों का नित्य भाव में व्याप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव लीला विधान के

कारण वे क्षणिक देर के लिए अलग होते हैं और भक्तों के आनंद हेतु फिर मिलने का प्रयास करते हुये दृष्टिगोचर होने लगते हैं। अनायास जैसे ही संयोग होता है रसिक विह्वल हो जाते हैं और गमन करते हैं—

हेरत दाउन को दाऊ ओगरही मिले आनिक कुंज मझारी।
हेरत ही हरिग हरि राधिका म हिय लाउन ओर निहारी।
दौरि मिले हिय मलि दोऊ मुख चूमत ह वे धन प्रेम सुखारी।
पूरन दाउन की अभिलाष भई पुरवैं अभिलाष हमारी।
—प्रथम स प्रजभाषु वर्षा पृ० ? ३

एक बार रसिक श्यामसुन्दर और राधा री समय स्थिति का पुन अवलोकन कीजिये—

औचक अयेसे मिले कुंज र न पुञ दाऊ,
मौनक भाग सौ सुधि बुधि सब रहि गई।
कहै रतनाकर त्यौं धाकह थिरित मध्ये
चित्र की सी पतर पुतीहनि में च्य गई।
नैनने में नैननि के बिम्ब प्रतिबिंबनि सौ
गोउ ओर नैननि की पाँति बाँधि है गई।
दाउन का दाउन के रूप मधिदै का मानौ
बार आए होत ही हजार आँच ह वै गई।
—रतनाकर नि० भा० पृ० ११

मन का यह परस्पर दान प्रिया प्रियतम सदा का सुख कर लेना है। रसिक-जन तो इसका वर्णन ही नहीं कर पाते, व तो केवल यह कहते हैं—
प्रेम रूप गुन कहत न आव सो जाने जो यह रस पावै।
प्रेमी प्रियतम मिलन महत या उमगि उमगि दै मिलु मिलन ज्या।
दोउ अलि प्यारु न मन सुधि भूला, दाउ निरि नेह मगा दरिव फूली।
गोउ निरि अधरन ध्यान अंगीदा छिपटिय दरसाय-रसनान मोदा।
दौरे, तन मन दाउ प्रवाना, गाउ प्यार गाउ प्यार मोना।
परपण भानं नयनन-नयनन, भूरि मा बानन सुखदनन।
—र्ष दे वि ५० पृ० २२

हृदय म निरभर ... धम ... का ... अब नैनों म समझने लगता है जो रिन ... निर्गण ...

जाती है। महाकवि हरिऔध भी कृष्ण के मग्न होने वाली इस दिव्य रूपासक्ति का चित्रण करते हुये लिखते हैं—

राधिका-नयन मैं हैं मोहन-नयन बसे,
मोहन बिलस राधा-नयन निकाई पै ।
प्यारी मुख-सुषमा सराहत रहत प्यारो,
प्यारी मोहि जात प्यारे मुख-मंजुताई पै ।
हरिऔध स्याम को कहति रमनी है काम ।
स्याम रति वारत रमनि रुचिराई पै ।
लाल को लुभावति है ललना ललित-छवि,
ललना लटू है गई लाल की लुनाई पै ।
—रस कलस पृ० २५०

रति—

परस्पर रूप का यह मोहन अधिक देर तक प्रेम के आवेग को रोक नहीं पाता और राधा-माधव-द्वैत को अद्वैत बना ही देता है। हृदयस्थित उमंग की तरंगों से लहराते हुये ये दम्पति रस-सागर में डूबते उतराते हुए एकाकार हो जाते हैं। कवि वर्णन करता है—

छरी प्रेम मद नागरी उर धरि मधु अमोल ।
नंदलाल बड़भाग सों ठगी श्याम कलोल ॥
—ब्रजभारती वर्ष १२ अंक १ पृ० २१

इससे कम सौभाग्य राधिका का नहीं जान पड़ता जब कवि यह कहता है—

रति विपरीति रची प्यारी मन मोहन सों
करिवे बलास केलि मदन मिटाये लेति ।
हिय हिमकोरनि सों समकि सकोरनि सों,
किंकिनी के सोरनि सों उर उमगाये लेति ।
उरज कुच भारनि सों जुग-जंघ जारनि सों,
मैन के मरोरनि सौं दुमुखि दबाये लेति ।
अंग-अंग अमित अनंग की तरंग भरी
प्रथम समागम को बदलो चुकाये लेति ।
—रत्नाकर द्वि० भा० पृ० १९

जब श्याम श्यामा की यह एकरसमयता छवि इन परवर्ती प्रभावित कवियों की स्मृति में पूर्ववर्ती साधकों की भाँति ही छा जाती है, तो ये उस अद्वैत ज्योति में एकाकार होकर प्रसन्न हो जाते हैं। यथार्थ में ये दोनों रसिक शिरोमणि एक हैं—इसका रहस्य केवल रस साधना में प्रविष्ट अधिकारी साधक ही जानता है और निरंतर चिंतन कर सुखी होता है, यथा -

धरौ मन युगल माधुरी ध्यान।
मनमोहन मोहिनि श्यामा अरु, मोहिनि-मोहन कान्ह।
इन दोउन महँ भिन्न न मानिये द्वै देही इक प्रान।
ये लीला विलास महँ मोहन अनुचर रसिक प्रमान।
चित्रवत नित निकुंज श्यामा कहँ मरम न सकै कोउ जान।
यह कृपालु रस रसिकहि जानत जो नित करै रस पान।

—प्रे० र० म० पृ० २१२

कुंज संयोग की इस मधुरिमा के बीच कभी कृष्ण प्यारी की वेणी गूँथते हैं और कभी प्रिया जी अपने प्रिय प्राणनाथ का नवीन नवसा बनाकर उनकी रूप छटा को कुंज में अपलक निहारते हुए रति रस-मग्न होकर विह्वल हो जाती हैं। कवि के शब्दों में श्रीकृष्ण की वेणी-गुंथन के संयोग सुख का एक सुन्दर चित्र—

गूथन गुपाल बैठ बेनी वनिता की आप
हरित लतानि कुंज माँहि सुख पाइकै।
कहै रतनाकर सँवारि निरवारि बार,
बार-बार विवस विलोकत बिकाई कै।
माइ उर मेल कबौं फेरि गहि छोर सबै,
ऐसे रहौं प्यारेनि मैं सालत सुभाइ कै।
कान्ह गति जानि कै सुजान मनमान मानि,
करत कहा हो ? कह्यौ मुरि मुसुकाइ कै।

कभी तो रूठ जाती है, किन्तु राधा मान में रम जाती है और तब श्यामसुन्दर भी प्रिया जी के सामने करों न बनती कहा ही किये जाते हैं। साधक का मन बरबस इस भाव में लिप्त हो जाता है और वे ललित लताओं में आच्छादित कुंज के मध्य रस मग्न होकर सुख पाते हैं, यथा—

प्यारे परवीन कौं बनायौ नवसा नवीन,
नायक प्रवीन बनि आप उर लाये लेति ।
छल कौं छबीलो ज्यौं-ज्यौं भरत न देत अंक
त्यौंही त्यौं निसंक भुज भरि लपटाये लेति ।
झूमि-झूमि लेति मुख चूमि-चूमि लेति मुख,
दूमि-दूमि उरमि तें उरमैं दबाये लेति ।
पूरन प्रभाव विपरीति कौ प्रकासि प्यारी
प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाए लेति ।
—रसा० द्वि मा० पृ २०

इस प्रकार कुंज के मध्य होने वाली युगल-रस-वर्षा से निस्संदेह भक्ति-भूमि हरी भरी हो जाती है और साधक की भावना में विश्वास और श्रद्धा का शाश्वत आवरण हो जाता है।

युगल वियोग-प्रवाह —

जिस प्रकार राधा श्यामसुन्दर की प्राणेश्वरी हैं श्यामसुन्दर उसी प्रकार राधा के भी प्राणनाथ हैं। दोनों का संयोग नित्य है लीला नित्य है और विहार भी नित्य है। किन्तु जब वे श्यामसुन्दर इन परवर्ती साधकों की दृष्टि में भी वियोगी दृष्टिगोचर होते हैं, तो केवल प्रकट लीला विशेष के कारण। प्रभु नहीं चाहते कि उनके भक्त एक क्षण के लिए भी उनका विस्मरण करें, वस्तु उनकी चित्त की वृत्तियां का एकाग्र करने के हेतु ही उनकी यह वियोग लीला होती है। राधा माधव के वियोग की भांति ही इन रसिक भक्तों को भी इसकी अनुभूति होती है और उनका मन कुंजबिहारी के दर्शन के बिना आकुल हो जाता है। मधुर रस की भावना का स्वाद पाये हुये भक्ति युग के साधकों की भांति ये साधक भी मुरारी के वियोग में प्रतिदिन मुरझाते जाते हैं। प्रतिक्षण की प्रतीक्षा से उनके नेत्र व्याकुल हो जाते हैं हृदय अधीर हो जाता है और वे उन्मत्त की भांति वृन्दावन के कुंजों के सौभाग्य का स्मरण कर अचेत हो जाते हैं। जिस प्रकार राधा को श्याम के बिना और श्याम को राधा के बिना एक-एक पल युग समान हो जाता है, उसी प्रकार इन भक्तों के स्मृति-पटल से युगल जोड़ी के अदृश्य होते ही, उनकी रसमयता समाप्त सी हो जाती है किन्तु वे फिर भी गाते हैं —

यदि नंदनंदन दरसन पाऊँ ।
तौ भरि नयन निहारि महाछबि हिय भरि कंठ लगाऊँ ।
निरखत पंथ रह्यौ नहि धीरज कब लौ मन समुझाऊँ ।
ज्यों बिन चन्द्र चकोर अमावस त्यों निसि सकल गवाऊँ ।
प्राय सुगन्धित सुमन उमगि उर माला ललित बनाऊँ ।
ज्यों-ज्यों बीती रैनि फटै हिय प्रातहि सरिस बनाऊँ ।
निरखि भ्रमर मनभ्रमत आगमन जानि गहन हित धाऊँ ।
जो बनमाल पंथ कहुँ पाऊँ तौ तुरतहि उड़ि जाऊँ ।

—मोहन विरह पत्रिका पृ० ७५

साधकों के इस भाव में प्रिय प्रभु के वियोग की दशा का रहस्य छिपा है। यदि श्यामसुन्दर के दर्शन उन्हें नहीं होते तो वे जीवन धारण नहीं कर सकते। उन्माद की भांति प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में उनकी छवि को देखने लगते हैं। वियोग में इन भक्तों को भी प्रत्येक पदार्थ श्याममय प्रतीत होता है, यथा—

सर सरिता सरसीरुह कुंजन सघन लतन्मन माहीं ।
ललित ललाम महाछबि छलकत हरि प्रतिबिम्ब लखाहीं ।
सघन जलद नभ इन्द्र धनुष में दरसत हैं बनमाली ।
नवल पल्लवन प्रफुलित कुसुम लसत लाल की लाली ।
नाचत मोर मनोहर मानहुँ नाचत नटवर प्यारे ।
मुकुट सिर सुन्दर बोलत मानहु बालक नन्द दुलारे ।
गुंजत भृंगन मुद मधुर धुनि मानहुँ बंसी बाजै ।
मनु बनमाल धरे रवि ससि में मोहन मूरति राजै ।

—मो० वि० प० पृ० ८२

इस प्रकार भक्त श्याममय प्रकृति की झांकी को वह तब तक देखता रहता है जब तक मन में स्थिर नहीं होता। अपनी अनुकूल स्थिति में आते ही वह पुनः विरह-वेदना से व्याकुल हो जाता है और कहता है—

कब वियोग-निसि बिनसिहै ऐहै दिवस-संयोग ।
कब अँखियाँ अघमोचिहैं मुख अवलोकन भोग ।
घन-ससि-तन नख-छबि निरखि कब नचिहै मन मोर ।
धन्य घरी अपनाइहैं मम मन-मदन मयार ।

—हरिऔध रस कलश पृ० ५८

प्यारे माधव के चन्द्रमुख को निहारने के हेतु जिस भक्त के नैन चकोर बनकर निरंतर व्याकुल रहते हैं, वह जब राधा के बिना श्याम को और श्याम के बिना राधा को तड़पता देखता है, तो उसकी अभिव्यंजना में प्रेम की हूक उठने लगती है और उसमें तो फिर सभी बेहाल हो जाते हैं।

कृष्ण वियोग—

कई बार इस बात का संकेत पूर्व में किया जा चुका है कि नित्यसंयोगी कृष्ण की वियोग लीला, प्रकट लीला विरह के कारण रसिकों के रसास्वादन के हेतु होती है। किन्तु इस वियोग में ही माधव सच्चे वियोगी भी हो जाते हैं। प्रिया की की क्षण भर की भी अनुपस्थिति से वे पागल हो उठते हैं। इस समय उनकी आकुलता इतनी बढ़ जाती है कि कहते नहीं बनता। इसका जैसा वर्णन इन रसिकों ने किया उसमें वेदना की सच्ची टीस विद्यमान है। राधा के वियोग में अधीर श्रीकृष्ण की एक स्वाभाविक झाँकी देखिये—

कुँवरि बिनु, कुँवर न उर धर धीर।
कबहुँक पंथ निहारत ठाढ़ौ मंजुल कुंज कुटीर।
कबहुँक नयन सिरात कछु मेदिनि नैनन बरसत नीर।
कबहुँक दौरि चरन चिन्हन कहुँ, धरत शीश लेहु बीर।
कबहुँक हाय-हाय कहि निकसत दीरघ स्वास समीर।
कबहुँक उठि इत उत को धावत विह्वल प्रेम अधीर।
होत 'कृपाल' कबहुँ पुनि मूर्छित सुन्दर श्याम शरीर।

—प्र०रा०म० पृ २४१

वियोगी कृष्ण में यहां पर उदासी अधीरता उत्कण्ठा विह्वलता, उन्माद तथा मूर्च्छा आदि सभी कुछ दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी स्थिति में जब घनश्याम को कहीं प्रिया जी दृष्टिगोचर नहीं होतीं तो वे परम विरही होकर कुंज-कुंज में उन्हें ढूंढने लगते हैं यथा—

ढूंढत श्याम फिरत कुंजनि बिच चित वृषभान किशोरी रे।
गह्वर मँदर कुञ्जन हूँ दै सरस सरस तान गौरी रे।
सिसु-मृग दृग वारी, शशिवदनी नव न वयस अति गोरी रे।
कहाँ गई छन छवि हरना ? चितवत हौं चित गो चोरी रे।

'बदरीनारायण' जिन माधो नै मन मोह मरोरी रे।
—प्रेमघन सर्वस्व पृ० ४२१

प्रिया जी के विरह में वे गोविन्द इतने व्याकुल हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीर तक की सुधि बुधि नहीं रहती। उनकी अस्तव्यस्तता का चित्र खींचते हुए रत्नाकर जी लिखते हैं—

देख्यौ भरि नैन आज छैल छरकौंही एक,
मोहन धरा मैं पर्यौ धीरज न धारे है।
कहूँ "रत्नाकर" मकुट बनमाल कहूँ,
मुकुट मृणाल कहूँ मुठिन धरारे हैं।
काछा कौन नैंकु निरधारत न नीकैं भाँति
धामि कछु बदन की भेद न उघारे है।
आँस भरि आधो नाम राम का उचारे पुनि,
साँस भरि आधे बैन धेनु के पुकारे हैं।
—रत्नाकर द्वि० भा० पृ० ७७

यथार्थ में बिना रूप माधुरी और भावुकता के भाव भावितो का आह्लाद जब कृष्ण तक को प्राप्त नहीं होता तो औरों की बात का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रसिक जन भी निरन्तर इस भावुकता का अनुभव प्रिय-दर्शन के अभाव में करते हैं और अपनी भावना में गलकर परम दिव्य रूप के प्रभु का सान्निध्य पा जाते हैं।

राधा वियोग —

जिनकी भृकुटी के विलास को प्यारे मोहन निरंतर देखते रहते हैं और जिनके नाम को रटते रटते वृन्दावन की कुंज गलियों में आकुल होकर विचरते रहते हैं वे राधा भी प्राणनाथ श्याम के बिना परम दुखी हो जाती हैं। अत्यन्त भावुकमना होकर परवर्ती युग का रसिक भी अपनी स्वामिनी राधा प्यारी की अधीरता का वर्णन करता है यथा—

पिया बिनु प्यारी भई अधीर।
[illegible] पावन पग्न म दृगपट-नीर।

राधा की [illegible] अधीरता में बह जाती है और [illegible]—

ब्रज मैं दर्शन [illegible]
वृन्दावन [illegible] विपिन निहारि।

ऐहै सुधि विपुल विहास ब्रज बासन की,
तानन सुनाइ सुधा कानन में भरिहैं ।
'हरिऔध' फेर कबौं अनुकूल ह्वै हैं लाल,
कूल पै कलिंद-तनया के केलि करिहैं ।
हरिहैं हमारो दुख-पुंज गुंजमाल वारे,
कुंज के बिहारी फिर कुंज में बिहारिहैं ।
—रस कलश पृ० २१७

अपने हृदय में इस उत्कंठा को धारण किये हुये प्रिया की प्रतिक्षण प्रिय मिलन के हेतु आकुल रहती है। निरंतर उन्हें यही चिंता बनी रहती है कि कुंजबिहारी अनुकूल होकर कब अपनी रूप माधुरी का पान करायेंगे। जब कभी उन्हें निकुंज विहार के अपार सुख का ध्यान आता है, तो वे चिंताकुल होकर विरह सागर में डूब जाती हैं. कवि चित्रण करता है—

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सो चरित्र गन्यो करैं।
आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।
—हि० सा० इ० पृ० ३३०

चिंता की चिंता से जिसमें कभी विरहाग्नि राधा को व्याकुल कर शरीर को गुलाब देती है। मधुर मिलन की अभिलाषा से वे प्राण भी नहीं त्यागतीं और प्रिय की अनुपस्थिति में प्राण रखें भी तो किसलिए ? कवि चिंताकुल अवस्था का चित्रण करता हुआ लिखता है—

जब तें बिलोक्यो बाल लाल बन-कुंजनि में
तब तें अनंग की रंग उमगति है ।
कहै रत्नाकर न जागति न सोवति है
जागत और सोवत में सोवत-जगति है ।
दूपी दिन रैन कहे बान्ह ध्यान बारिधि में
तोहूँ विरहागिनि की दाह सौं दहति है ।
पूरि परी ए री ईंहि मेह नई मारे पर
जाकी लाग पाइ आग पानी में लगति है ।
—रत्नाकर ग्रं० भा० पृ० २१

प्रिय के संयोग सुख की चिंता करते करते वृषभानु नन्दिनी का शरीर क्षीण हो जाता है सखियों का संग अच्छा नहीं लगता और देखना हँसना सब कुछ बिसर जाता है। उनके हृदय में निरंतर अपने प्रभु का ध्यान बना रहता है। वनमाल की भावना पर तनिक दृष्टिपात कीजिये —

जबहिं नंदनंदन की सुधि होत।
सुमिरत ही हिय पीर उठत है ज्यों जल बूड़त पोत।
नैनन सों नहिं नैन सकें मिलि उमगत अंसुवन सोत।
उड़ि न सकें वनमाल जाल फँसि ए मम प्रान कपोत।

—श्रीहरस वि०व०पृ०८९

स्मरण करते ही प्रिया जी के हृदय में प्रेम की हूक उठने लगती है। वे भूलने का प्रयत्न सा करती हैं किन्तु भूल नहीं पातीं। श्यामसुन्दर के उस अलौकिक रूप ने उन्हें मतवाला बना दिया है। कविवर इस स्थिति को देखकर राधा की भावव्यंजना को प्रकट करते हुये कहते हैं—

पिया बिनु उठत हूक हिय हाय।
साँवरी सूरति मोहनी मूरति मो मन गई समाय।
ज्यों-ज्यों ही बिसरायति त्यों त्यों अधिक अधिक सुधि आय।
सखि कृपानु प्राणाधिक प्रियतम आगहु तजि न सकाय।

—प्र०र०म०पृ०२४९

हृदय की हूक आँसुओं के प्रवाह और निरंतर के स्मरण ने प्रिया जी के धैर्य का दमन कर लिया है। वे प्यारे के बिना उन्मत्त की भाँति वृन्दावन के सुरम्य कुंजों में उन्हें खोजती घूमती हैं। तन मन उनका भी उनके वश में नहीं रह गया है। यद्यपि प्रियतम उपस्थित नहीं हैं तथापि उन्मत्त स्थिति में वे निरंतर उन्हीं से रस वार्ता करती रहती हैं—

पिय बिनु पिय सों तिय बतरात।
भावावेश-समाधि-मगन मन बिहरति तिय दिन रात।
कबहुँक उठि कहु तुम अति निष्ठुर तौ सन कछु न भात।
कबहुँक कहु जियने प्यारे तुम सुन्दर श्यामल गात।
कबहुँक उर लपटाति कहति कछु कबहुँक पुनि रिसियात।
मदन कृपानु समुझि मनिनानि मथि मथि हिय हुलसात।

—प्रे०र०म०पृ०२४७

इस अवस्था में जब वे घिरी हुई श्यामघन घटा पी-पी की रट लगाते हुये पपीहा और प्रकृति के सुरम्य प्रांगण में विरक्त हुए मयूरों को देखती हैं तो वे उनसे कहने लगती हैं—

घहरि घहरि घन सघन चहुँघा घेरि
छहरि छहरि विष बूँद बरसावै ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दाँव एरे
पातकी पपीहा! तू पिया की धुनि गावै ना।
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ एरे
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तो बिन प्रान प्रान चहत तजोई अब
कत नभचंद तू अकास चढ़ि धावै ना।
—द्विजदेव—शृं० मा० पृ० ४२

श्रीकृष्ण के अभाव में प्रत्येक वस्तु दग्ध हुई देता हुआ जान पड़ता है और समस्त प्रकृति उनके विपरीत चेष्टा में रत प्रतीत होती है जिससे उनकी वियोग की वेदना बढ़ती ही रहती है। कवि कहता है—

पिया बिनु प्यारिहिं विरह सताय।
बिरहिनि निशा निशाचरि बनि कै जन रही छिनहिं छिन खाय।
तारे मनहुँ उपै अंगारे नीरज सीत भई भाय।
दक्षिण-पवन अहिमुख-निदय से जनु सब तन विष बगराय।
चंदा सुधाकर मनहुँ दिवाकर किरनारिन बरसाय।
विधि विपरीत वृषभानु कुँअरि सखि गिरी धरणि बिलखाय।
—र० र० पृ० २४२

अपने प्राण-प्रियतम को विरह वियोगिनी को प्रत्येक वस्तु विपरीत में प्रत्यक्ष यह विरह चैन नहीं लेने देता। उनके नेत्र प्रतिक्षण प्यारे के मार्ग की ओर लगे रहते हैं किन्तु फिर भी वे कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। वे व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। उनकी अंतरंग सखियों से यह दुख देखा नहीं जाता वे उन्हें धैर्य बँधाने लगती हैं। किन्तु प्रियतमा राधा पर इसका कोई असर नहीं होता। पश्चात् वे सखियों से कहती हैं—

बताओ सखि! कैसे धरूँ री धीर।
जो राखें उर मम मधु बातें उरन बात गई पीर।
वे अब पल पल घटत न मानो दुगुन गुना की पीर।

जिन अँखियन जल नेकहुँ आवत पिय रह होत अधीर।
तिन अँखियन सों सदा एक रस, बहत रहत अब नीर।
जिनके होत पलक हूँ न्यारे, उठति रही उर पीर।
सुनति कृपालु कहानी उनकी, पै कोउ स्याम शरीर।

—ब्र०र० म० पृ०२९५

रसिकों के द्वारा भिनी हुई यह विरह-व्यंजना श्यामसुन्दर के संयोगाभिलाषी भक्तों के हृदय में तूफान पैदा कर उन्हें अपार रस राशि के समीप जाने के लिये उतावला बना देती है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात निश्चित रूप से मालूम हो जाता है कि इन परवर्ती भक्तों पर भक्तियुग की रस-साधना का पूर्ण प्रभाव विद्यमान है। भावों की व्यंजना, प्रेम की टीस, संयोग का सुख और कुंज-विहार के चरम वर्णन ने निस्सन्देह इस बात को प्रमाणित करते हुए इन कवियों की कला को सार्थक बनाकर जितना सम्मान भक्त हृदयी कवियों का किया है उतना ही इस काव्य के अध्ययन करने वालों का भी। राधा कृष्ण की मधुर लीला के रस का आस्वाद और उसके दर्शन की शाश्वत कामना ने भारतीय संस्कृति में अनुप्राणित कृष्ण भक्ति के काव्य में आत्म दमन तथा आत्मसमर्पण दोनों का ही समावेश कर उपासना के मार्ग को अधिक प्रशस्त किया है। साथ ही प्रेम की मधुर सरिता में वेग भी उत्पन्न किया है। भावुकों को आज भी वृन्दावन की इन पवित्र स्थलों में यमुना के कूल पर पहुँचते ही राधा-माधव के परम रम्य रूप की झाँकी प्राप्त हो जाती है। स्मृतिपटल पर नित्य निकुंजेश्वरी और निकुंजविहारी की छवि का दर्शन करते रहना ही इस रसोपासना की सबसे बड़ी सफलता है। प्रभु का सान्निध्य तभी प्राप्त होता है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

अन्य माधुर्योपासक सम्प्रदाय

वृन्दावन की सुरम्य एवं भक्तिमयी भूमि पर, मोहन-मोहिनी के प्रेम में मतवाले परम त्यागी रसिक संतों से प्रेरणा एवं प्रभाव लेकर कुछ ऐसे संप्रदायों ने भी इस मधुर रस की साधना को अपनाया है, जिनके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। इन संप्रदायों में श्री प्रणामी संप्रदाय तथा सहजिया संप्रदाय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री प्रणामी संप्रदाय—

इस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक श्री देवचन्द्र जी निम्बार्क संप्रदायान्तर्गत माने जाने हरिदासी संप्रदायाचार्य एवं अनन्य रसिक श्री हरिदास जी के अनन्य भक्त एवं शिष्य थे। इन श्री देवचन्द्र जी महाराज के परमप्रिय शिष्य थे स्वामी प्राणनाथ जिन्हें इस संप्रदाय के विकास का श्रेय प्राप्त है। 'धाम' के साधक के रूप में स्वामी प्राणनाथ जी ने सखीभाव से ही उपासना का संदेश दिया है। स्वामी जी [illegible] भक्ति भावों की अभिव्यंजना स्वामी जी करते थे, उसी को लिपिबद्ध कर उनके भक्त उसे अपनी भक्ति का स्रोत मानते थे।

इस संप्रदाय में भी भगवान कृष्ण की लीला को तीन रूपों में देखा गया है, यथा—(१) व्यावहारिकी (२) प्रातिभासिकी तथा (३) वास्तवी। इन रसिकों की दृष्टि में भगवान श्रीकृष्ण की नित्य व्रजलीला को व्यावहारिकी नित्य रासलीला को प्रातिभासिकी तथा नित्य अक्षर-लीला को वास्तवी की श्रेणी में रखा गया है।

श्री [illegible] मतानुयायी [illegible] सूरदास जी का नाम अत्यंत आदर एवं श्रद्धा के साथ लिया जाता है। [illegible] [illegible] उपासना के [illegible] माने जाते हैं। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हाती है।

इस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक श्री देवचन्द्र जी को जो सैद्धान्तिक रीति स्वामी हरिदास जी ने बतलाई थी उसका अत्यंत स्पष्ट शब्दों में इन्होंने उल्लेख किया है। इन पंक्तियों में प्रणामी संप्रदाय की रसोपासना स्वतः प्रमाणित है—

अखंड नित्य वृन्दावन भाख्यो सो हरिदास चित्त में राख्यो।
ताकी चरचा करें प्रेम सों सेवें नित आचार नेम सों।
निज शिक्षा गुरु ओर बताई सो देवचन्द्र चित्त सों लाई।
अपनो सखी भाव करि लीजै पुरुष भाव अपनो तजि दीजै।
श्रीकृष्णचन्द्र जानो गुरु आपन श्यामा निज उपासना थापन।
सखी बिना इत पुरुष न पहुँचे कोटि कष्ट करि जो मन सोचे।
ताते सखी भाव करि लीजै पुनि यह नाम मंत्र रस पीजै।

—मूलचन्द्र जी 'श्रीसर्वेश्वर' वृन्दावनांक पृ० १००

सखी भाव से इस संप्रदाय के अनुयायी भी श्याम-श्यामा के नित्य विहार का निरंतर चिन्तन करते हैं। आवश्यक सामग्री के अभाव में इस संप्रदाय के विवरण को शोध में उपस्थित नहीं किया गया। मेरे देखने में इस संप्रदाय के भक्तों का ब्रजभाषा में रचित साहित्य जो भी मिला वह इतना अपर्याप्त था कि प्रधान स्थल पर उसका उल्लेख नहीं किया जा सका वैसे शोध से पृथक रूप से इसे लेकर पर्याप्त कार्य किया जा सकता है। इस संप्रदाय के प्रधानाचार्य सूरत में विद्यमान हैं।

सहजिया संप्रदाय —

यह संप्रदाय यद्यपि चैतन्य से पूर्व का माना जाता है तथापि महाप्रभु ने इसे अपनी रसोपासना से प्रभावित अवश्य किया। १४ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होने वाले चण्डीदास इसके प्रधान कवि विख्यात हैं। चैतन्य संप्रदाय की भाँति इस संप्रदाय में भी रागानुगा भक्ति के अवलम्ब से साधक इष्टदेव श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस संप्रदाय के भक्तों की मान्यता है कि मानव का निर्माण प्रेम से ही हुआ है और यही प्रेम उसके विकास में भी सहायक होता है। विकास तब होता है जब मानव की वृत्तियाँ सदा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर रहें। उपासना के क्षेत्र में इन साधकों का विश्वास है कि बिना नारी भावना के भक्त अपने भगवान का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकता। इस नारी भावना के पवित्र संसर्ग में साधक के वासनात्मक विकारों का परित्याग हो जाता है। सहजिया संप्रदाय के रचयिता ने अपने ग्रंथ में "रससार" के उद्धरण से इस बात को प्रमाणित किया है—

शुद्ध सत्त्व मानुष एई स्वभाव विनम्रवति ।
स्त्रीमूर्ति आश्रित सार भजन पीरिति ।
आपनारि नारी शिया आपनि सेवारि ।
ताहा ते पुरुषत्व छिया जाति कुल दिया ।
नाम मात्र पुरुषाकार आकार पाइया ।
—रागसार भा० सं पृ० ४८१

इस संप्रदाय की विचारधारा में सैद्धांतिक रूप से राधा कृष्ण युगल को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार कर उन्हें महाभावस्वरूप माना गया है। कवि चंडीदास की रचनाएँ महाभावस्वरूप राधाकृष्ण की विहार-लीलाओं से युक्त हैं। उन्होंने राधा-माधव के संयोग रस में माधुर्य को प्रेम की सर्वोत्कृष्ट कोटि में रखा है।

इस संप्रदाय में लोग वृन्दावन के तीन रूप मानते हैं —

(१) वृन्दावन (२) मन-वृन्दावन (३) नित्य वृन्दावन

साधक, वृन्दावन तथा मन वृन्दावन को पार करके ही नित्य-वृन्दावन में होने वाली युगल रूप की नित्य छवि का ध्यान करता है। यह नित्य वृन्दावन सहजिया साधकों की दृष्टि में वृषभानु नंदिनी तथा वृन्दावनेश्वर की लीला भूमि चम्पकपुर नाम से विख्यात है। राधा-माधव युगल की स्वरूप लीला का यह वैशिष्ट्य इस संप्रदाय के भक्तों के लिये प्राणस्वरूप है। वे इसे क्षणमात्र के लिये भी ओझल नहीं होने देते। नित्य वृन्दावन की यह लीला प्राकृत में वृन्दावन "श्री रूपलीला" के नाम से जानी जाती है। धर्म-कर्म इसी लीला विहार के सुख का अनुभव करता हुआ भक्त उस दिव्य स्वरूप लीला के केन्द्र नित्य वृन्दावन में प्रवेश करता है। इस लीला से माधव युगल कभी एक और कभी दो रूपों में नित्य दृष्टिगोचर होते हैं —

राधा कृष्ण रस प्रेम एकुइ से हय ।
नित्य नित्य स्वंम माझ नित्य विराजय ।

यह रस प्राकृत वृन्दावन में जब प्रकट होता है तो भक्त आप रसिक उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं और उस दिव्य प्रेम की सरसता का अनुभव

---

१ नवनीतचम्पकम्–सहज उपासना तत्त्व [illegible] साहित्यपरिषद् पत्रिका वर्ष ४ सं० १ ।

करते हैं। कुंज में विहार करने वाले व राधा कृष्ण निस्संदेह एक ही हैं जो अपने भक्तों के आस्वाद के हेतु वहाँ रस की वर्षा करते रहते हैं यथा—

सेइ रसेते करे कुंजेते विहार।
सेइ कृष्ण एइ राधा एकुइ अपार।
राधा हइते निराकार रसेर स्वरूप।
अतएव दुइ रूप हय एक रूप।[1]

इस संप्रदाय वालों का कथन है कि भाव के इस परम पावन क्षेत्र में वही पहुँच सकता है, जो प्रेम के रस का आस्वादक होने की निरंतर कामना सर्वस्व त्याग करके भी करता रहता है और अपने आराध्य प्रियतम के सान्निध्य की अनुभूति में विभोर रहता है। इस अनुभूति को प्राप्त करने के हेतु साधक को अनेक प्रकार के नियमों को अपने जीवन में उतारते हुए अपनी दिनचर्या निश्चित करनी पड़ती है। वे कुछ बातें इस प्रकार हैं—

(१) परमात्मा माधुर्य के एकमात्र स्रोत हैं।
(२) यह माधुर्य सार्वभौम है।
(३) श्रीकृष्ण और राधिका ही परम उपास्यदेव हैं।
(४) प्रेम इस भगवान का धर्म है।
(५) स्वरूप ज्ञान से यह प्रेम उत्पन्न होता है।
(६) इसी प्रेम से भगवानमय हो जाना ही साधना की सफलता है।
(७) रूप के संयोग से स्वरूप की प्राप्ति संभव है।
(८) परकीया की साधना में प्रेमासक्ति होना आवश्यक है।
(९) व्यक्ति के अन्दर रहने वाला स्वरूप कृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व है और रूप भौतिक तत्त्व है।
(१०) श्रीकृष्ण का पुरुषत्व तथा राधा का प्रकृतित्व सिद्ध है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर चलने वाले सहजिया वैष्णव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर परमानन्द में तन्मय हो जाते हैं। यह तन्मयता उन्हें इष्ट देव की कृपा स्वरूप प्रदान होने वाली उनकी भक्ति सीमा के दर्शन मात्र में होती है। काम और मदन अथवा रस रति स्वरूप राधा माधव ही इस सीमा

---

१ रतिविलासपद्धतिरा बंग साहित्य परिचय भाग १

विलास के नित्य का है। साधक इन्हीं को जय जय कार करता हुआ प्रतिक्षण रसमय रहने की चेष्टा करता है—

जय-जय सर्वादि वस्तु रस रास काम।
जय जय सर्वश्रेष्ठ रस नित्य धाम।
प्राकृत अप्राकृत आर महा अप्राकृते।
विहार करिछ तुमि निज स्वेच्छा मते।
स्वयं काम नित्य-वस्तु रस-रतिमय।
प्राकृत अप्राकृत आदि तुमि महाशय।
एक वस्तु पुरुष प्रकृतिरूप हइया।
मिलासह बहुरूप धरि दुइ काया।

—तरुणीरमण कृत—सहजउपासना तत्त्व
बंगीय साहित्य परिषद पत्रिका १३१२ खंड ४

सहजिया वैष्णवों की उपर्युक्त संक्षिप्त उपासना-पद्धति से उनकी रस मग्नता के सम्बन्ध में संदेह नहीं रहता। इनकी रचनाओं पर पूर्ण रूप से बंगला का प्रभाव है और वही मात्र इनकी साधना का केन्द्र भी है। ब्रजभाषा में रचनाओं के अभाव के कारण इनके उद्धरण ग्रन्थ के मध्य में प्रस्तुत नहीं किए जा सके। किन्तु भगवत् प्रेम में तन्मय रहने वाले इन सहजिया वैष्णवों की अपनी विशेष महत्ता भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में है।

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

	पुस्तक का नाम	लेखक
१	अष्टादश सिद्धांत	ब्र० तुलसीदास
२	अनुराग पदावली	गीता प्रेस
३	अष्टाचार्यों की वाणी	टट्टी संप्रदाय के अष्टाचार्य
४	अभिलाष-माधुरी	ललितकिशोरी (काव्य)
५	अनुभव रस	हीरासखी
६	अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय	डा० दीनदयालु गुप्त
७	अष्टछाप वार्ता	प्रो० कण्ठमणि शास्त्री
८	अहिर्बुध्न्य संहिता	सं० एम० डी० रामानुजाचार्य
९	अथर्व वेद संहिता	(आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास)
१०	अन्त करण प्रबोध	श्री वल्लभाचार्य जी
११	अष्टकालीन नित्यलीला	सं० नित्यानंद भट्ट
१२	आलोचना	
१३	आइडिया आफ पर्सनालटी	पी० एन० श्रीनिवासाचार्य
१४	आधुनिक साहित्य	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
१५	आचार्य महाप्रभु की प्राकट्य वार्ता	सं० द्वारकादास पुरुषोत्तम दास पारिख
१६	आदि वाणी	प्रो० रामराम जी
१७	इन्ट्रोडक्शन टू दि पंचरात्र ऐण्ड दि अहिर्बुध्न्य संहिता	श्रेडर
१८	उद्धव संदेश	श्री रूप गोस्वामी
१९	उपनिषदांक	सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार गी० प्रे०
२०	उपासना तत्व दीपिका	श्री भगवतराम शर्मा
२१	उज्ज्वल नीलमणि	श्री रूप गोस्वामी

सहायक ग्रन्थ-सूची

पुस्तक का नाम	लेखक
१ अष्टादश सिद्धांत	
२ अनुराग पदावली	प्र० तुलसीदास
३ अष्टाचार्यों की वाणी	गीता प्रेस
४ अभिलाष-माधुरी	टट्टी संप्रदाय के अष्टाचार्य
५ अनुभव रस	ललितकिशोरी (काव्य)
६ अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय	हीरासखी
७ अष्टछाप वार्ता	डा० दीनदयाल गुप्त
८ अहिर्बुध्न्य संहिता	पो० कण्ठमणि शास्त्री
९ अथर्व वेद संहिता	सं० एम० डी० रामानुजाचार्य
१० अष्ट करण प्रदीप	(आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास)
११ अष्टकालीन नित्यसेवा	श्री बलरामाचार्य जी
१२ आलोचना	सं० नित्यानंद भट्ट
१३ आइडिया आफ पर्सनाल्टी	
१४ आधुनिक साहित्य	पी० एम० श्रीनिवासाचार्य
१५ आचार्य महाप्रभु की प्राकट्य वार्ता	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
	सं० द्वारकादास पुरुषोत्तम दास पारिख
१६ आदि वाणी	
१७ इन्ट्रोडक्शन टु दि पंचरात्र ऐण्ड दि अहिर्बुध्न्य संहिता	पो० रामदास जी
१८ उद्धव संदेश	श्रेडर
१९ उपनिषदांक	श्री रूप गोस्वामी
२० उपासना तत्व दीपिका	सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार गी० प्रे०
२१ उज्ज्वल नीलमणि	श्री प्रमदाराम शर्मा
	श्री रूप गोस्वामी

२२ उपनिषदमी

२३ उत्तरी भारत की संत परम्परा — सं० श्री ब्रजवल्लभ शरण

२४ एन इन्ट्रोडक्शन टू दि पोस्ट चैतन्य — परशुराम चतुर्वेदी

२५. सहजिया कल्ट

२६ केलिमाल — मणीन्द्र मोहन बोस

२७ कुम्भनदास पद संग्रह — रसिकाचार्य स्वामी हरिदास

२८ कबीर ग्रंथावली — कुम्भनदास जी

२९ केशव की काव्य कला — संत कबीर दास जी

३० कलेक्टेड वर्क्स आफ सर आर० जी० भाण्डारकर — श्री कृष्णशंकर जी शुक्ल

वाल्यूम ४

३१ कबीर का रहस्यवाद

३२ कबीर — डा० रामकुमार वर्मा

३३ कृष्ण कर्णामृत (रसिक रंजिनी टीका) — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

३४ केलि कुतूहलम् — श्री बिल्वमंगल जी

३५. कृपा कटाक्ष स्तोत्र — प० मथुरा प्रसाद दीक्षित

३६ गोपी प्रेमपीयूष प्रवाह — टी० स्वामी जयराम देवजी

३७ गोविन्द स्वामी पद संग्रह — सं० नवनीत चतुर्वेदी

३८ गोपी प्रेम — अष्टछाप—गोविन्द स्वामी

३९. गुजराती और ब्रजभाषा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

डा० जगदीश गुप्त

४० गोविन्द वैभवम्

४१ गोवर्द्धन भट्ट ग्रंथावली — भट्ट मथुरानाथ शास्त्री

४२ चंपरस षट्पदम् — श्री गोवर्द्धन भट्ट

४३ घेरण्ड संहिता — प्र० कृष्णदास जी

४४ घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा — श्री घेरण्ड योगीश्वर जी

डा० मनोहरलाल गौड़

४५. घनानन्द ग्रंथावली

४६. चतुर्भुजदास पद-संग्रह — श्री घनानन्द जी

४७ चतुःश्लोकी — अष्टछाप—चतुर्भुजदास जी

चैतन्य चन्द्रामृत — श्री वल्लभाचार्य जी

श्री प्रबोधानन्द जी सरस्वती

४९. छीत स्वामी पद-संग्रह	अष्टछाप—छीतस्वामी जी
५० जायसी ग्रन्थावली	सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
५१ दानलीला, मानलीला और मधुर लीला	श्रीललित किशोरी
५२ देव और उनकी कविता	डा० नगेन्द्र
५३ देवी भागवत अंक	कल्याण—गीता प्रेस
५४ दि काल आफ वेदाज	अविनाशचन्द्र बोस
५५ दि एसेंशियल्स आफ इण्डियन फिलासफी	हिरियाना
५६ दि फिलासफी आफ विशिष्टाद्वैत	पी० एन० श्रीनिवासाचारी
५७ दि आइडिया आफ पर्सनालिटी इन-सूफीज्म	श्री रिनाल्ड ए निकल्सन
५८ धर्म रहस्य	स्वामी विवेकानन्द जी
५९ निम्बार्क माधुरी	सं० ब्रह्मचारी बिहारी शरण जी
६० नंददास ग्रन्थावली	सं० ब्रजरत्न दास
६१ *नागरीदास जी की बानी*	भक्त *नागरीदास*
६२ नागर समुच्चय	(कृष्णगढ़ नरेश) नागरीदास जी
६३ नवरत्नम्	श्रीवल्लभाचार्य जी
६४ निकुंज रहस्यस्तवः	श्रीरूपगोस्वामीपाद
६५. नारद पंचरात्र (भारद्वाज संहिता)	डॉ० सरयूप्रसाद मिश्र
६६ नारद पंचरात्र (ब्रह्मसंहिता)	
६७ पंचदशी (पीताम्बरी भाष्य)	मू० ग्र० स्वामी विद्यारण्य
६८ पद्मपुराण	महर्षि व्यास जी
६९. प्रपन्नामृत	श्रीमद् अनन्ताचार्य जी
७० प्रमेय रत्नार्णव	श्रीबालकृष्ण भट्ट
७१ प्रसन्न सुन्दर मंजरी मोदम	श्री सुन्दर भट्टाचार्य
७२ प्रेमदर्शन (नारद भक्तिसूत्र)	देवर्षि नारद जी
७३ प्रेम सम्पुट	श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती
७४ पुष्टि प्रवाह मर्यादा	श्रीमद् वल्लभाचार्य जी

७५ प्रेम योग	वियोगी हरि
७६ प्राचीन वार्ता रहस्य	सं० द्वारकादास पुरुषोत्तमदास पारिख
७७ परमानन्द सागर	अष्टछाप—श्री परमानन्ददास जी
७८ प्रियादास ग्रन्थावली	श्रीप्रियादास जी कृत
७९ प्रेमभक्ति चन्द्रिका	श्रीवृन्दावन दास जी कृत
८० प्रेमघन सर्वस्व (प्र० भा०)	श्रीबदरीनारायण चौ० 'प्रेमघन'
८१ प्रेम रस मदिरा	श्रीकृपानुदास जी
८२ ब्रजभारती	सं० कृष्णदत्त वाजपेयी
८३ बंगीय साहित्य परिषद पत्रिका	बंगीय साहित्य परिषद कलकत्ता
८४ ब्रजविलास स्तव	गोस्वामी रघुनाथ दास जी
८५ ब्रह्मवैवर्त पुराण	महर्षि व्यास जी
८६ विष्णु पुराण	महर्षि व्यास जी
८७ बृहत्स्तोत्र सरित्सागर	वल्लभ संप्रदाय का महत्व ग्रंथ
८८ वेदान्त अंक	कल्याण
८९ वृष भानुजा	श्रीमधुरादास जी
९० विष्णुभक्ति कल्पलता	श्रीपुरुषोत्तम जी
९१ वेदान्त परिभाषा	श्रीधर्मराज दीक्षित कृत
९२ ब्रह्मसूत्र (गोविन्द भाष्य)	श्रीबलदेव विद्याभूषण
९३ ब्रजभक्ति विलास	श्रीलक्ष्मी नारायण भट्ट गोस्वामी
९४ वेदान्तरत्न मंजूषा (दशश्लोकी भाष्य)	मू सं० महर्षि निम्बार्काचार्य
९५ विदग्ध माधवम्	
९६ वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह	श्री रूप गोस्वामी विरचित
९७ वैष्णव धर्म	संकलित श्यामलाल हकीम
९८ विचारधारा	श्रीपरशुराम चतुर्वेदी
९९ विनय पत्रिका	डा० धीरेन्द्र
१०० बयालीस लीला	सं० वियोगी हरि
१०१ ब्रजविहार	महात्मा ध्रुवदास जी
१०२ ब्रजनिधि ग्रन्थावली	श्रीनारायण स्वामि
१०३ बिहार कुसुमावलि	महाराज ब्रजनिधि
१०४ वृन्दावन रस प्रकाश	श्रीवृन्दावन दास जी
	चा० हित वृन्दावन दास

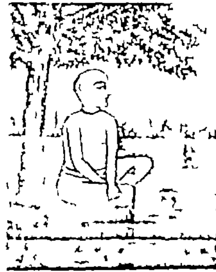
१०५. ब्रज माधुरीसार	वियोगी हरि
१०६ भारतेन्दु ग्रंथावली द्वि० भा०	भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र
१०७. भगवत रसिक जी की बानी	भगवत रसिक
१०८ भक्त कवि व्यास	श्रीहरिराम व्यास
१०९. भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम जी शर्मा डी० लिट्०
११० भारतीय साधना और सूर साहित्य	डा० मुन्शीराम जी शर्मा, डी० लिट्०
१११ भागवत संप्रदाय	श्रीबलदेव उपाध्याय
११२. भारतीय साहित्य शास्त्र	श्रीबलदेव उपाध्याय
११३ भक्ति ग्रन्थमाला	श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती
११४ भक्ति चन्द्रिका	श्रीनागर सिंह जी
११५. भक्ति दर्शन	महर्षि शाण्डिल्य
११६ भक्ति प्रकाश	श्रीकार्ष्णिगोपाल दास
११७ भगवत गीता	व्यास
११८ भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद	देवर्षि रमानाथ शास्त्री
११९. भक्ति रसतरंगिणी	श्रीनारायण भट्टाचार्य
१२० भगवद् भक्ति रसायनम्	श्रीमधुसूदन सरस्वती
१२१ भक्ति दर्शन	स्वामी ज्ञानानंद जी
१२२ भक्ति रत्नावली	श्री विष्णुपुरी गोस्वामी
१२३ भक्त चरितांक	कल्याण—गीता प्रेस
१२४ भक्ति अंक	कल्याण—गीता प्रेस
१२५. भागवतांक	कल्याण—गीता प्रेस
१२६ भक्ति कल्ट इन एंशियेंट इण्डिया	श्री बी० के० गोस्वामी
१२७ माई सर्च आफ्टर ट्रुथ	डा० राधाकृष्णन्
१२८ महाभारत	महर्षि व्यास
१२९ मथुरामाहात्म्य	श्री रूप गोस्वामि
१३० मीरा बृहद पद-संग्रह	ग० पद्मावती शबनम्
१३१ महावाणी	श्रीहरिव्यास देवाचार्य
१३२ माधुर्य लहरी	श्री कृष्णदास जी कृत

१९०	श्रीकृष्ण विरह पत्रिका	श्रीवनमाल जी
१९१	श्रीहित हरिवंश गो० संप्रदाय और साहित्य	श्रीललिता चरण गोस्वामी
१९२	श्रीमद् वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त	श्रीव्रजनाथ शर्मा
१९३	श्री राधा का क्रम विकास	डा० शशिभूषणदास गुप्त
१९४	श्रीमद् भागवत महापुराण	महर्षि वेदव्यास
१९५	श्रीकृष्ण लीलास्तव	श्रीसनातन गोस्वामिपाद
१९६	श्री राधाकृष्ण गणोद्देश दीपिका	श्रीमद्रूपगोस्वामि पाद
१९७	षोडश ग्रंथ	भट्ट रमानाथ
१९८	हरिलीलामृत	श्री बोपदेव प्रणीत
१९९.	हरिभक्ति रसामृत सिन्धु	श्रीमद् रूपगोस्वामि जी
२००	हंस दूतम्	श्रीमद् रूपगोस्वामि जी
२०१	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२०२	हिन्दी साहित्य में विविधवाद	डा० प्रेमनारायण शुक्ल डी० लिट्०
२०३	हिन्दी साहित्य	डा० श्यामसुन्दरदास डी० लिट्०
२०४	हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय	डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
२०५.	हि० सा० का इतिहास	पं० कृष्णशंकर शुक्ल
२०६	हित सुधा-सिन्धु (हित चतुरासी)	गोस्वामी हितहरिवंश
२०७	हरिलीला	श्री व्रजगोपाल जी

श्री हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्य



श्री बिहारिन दास जी
समय वि० सं० १७६१—१६२०
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)



श्री श्यामा ललित किशोर दास जी महाराज
समय वि० सं० १७११—१८ ०
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)



-१ सूरदास २ कुंभनदास ३ परमानंददास ४ कृष्णदास
५ गोविन्ददास ६ छीतस्वामी ७ चतुर्भुजदास ८ नंददास।
(प्रधान संपादक सर्वेश्वर मासिक वृन्दावन के सौजन्य से)



[illegible]न श्री विट्ठलनाथ श्री नागरी दास सखा श्री वृन्दावन [illegible]
(श्री श्री की [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible])



श्री वल्लभाचार्य
([illegible] प्राप्त)



[illegible] महाप्रभु [illegible] प्रधान [illegible] ([illegible])
[illegible] गोस्वामी
([illegible])

श्री हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टाचार्य



श्री स्वामी वीठल विपुल देव जी महाराज
समय वि० सं० १[illegible] —१६[illegible]
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)





श्री वल्लभाचार्य
(श्रीकृष्ण गढ़ में प्राप्त)



भग न मगप्रभु क प्रधान अनयायी म ा अजि (रगाणागना)
म गम्म ममम पद् गास्वामी
(श्री ब्रज वल्लभ पारग बा वड़ा णाग क गायग है)

श्री हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टाचार्य



श्री स्वामी बीठल विपुल देव जी महाराज

समय वि० सं० १२१ — १६१७

(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)





रसिक शिरोमणि स्वामी हरिदास जी

([illegible] भारत कला भवन,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के सौजन्य से)



श्री विष्णु स्वामी

(अखिल भारतीय श्री विष्णु स्वामी महासभा के सौजन्य से)



जगद गुरु श्री निम्बार्काचा

(श्री ब्रजवल्लभ शरण वेदान्ता
सौजन्य से)



ओरछा के
भक्त शिरोमणि—श्री हरीराम व्यास

(दतिया के राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त)



भक्त कवि नागरीदास जी

(श्री विमानी विश्वम्भर शरण जी श्री जी की बड़ी कुञ्ज वृन्दावन के सौजन्य से)



कुञ्ज बिहार के निर्माता—

श्री नारायण स्वामी वृन्दावन

(अध्यक्ष श्री [illegible])



आचार्य श्री रामानन्द जी महाराज

(श्री राम सम्प्रदाय मान्य श्री [illegible] रामानन्दाचार्य पचपीठ के सौजन्य से)

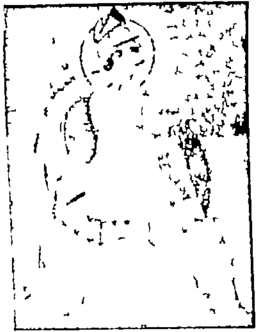


गो० हितहरिवंश

(यह चित्र श्री वृन्दावन धाम स्थित श्री राधावल्लभ जी के प्रधान श्री हित[illegible] लाल जी गोस्वामी की कृपा से प्राप्त किया गया)



गो० श्री हरिराय जी महाराज
(नाथद्वारे से प्राप्त)



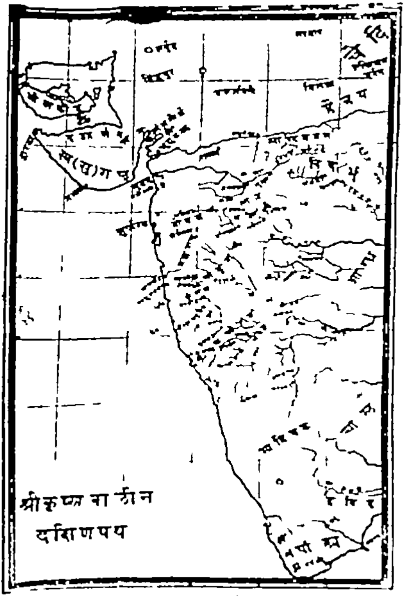
भक्त कवि श्री ब्रजनिधि
(जयपुर नरेश श्री प्रतापसिंह जी देव)
(पं० पुरोहित नारायण जी शर्मा के सौजन्य से)



भक्त प्रवर रसखानि
(गीता प्रेस के सौजन्य से)



श्री निम्बार्क पीठाधीश्वर–
श्री श्रीभट्टदेवाचार्य जी महाराज आदि वाणीकार
(श्री ब्रजवल्लभ शरण जी वेदान्त ... वृन्दावन की कृपा से प्राप्त)



श्रीकृष्णकालीन दक्षिणपथ



(गाना ग्रेत म गोरप ग)



सेवक जी (१५७७-१६१०)
(श्री राधा मोहन दास जी गुप्त के सौजन्य से)